प्रकाशक—
आगरा बुक स्टोर,
रावतपाड़ा, आगरा ।

प्रथम संस्करण

मूल्य आठ रुपये

मुद्रक—
गुलाबचन्द अग्रवाल, बी० कॉम
अग्रवाल प्रेस, आगरा ।

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ

उपोद्घात

हिन्दी-साहित्य-विषयक सर्वप्रथम उपाधि-सापेक्ष प्रबन्ध 'थियॉलॉजी आव् तुलसीदास' है जो १६१८ ई० में ही प्रकाशित हुआ था। उक्त ग्रंथ पर जे० एन० कारपेन्टर महोदय को लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा 'डॉक्टर आव् डिविनिटी' की उपाधि प्रदान की गई थी। उसके बाद के बीस वर्षों में अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी-अनुसंधान का कुछ न कुछ क्रम चलता रहा। उसकी आशातीत प्रगति गत सत्रह-अठारह वर्षों में हुई है। इस अल्पकाल में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों पर योग्य अनुशीलकों द्वारा व्यापक अनुसन्धान कार्य सम्पन्न हुआ। अब तक कुल मिलाकर लगभग सौ अनुसन्धाताओं को हिन्दी में डी० लिट्०, पी-एच० डी० या डी० फिल्० की उपाधि मिल चुकी है। इन उपाधियों के लिए स्वीकृत प्रबन्धों में से लगभग पाँच दर्जन प्रकाशित भी हो चुके हैं।

अब वह समय आ गया है कि हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों का अलग-अलग गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। आधुनिक हिन्दी-कविता (विशेषकर छायावादी काल) में निराशावादी भावनाओं की अभिव्यक्ति कवियों की विशिष्ट प्रवृत्ति का परिणाम है। श्री शम्भुनाथ पाण्डेय ने इस वांछनीय अनुशीलन की अपेक्षित पूर्ति की है। वे बधाई के पात्र हैं।

अनुसन्धान के तीन लक्ष्य हो सकते हैं—अज्ञात सामग्री का ज्ञापन, ज्ञात किन्तु अविवेचित सामग्री का विवेचन अथवा व्याख्यात सामग्री की नवीन परीक्षा। कहीं एक ही दृष्टि अपनाई जा सकती है और कहीं दो या तीनों का समन्वय भी हो सकता है। अनुसन्धान शुद्ध हो या मिश्र उसका तत्त्वाभिनिवेशी और मूल्यवान् होना आवश्यक है। प्रतिपाद्य विषय के लिए उपयोगी समस्त वस्तु की विधिवत् छानबीन करके उसका न्याय-संगत विभाजन, वर्गीकरण और विश्लेषण होना चाहिए।

उपोद्घात

हिन्दी-साहित्य-विषयक सर्वप्रथम उपाधि-सापेक्ष प्रबन्ध 'थियॉलॉजी आव् तुलसीदास' है जो १९१८ ई० में ही प्रकाशित हुआ था। उक्त ग्रंथ पर जे० एन० कारपेन्टर महोदय को लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा 'डॉक्टर आव् डिविनिटी' की उपाधि प्रदान की गई थी। उसके बाद के बीस वर्षों में अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी-अनुसंधान का कुछ न कुछ क्रम चलता रहा। उसकी आशातीत प्रगति गत सत्रह-अठारह वर्षों में हुई है। इस अल्पकाल में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों पर योग्य अनुशीलकों द्वारा व्यापक अनुसन्धान कार्य सम्पन्न हुआ। अब तक कुल मिलाकर लगभग सौ अनुसन्धाताओं को हिन्दी में डी० लिट्०, पी-एच० डी० या डी० फिल्० की उपाधि मिल चुकी है। इन उपाधियों के लिए स्वीकृत प्रबन्धों में से लगभग पाँच दर्जन प्रकाशित भी हो चुके हैं।

अब वह समय आ गया है कि हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों का अलग-अलग गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। आधुनिक हिन्दी-कविता (विशेषकर छायावादी काल) में निराशावादी भावनाओं की अभिव्यक्ति कवियों की विशिष्ट प्रवृत्ति का परिणाम है। श्री शम्भुनाथ पाण्डेय ने इस वांछनीय अनुशीलन की अपेक्षित पूर्ति की है। वे बधाई के पात्र हैं।

अनुसन्धान के तीन लक्ष्य हो सकते हैं—अज्ञात सामग्री का ज्ञापन, ज्ञात किन्तु अविवेचित सामग्री का विवेचन अथवा व्याख्यात सामग्री की नवीन परीक्षा। कहीं एक ही दृष्टि अपनाई जा सकती है और कहीं दो या तीनों का समन्वय भी हो सकता है। अनुसन्धान शुद्ध हो या मिश्र उसका तत्वाभिनिवेशी और मूल्यवान् होना आवश्यक है। प्रतिपाद्य विषय के लिए उपयोगी समस्त वस्तु की विधिवत् छानबीन करके उसका न्याय-संगत विभाजन, वर्गीकरण और विश्लेषण होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे पाण्डेयजी ने निराशावाद जैसे जटिल विषय की सुलझी हुई व्याख्या करके आधुनिक हिन्दी-कविता में उसकी अभिव्यजना के विविध कारणों एव विभिन्न रूपों का अभिनिवेशपूर्वक आलोचनात्मक उपस्थापन किया है। जहाँ निराशावादी प्रवृत्ति स्पष्ट नही है वहाँ उसे बरबस लादने का दुराग्रह नहीं किया गया है। उपलब्ध सामग्री की नूतन दृष्टि से सूक्ष्म परीक्षा करके निष्कर्षों की स्थापना की गई है। अनुसन्धान के अभीष्ट गुणों से युक्त यह प्रबन्ध हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को एक महत्वपूर्ण देन है।

मेरा विश्वास है कि डॉ० पाण्डेय की प्रौढ़ लेखिनी भविष्य में प्रौढ़तर ग्रन्थों की सृष्टि करेगी।

उदयभानु सिंह

हिन्दी-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
ता०—२५-६-५५

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध मे आधुनिक काव्य के विभिन्न युगो और उन युगो की विभिन्न प्रवृत्तियों मे व्याप्त निराशावादी मनोवृत्तियो एवं दु खात्मक अनुभूतियो की समीक्षा की गई है। आधुनिक काव्य का अध्ययन उसे निम्नाङ्कित चार युगों में विभक्त करके किया गया है—

१. भारतेन्दु-युग।
२ द्विवेदी-युग ।
३ छायावादी युग।
४. प्रगतिवादी युग।

प्रत्येक युग का अध्ययन पृथक्-पृथक् निवन्धो मे किया गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध में एकान्विति एवं सूत्रवद्धता लाने के लिए कही-कही पुनरावृत्ति भी करनी पड़ी है। छायावादी काव्य आधुनिक युग का सवसे अधिक सम्पन्न काव्य है। निराशावादी अनुभूतियों की इसी युग में प्रवल एवं प्रचुर अभिव्यक्ति हुई है। अत छायावादी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो में व्याप्त निराशावादी भावनाओ पर स्वतन्त्र निवन्ध लिखे गये हैं।

आधुनिक काव्य की कोई भी प्रवृत्ति सामाजिक वातावरण से निरपेक्ष एवं अप्रभावित नही है। वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस युग-चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति है जो परिस्थितियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के परिणामस्वरूप आशा-निराशा की गहराइयो मे गोते लगाती हुई वर्तमान समय तक अविकल रूप से प्रवाहित होती चली आई है। प्रस्तुत प्रवन्ध मे आधुनिक काव्य की उन्ही प्रवृत्तियो के अध्ययन की चेष्टा की गई है जो निराशावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति से प्रत्यक्षत. या परोक्षत सम्वद्ध हैं। आधुनिक काव्य के विकास और उसके विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों पर अनेक अधिकारपूर्ण और मौलिक प्रवन्ध लिखे जा चुके है। अपनी समीक्षा को निराशावाद तक सीमित रखने के कारण मेरा क्षेत्र उन

सबसे पृथक् है। प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक काव्य की समीक्षा एक विकासशील चेतना के रूप मे की गई है अत उसे निराशावादी अनुभूतियों का ऐतिहासिक अध्ययन भी कहा जा सकता है। निराशावादी भावनाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत समीक्षा को निराशावाद की विभिन्न प्रवृत्तियो पर आधारित न करके युगानुक्रम पर आधारित किया गया है।

पहले अध्याय (भूमिका) में निराशावाद की व्याख्या अँगरेजी के 'पेस्सिमिज्म' के आधार पर की गई है। इस व्याख्या में अँगरेजी के कोष-ग्रथों से सहायता ली गई है। पाश्चात्य वाङ्मय में इस शब्द का प्रयोग दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों में होता है। आधुनिक काव्य में निराशावाद का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त गौण एव व्यावहारिक पक्ष प्रमुख है। इसलिए इस ग्रन्थ मे दूसरे पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। निराशावाद की व्याख्या के साथ-साथ भारतीय दर्शन-परम्परा में निराशावाद की स्थिति पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली गई है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार का कोई अध्ययन प्रस्तुत न होने के कारण मुझे अपने मार्ग का स्वय निर्माण करना पड़ा है।

दूसरे अध्याय में भारतेन्दु-युग के काव्य की समीक्षा की गई है। आधुनिक युग का सूत्रपात, युगारम्भ का मनोवैज्ञानिक आधार, भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय चेतना में सन्निहित निराशावादी तत्व आदि विषयों का अध्ययन मौलिक है। तीसरे अध्याय में द्विवेदी-युग के काव्य की समीक्षा की गई है। इस अध्याय में भारतेन्दु-युग से विकासशील राष्ट्रीय चेतना की समीक्षा युग की सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका में की गई है। सामाजिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना आशावादी चेतना है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों को मिलाकर एक राष्ट्रीयतावादी युग भी माना जा सकता था किन्तु मैंने युगो के नाम वैसे ही रहने दिये हैं जैसे वे आज हिन्दी-साहित्य मे प्रचलित हैं। द्विवेदी-युग के काव्य का अध्ययन मौलिक रूप से किया गया है।

चौथे अध्याय में छायावादी काव्य की समीक्षा की गई है जो प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रमुख लक्ष्य है। छायावादी युग की विभिन्न

प्रवृत्तियो का वर्गीकरण मौलिक रूप से किया गया है। छायावादी प्रवृत्तियो का वर्गीकरण मैंने जिस रूप में किया है उसमें मतभेद हो सकता है क्योकि इस युग में इतनी अधिक प्रवृत्तियाँ, भाव और विचार-धाराएँ हैं एवं उन विचार-धाराओ में भी इतनी अधिक सूक्ष्म अन्तर्धाराएँ हैं कि उनका शास्त्रीय वर्गीकरण उपस्थित करना कठिन है। फिर भी, समीक्षा की सुविधा के लिए मैंने अपना व्यावहारिक वर्गीकरण प्रस्तुत कर दिया है। छायावादी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो पर विद्वान समीक्षको ने महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। छायावादी कवियों ने भी अपनी रचनाओ की भूमिकाओ में अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया है। मैंने दोनो प्रकार की समीक्षाओं से लाभ उठाया है किन्तु मैं उनके विचारो से सर्वथा सहमत नहीं हो सका हूँ। कही-कहीं अपनी असहमति का मैंने उल्लेख भी कर दिया है।

अन्तिम अध्याय मे प्रगतिवादी युग की काव्यधारा की समीक्षा की गई है। इस अध्याय मे छायावादी युग की विभिन्न प्रवृत्तियो में व्याप्त निराशावादी भावनाओ का आशावाद की ओर प्रतिगमन उपस्थित किया गया है जो मौलिक है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी-काव्य के निराशावाद की आद्योपान्त समीक्षा करता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य के निराशावाद पर कोई प्रबन्ध नही लिखा गया अतः इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया गया अध्ययन मौलिक है। आधुनिक काव्य की समीक्षा को अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से आधुनिक प्रबन्ध काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना की समीक्षा ग्रन्थ के परिशिष्ट मे जोड़ दी गई है। परिशिष्ट में कुछ ऐसी प्रबन्धात्मक छोटी-छोटी रचनाओ का उल्लेख भी कर दिया है जिनमें निराशावादी भावनाओ की मार्मिक किन्तु युग-परिस्थितियो से निरपेक्ष अभिव्यक्ति हुई है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग का अध्ययन भी मौलिक है। अस्तु।

विषय-प्रतिपादन—

प्रत्येक युग के काव्य की समीक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व उसमें निहित निराशावादी भावनाओ की सीमा निर्धारित करली गई है। निराशावाद की प्रधानता अथवा गौणता के आधार पर उसे

सबसे पृथक् है। प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक काव्य की समीक्षा एक विकासशील चेतना के रूप में की गई है अत इसे निराशावादी अनुभूतियों का ऐतिहासिक अध्ययन भी कहा जा सकता है। निराशावादी भावनाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत समीक्षा को निराशावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों पर आधारित न करके युगानुक्रम पर आधारित किया गया है।

पहले अध्याय (भूमिका) में निराशावाद की व्याख्या अँगरेजी के 'पेस्सिमिज्म' के आधार पर की गई है। इस व्याख्या मे अँगरेजी के कोष-ग्रथों से सहायता ली गई है। पाश्चात्य वाड्मय में इस शब्द का प्रयोग दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों में होता है। आधुनिक काव्य में निराशावाद का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त गौण एव व्यावहारिक पक्ष प्रमुख है। इसलिए इस ग्रन्थ में दूसरे पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है। निराशावाद की व्याख्या के साथ-साथ भारतीय दर्शन-परम्परा में निराशावाद की स्थिति पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली गई है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार का कोई अध्ययन प्रस्तुत न होने के कारण मुझे अपने मार्ग का स्वय निर्माण करना पड़ा है।

दूसरे अध्याय में भारतेन्दु-युग के काव्य की समीक्षा की गई है। आधुनिक युग का सूत्रपात, युगारम्भ का मनोवैज्ञानिक आधार, भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय चेतना में सन्निहित निराशावादी तत्व आदि विषयों का अध्ययन मौलिक है। तीसरे अध्याय में द्विवेदी-युग के काव्य की समीक्षा की गई है। इस अध्याय में भारतेन्दु-युग से विकासशील राष्ट्रीय चेतना की समीक्षा युग की सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका में की गई है। सामाजिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना आशावादी चेतना है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों को मिलाकर एक राष्ट्रीयतावादी युग भी माना जा सकता था किन्तु मैंने युगो के नाम वैसे ही रहने दिये हैं जैसे वे आज हिन्दी-साहित्य मे प्रचलित हैं। द्विवेदी-युग के काव्य का अध्ययन मौलिक रूप से किया गया है।

चौथे अध्याय मे छायावादी काव्य की समीक्षा की गई है जो प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रमुख लक्ष्य है। छायावादी युग की विभिन्न

प्रवृत्तियों का वर्गीकरण मौलिक रूप से किया गया है। छायावादी प्रवृत्तियो का वर्गीकरण मैंने जिस रूप मे किया है उसमे मतभेद हो सकता है क्योकि इस युग में इतनी अधिक प्रवृत्तियाँ, भाव और विचार-धाराएँ हैं एवं उन विचार-धाराओ में भी इतनी अधिक सूक्ष्म अन्तर्धाराएँ हैं कि उनका शास्त्रीय वर्गीकरण उपस्थित करना कठिन है। फिर भी, समीक्षा की सुविधा के लिए मैंने अपना व्यावहारिक वर्गीकरण प्रस्तुत कर दिया है। छायावादी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियो पर विद्वान समीक्षको ने महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। छायावादी कवियो ने भी अपनी रचनाओ की भूमिकाओं में अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया है। मैंने दोनो प्रकर की समीक्षाओं से लाभ उठाया है किन्तु मै उनके विचारो से सर्वथा सहमत नही हो सका हूँ। कही-कही अपनी असहमति का मैंने उल्लेख भी कर दिया है।

अन्तिम अध्याय में प्रगतिवादी युग की काव्यधारा की समीक्षा की गई है। इस अध्याय में छायावादी युग की विभिन्न प्रवृत्तियो मे व्याप्त निराशावादी भावनाओ का आशावाद की ओर प्रतिगमन उपस्थित किया गया है जो मौलिक है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी-काव्य के निराशावाद की आद्योपान्त समीक्षा करता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य के निराशावाद पर कोई प्रबन्ध नही लिखा गया अत इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया अध्ययन मौलिक है। आधुनिक काव्य की समीक्षा को अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से आधुनिक प्रबन्ध काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना की समीक्षा ग्रन्थ के परिशिष्ट में जोड़ दी गई है। परिशिष्ट में कुछ ऐसी प्रबन्धात्मक छोटी-छोटी रचनाओ का उल्लेख भी कर दिया है जिनमे निराशावादी भावनाओं की मार्मिक किन्तु युग-परिस्थितियो से निरपेक्ष अभिव्यक्ति हुई है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग का अध्ययन भी मौलिक है। अस्तु।

विषय-प्रतिपादन—

प्रत्येक युग के काव्य की समीक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व उसमे निहित निराशावादी भावनाओ की सीमा निर्धारित करली गई है। निराशावाद की प्रधानता अथवा गौणता के आधार पर उसे

निराशावादी या आशावादी कहा गया है। जिस युग में निराशावादी भावनाओं की जितनी प्रखर एव विशद अभिव्यक्ति हुई है, उस युग के काव्य का अध्ययन उतने ही विस्तार के साथ किया गया है। इसी कारण द्विवेदी-युग और प्रगतिवादी युग का अध्ययन कुछ ही पृष्ठो तक परिसीमित है। निराशावाद की सीमा निर्धारित करने के पश्चात् उन सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने आलोच्य युग को निराशावादी या आशावादी बनाया है। तत्पश्चात् प्रत्येक युग के काव्य में व्याप्त निराशावादी अनुभूतियों की समीक्षा की गई है। निराशावाद की समीक्षा करते समय पहले सिद्धान्त-पक्ष उपस्थित किया गया है फिर काव्याशों के उद्धरण के द्वारा उसकी पुष्टि की गई है। प्रत्येक युग की समीक्षा समाप्त करने के पूर्व उस युग की निराशावादी भावनाओं का मूल्याङ्कन भी कर लिया गया है। अस्तु। प्रूफ पढने में भरसक सावधानी रखने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं अत ग्रन्थ के अन्त मे शुद्धि-पत्र दे दिया गया है। जिन ग्रन्थों से उद्धरण लिए गये हैं उनका पूरा विवरण पुस्तक-सूची में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवन्ध श्रद्धेय डॉ० उदयभानु सिंह की देख-रेख मे लिखा गया है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। मैं उन सभी महानुभावो का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहायता देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

वलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।
वसत-पचमी, स० २०११ वि०

शम्भूनाथ पाण्डेय

अध्याय ५ (प्रगतिवादी युग)

परिशिष्ट (प्रबन्ध काव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना)

पुस्तक-सूची

[नोट—प्रस्तुत पुस्तक-सूची में केवल उन्हीं पुस्तकों का अध्यायानुक्रम से विवरण दिया जा रहा है जिनसे उद्धरण लिए गए हैं। प्रबन्ध में रचना-काल दिया गया था यहाँ ग्रन्थों के उस संस्करण का उल्लेख किया गया है जिस संस्करण से उद्धरण लिये गये है। उद्धरणों की पृष्ठ-संख्या आदि के लिए ग्रन्थों का वही सस्करण द्रष्टव्य है जिनका प्रस्तुत पुस्तक-सूची में उल्लेख किया गया है।]

अध्याय १ (भूमिका)

१. कबीर-ग्रंथावली—सपादक श्यामसुन्दरदास बी० ए०—इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग। सन् १६१८ का संस्करण।

२. खैयाम की मधुशाला—बच्चन—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। तृ० सं० १६४६ ई०।

३. दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन—किताब-महल, इलाहाबाद। द्वि० सं० १६४७ ई०।

४. रामचरितमानस—गो० तुलसीदास—गीता प्रेस, गोरखपुर। मूल-गुटका, स० २००२ का सस्करण।

५. विनय-पत्रिका—गो० तुलसीदास—गीता प्रेस, गोरखपुर। सं० २००७ का सस्करण।

६. संक्षिप्त सूरसागर—संपादक बेनीप्रसाद—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। तृ० स० १६३४ ई०।

७. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी। सं० २००२ का संस्करण।

संस्कृत की पुस्तकें

८. ईशावास्योपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० सं०, २००८ वि०।

९. ऐतरेयोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० सं०, २००८ वि०।

१०. तैत्तिरीयोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
११. कठोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
१२. केनोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
१३ प्रश्नोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
१४. माण्डूक्योपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
१५. मुण्डकोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।
१६ श्वेताश्वतरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स०, २००८ वि०।

अँगरेजी की पुस्तकें

१७. इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड १—राधाकृष्णन—एलिन एण्ड इरविन लिमिटेड, न्यूयार्क। द्वि० स० १९३१ ई०।
१८. दी लाइफ ऑफ टॉमस हार्डी, जिल्द २—फ्लोरेंस इमली हार्डी—मेकमिलन एण्ड को० लि० लन्दन। १९३३ ई० का सस्करण।
१९. दी पोइटिकल वर्क्स ऑफ लॉर्ड बायरन—ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन। १९४५ ई० का सस्करण।
२०. दी पोइटिकल वर्क्स ऑफ मेथ्यू आरनोल्ड—सी० बी० टिंकर और एच० एफ० लोरी द्वारा सपादित—ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन। १९५० ई० का सस्करण।
२१ दी प्रेक्टिकल सस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी—वी० एस० आप्टे—गोपालनारायन एण्ड को०, बम्बई। तृ० स० १९२४ ई०।
२२. दी फिलॉसफी ऑफ शोपेनहार, जिल्द ४—इरविंग एडमन—दी मॉडर्न लायब्रेरी, न्यूयार्क। १९२८ ई० का सस्करण।
२३ पोइम्स ऑफ टेनीसन—सपादक टी० हारबर्ट वारिन—ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन। १९४६ ई० का सस्करण।
२४, साधना—रवीन्द्रनाथ टेगोर—मेकमिलन एण्ड को० लिमिटेड, लन्दन। १९४७ ई० का सस्करण।

पत्र-पत्रिकाएँ

१ विश्ववीणा

अध्याय २ (भारतेन्दु-युग)

१. आधुनिक काव्य-धारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल—सरस्वती-मन्दिर, बनारस। द्वितीय सस्करण, स० २००४।

२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी-परिषद्, इलाहाबाद युनीवर्सिटी, इलाहाबाद। संशोधित सं०, सन् १९४८।
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल—हिन्दी-परिषद्, विश्व-विद्यालय प्रयाग। प्र० सं० १९४२ ई०।
४. प्रेमघन-सर्वस्व—(प्रथम भाग)—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। प्रथम संस्करण, सं० १९९६।
५. बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली (प्रथम भाग)—गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता। प्र० सं०, २००७ वि०।
६. भारतेन्दु-ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड)—सं० व्रजरत्नदास—काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी। प्रथम सस्करण, स० १९९१।
७. भारतेन्दु-नाटकावली (प्रथम भाग)—सं० व्रजरत्नदास—रामनारायणलाल बुकसेलर्स और पब्लिशर्स, इलाहाबाद। प्रथम सस्करण, स० १९९२ वि०।
८. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी। इक्कीसवाँ संस्करण, सं० २००२ वि०।
९. मन की लहर—प्रतापनारायण मिश्र—खगविलास प्रेस, बाँकीपुर। परिवर्द्धित संस्करण, सन् १९१४।
१०. राधाकृष्ण ग्रन्थावली—इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद। प्र० सं० १९३० ई०।
११. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। सशोधित संस्करण, सं० २००२ वि०।

अँगरेजी की पुस्तकें

१२. ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया—ईश्वरीप्रसाद और सूबेदार—इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद। प्र० स० १९५१ ई०।

अध्याय ३ (द्विवेदी-युग)

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल—हिन्दी-परिषद्, विश्व-विद्यालय, प्रयाग। प्रथम संस्करण, १९४२ ई०।

१ कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीता रमैया—अनुवादक हरिभाऊ उपाध्याय—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। चौथा सस्करण, १६४६ ई० ।
२. कृषक-क्रन्दन—सनेही—प्रताप-कार्यालय, कानपुर — प्रथम स० १६१६ ई० ।
३ किसान—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगॉव (झॉसी)। २००६ वि० का सस्करण ।
४ जातीय-कविता—नारायणदत्त सहाल एण्ड सस—प्रथम सस्करण, १६२१ ई० ।
५. देवी-सभा—रामचरित उपाध्याय—नाथूराम प्रेमी, वम्वई। प्रथम सस्करण, १६७४ वि० ।
६. पूर्ण-सग्रह—लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी—गगा - पुस्तकमाला - कार्यालय अमीनाबाद पार्क, लखनऊ। प्र० स० १६८२ वि० ।
७. वालमुकुन्द गुप्त-निवन्धावली (प्रथम भाग)—गुप्त स्मारक-प्रकाशन समिति १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता। प्र० स० २००७ वि० ।
८ भारतेन्दु-नाटकावली (प्रथम भाग)—रामनारायणलाल पब्लिशर्स और बुकसेलर्स, इलाहाबाद। प्र० स० १६६२ वि० ।
६ भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगॉव, झॉसी। २१ वॉ सस्करण २००२ वि० ।
०. भारतेन्दु-युग—डा० रामविलास शर्मा—विनोद पुस्तक-मन्दिर, हॉसपीटल रोड, आगरा। द्वि० स०, १६५१ ई० ।
१. भारत-विनय—मिश्रवन्धु—मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति इन्दौर। प्रथम सस्करण, १६१६ ई० ।
२ राष्ट्र-भारती—रामचरित उपाध्याय—प्रताप प्रेस, कानपुर। प्रथम-सस्करण, १६२१ ई० ।
२. मनोविनोद—श्रीधर पाठक—माडर्न प्रेस, इलाहाबाद। प्रथम सस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।
३ राष्ट्रीय-मत्र—त्रिशूल—प० रामशकर अवस्थी—प्रताप प्रेस, कानपुर। प्रथम सस्करण, जनवरी १६२१ ।
१४. राष्ट्रीय वीणा—सम्पादक शिवनारायण मिश्र—नवजीवन प्रेस, कानपुर। प्रथम सस्करण, १६१६ ई० ।
१५. स्वदेश-सगीत—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगॉव, झॉसी। प्र० स०, १६८२ वि० ।

१६. स्वराज्य वीणा—देशभक्त कार्यालय—सिर्सागज, मैनपुरी। प्रथम संस्करण, सन् १६१८।
१७. संचिता—ठाकुर गोपालशरणसिंह—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग। प्रथम संस्करण, १६३६ ई०।
१८. शंकर-सर्वस्व—सपादक हरिकृष्ण शर्मा—गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा। प्रथम संस्करण, स० २००८ वि०।
१६. त्रिशूल-तरंग—त्रिशूल—शिवनारायण मिश्र वैद्य, प्रताप-पुस्तक-माला, कानपुर। प्र० स० प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।

अंग्रेजी की पुस्तक

२०. ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न इण्डिया—ईश्वरीप्रसाद और सुबेदार—इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद। प्र० सं०, १६५१।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. मर्यादा
२. सरस्वती

अध्याय ४ (छायावादी-युग)

१. अंजलि—रामकुमार वर्मा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। प्रथम संस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।
२. अपरा—निराला—प्रयाग-महिला-विद्यापीठ। प्र० स० २००३ वि०।
३. अपराजिता—अचल—छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।
४. अभिशाप—रामकुमार वर्मा—चन्द्रशेखर शास्त्री—ओझा बन्धु आश्रम, इलाहाबाद। प्र० संस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।
५. अर्घ—होमवतीदेवी—किताब महल, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।
६. आँसू—जयशकर 'प्रसाद'—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। आठवाँ संस्करण २००६ वि०।
७. आकुल अन्तर—बच्चन—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद। तृ० सं० १६४६ ई०।
८. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत—हिन्दी - साहित्य - सम्मेलन, प्रयाग। प्र० सं० २००३ वि०।
६. एकान्त-संगीत—बच्चन—सुषमा-निकुंज, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीता रमैया—अनुवादक हरिभाऊ उपाध्याय—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। चौथा सस्करण, १९४६ ई० ।
२ कृषक-क्रन्दन—सनेही—प्रताप-कार्यालय, कानपुर — प्रथम स० १९१६ ई० ।
३. किसान—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) । २००९ वि० का सस्करण ।
४. जातीय-कविता—नारायणदत्त सहाल एण्ड सस—प्रथम सस्करण, १९२१ ई० ।
५. देवी-सभा—रामचरित उपाध्याय—नाथूराम प्रेमी, बम्बई । प्रथम सस्करण, १९७४ वि० ।
६ पूर्ण-सग्रह—लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी—गगा - पुस्तकमाला - कार्यालय अमीनाबाद पार्क, लखनऊ । प्र० स० १९८२ वि० ।
७ बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली (प्रथम भाग)—गुप्त स्मारक-प्रकाशन समिति १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता । प्र० स० २००७ वि० ।
८ भारतेन्दु-नाटकावली (प्रथम भाग)—रामनारायणलाल पब्लिशर्स और बुकसेलर्स, इलाहाबाद । प्र० स० १९९२ वि० ।
९ भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी । २१ वाँ सस्करण २००२ वि० ।
१० भारतेन्दु-युग—डा० रामविलास शर्मा—विनोद पुस्तक-मन्दिर, हॉसपीटल रोड, आगरा । द्वि० स०, १९५१ ई० ।
११. भारत-विनय—मिश्रबन्धु—मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति इन्दौर । प्रथम सस्करण, १९१६ ई० ।
१२ राष्ट्र-भारती—रामचरित उपाध्याय—प्रताप प्रेस, कानपुर । प्रथम-सस्करण, १९२१ ई० ।
१२. मनोविनोद—श्रीधर पाठक—माडर्न प्रेस, इलाहाबाद । प्रथम सस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई ।
१३ राष्ट्रीय-मत्र—त्रिशूल—प० रामशकर अवस्थी—प्रताप प्रेस, कानपुर । प्रथम सस्करण, जनवरी १९२१ ।
१४ राष्ट्रीय वीणा—सम्पादक शिवनारायण मिश्र—नवजीवन प्रेस, कानपुर । प्रथम सस्करण, १९१६ ई० ।
१५. स्वदेश-सगीत—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी । प्र० स०, १९८२ वि० ।

१६. स्वराज्य वीणा—देशभक्त कार्यालय—सिर्सागंज, मैनपुरी। प्रथम संस्करण, सन् १६१८।
१७. संचिता—ठाकुर गोपालशरणसिंह—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग। प्रथम संस्करण, १६३६ ई०।
१८. शंकर-सर्वस्व—सपादक हरिकृष्ण शर्मा—गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा। प्रथम संस्करण, स० २००८ वि०।
१६. त्रिशूल-तरंग—त्रिशूल—शिवनारायण मिश्र वैद्य, प्रताप-पुस्तक-माला, कानपुर। प्र० स० प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।

अंग्रेजी की पुस्तक

२०. ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न इण्डिया—ईश्वरीप्रसाद और सूबेदार—इण्डियन प्रेस लि० इलाहाबाद। प्र० सं०, १६५१।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. मर्यादा
२. सरस्वती

अध्याय ४ (छायावादी-युग)

१. अंजलि—रामकुमार वर्मा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। प्रथम संस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।
२. अपरा—निराला—प्रयाग-महिला-विद्यापीठ। प्र० सं० २००३ वि०।
३. अपराजिता—अंचल—छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग। प्र० स० १६३६ ई०।
४. अभिशाप—रामकुमार वर्मा—चन्द्रशेखर शास्त्री—ओझा बन्धु आश्रम, इलाहाबाद। प्र० संस्करण, प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई।
५. अर्घ—होमवतीदेवी—किताब महल, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।
६. आँसू—जयशंकर 'प्रसाद'—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। आठवाँ संस्करण २००६ वि०।
७. आकुल अन्तर—बच्चन—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद। तृ० सं० १६४६ ई०।
८. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। प्र० सं० २००३ वि०।
६. एकान्त-संगीत—बच्चन—सुषमा-निकुंज, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।

१०. कबीर-ग्रन्थावली—संपादक श्यामसुन्दरदास बी० ए०—इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। सन् १६१८ का संस्करण।
११. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। प्र० सं० १६३७ ई०।
१२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर 'प्रसाद'—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। तृ० सं० २००५ वि०।
१३. खैयाम की मधु शाला—बच्चन—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। तृ० सं० १६४० ई०।
१४. ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पंत—इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।
१५. चन्द्रकिरण—रामकुमार वर्मा—नन्ददुलारे भार्गव, अध्यक्ष गंगा-पुस्तक-माला कार्यालय, लखनऊ। प्र० सं० १६६४ वि०।
१६. चिन्ता—अज्ञेय—सरस्वती प्रेस, बनारस। प्र० सं० १६४१ ई०।
१७ चित्ररेखा—रामकुमार वर्मा—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। द्वि० सं० १६६७ वि०।
१८. झरना—जयशंकर 'प्रसाद'—हिन्दी-ग्रन्थ कार्यालय, बनारस सिटी। प्र० सं० १६७५ वि०।
१६. दीपशिखा—महादेवी वर्मा—किताबिस्तान, इलाहाबाद। प्र० सं० १६४२ ई०।
२०. नाश और निर्माण—गिरिजाकुमार माथुर—महेशानन्द एण्ड सन्स। प्र० सं० १६४६ ई०।
२१ निशा-निमन्त्रण - बच्चन - सुषुमा निकुंज, इलाहाबाद। प्र० सं० १६३६ ई०।
२२ निशीथ—रामकुमार वर्मा—विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला, लाहौर। प्र० सं० १६३३ ई०।
२३ नीहार—महादेवी वर्मा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग। प्र० सं० १६३० ई०।
२४. पथिक—रामनरेश त्रिपाठी—रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग। प्र० सं० १६७७ वि०।
२५ पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। १६३१ ई० का संस्करण।
२६ परिमल—निराला—गंगा-ग्रन्थमाला, लखनऊ। २००६ वि० का संस्करण।
२७ प्रभातफेरी—नरेन्द्र—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। प्र० सं० १६३६ ई०।

२८ प्रवासी के गीत—नरेन्द्र—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग । तृ० स० २००२ वि० ।

२९. प्रारम्भिक रचनाएँ (पहला भाग)—बच्चन—भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद । प्र० स० १९४३ ई० ।

३०. प्रेम-संगीत—भगवतीचरण वर्मा—अयोध्यासिंह, विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता । चतुर्थ सस्करण, १९४९ ई० ।

३१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास — काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी । प्र० स० १९९१ वि० ।

३२. भारतेन्दु-नाटकावली—रामनारायणलाल, पब्लिशर्स और बुकसेलर्स, इलाहाबाद । प्र० सं० १९९२ वि० ।

३३. भैरवी—सोहनलाल द्विवेदी—इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद । प्र० स० १९९२ वि० ।

३४. मधुकण—भगवतीचरण वर्मा—ओझा बन्धु आश्रम, प्रयाग । प्र० सं० १९३२ ई० ।

३५. मधुकलश—बच्चन—सुषुमा-निकुंज, इलाहाबाद । प्र०सं० १९३६ ई० ।

३६. मधुबाला—बच्चन—सेन्ट्रल बुक-डिपो, इलाहाबाद । सप्तम सं० १९५१ ई० ।

३७. यशोधरा—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी । संवत् २०१० का संस्करण ।

३८. यामा—महादेवी वर्मा—किताबिस्तान, इलाहाबाद । द्वि० सं० १९४७ ई० ।

३९. रश्मि—महादेवी वर्मा—साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग । तृ० सं० १९४४ ई० ।

४०. रूपराशि—रामकुमार वर्मा—सरस्वती प्रेस बनारस सिटी, बनारस । प्र० स० १९३३ ई० ।

४१. रूपान्तर—जगन्नाथप्रसाद—साहित्य-मडल, बलरामपुर । प्र० सं० १९३९ ई० ।

४२. रेणुका—दिनकर—पुस्तक-भण्डार, लेहियासराय, पटना । राज-सस्करण, १९३५ ई० ।

४३. लहर—जयशंकर ‘प्रसाद’—भारती-भण्डार, इलाहाबाद । प्रथम संस्करण १९९२ वि० ।

४४. विचार और अनुभूति—नगेन्द्र—प्रदीप कार्यालय । १९४५ ई० का संस्करण ।

४५. विजनवती—इलाचन्द जोशी—ज्ञानपाल सेठिया, अर्चना मन्दिर, बीकानेर। प्र० स० १९३७ ई०।
४६. विपंची—रामनाथलाल 'सुमन'—हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लेहरियासराय, पटना। प्र० स० १९८३ वि०।
४७. विवेचना—इलाचन्द जोशी—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। द्वि० स० २००५ वि०।
४८. वीणा और ग्रन्थि—सुमित्रानन्दन पत—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। द्वि० स० १९४२ ई०।
४९. वेणुकी—श्रीमती तारा पाण्डे—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। प्र० स० १९३९ ई०।
५०. सचिता—ठा० गोपालशरण सिंह—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। प्र० स० १९३९ ई०।
५१. शुक-पिक—श्रीमती तारा पाण्डे—विशाल भारत बुक-डिपो, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता। प्र० स० १९३७ ई०।
५२. हिल्लोल—हिल्लोल—शिवमगलसिंह 'सुमन'—शान्ति-सदन, काशी विश्वविद्यालय, काशी। प्र० स० १९३६ ई०।

सस्कृत की पुस्तकें

५३. ईशावास्योपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स० २००८ वि०।
५४. कठोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स० २००८ वि०।
५५. केनोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स० २००८ वि०।
५६. तैत्तिरीयोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० सं० २००८ वि०।
५७. श्वेताश्वतरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर। तृ० स० २००८ वि०।

अँगरेजी की पुस्तकें

५८. इनडिविजुअल साइकोलोजी—अल्फेड एडलर—पी० रेडिन के द्वारा अनूदित—केगन पॉल, ट्रेन्च, ट्रुबनेर एण्ड को० ब्रोडवे हाउस, इगलैण्ड। १९४६ ई०, का सस्करण।
५९. एनर्जीज ऑफ मैन—विलियम मेकडूगल—मेथ्यून एण्ड को० लिमिटेड, ३६ एसेक्स स्ट्रीट, लन्दन।
६०. ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया—ईश्वरीप्रसाद और सूबेदार—इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद। प्र० स० १९५१ ई०।
६१. परसनेलिटी एण्ड प्रोबलम्स ऑफ एडजस्टमेन्ट—किमबॉल जुंग—एफ० एस० क्राफ्ट्स एण्ड को०, न्यूयॉर्क। १९४७ ई० का सस्करण।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. विशाल-भारत ।
२. साहित्य-सन्देश ।
३. सरस्वती ।
४. सुकवि ।
५ सुधा ।
६ रूपाभ ।

अध्याय ५ (प्रगतिवादी युग)

१. अग्निगान—हरिकृष्ण प्रेमी,—वाणी-मन्दिर, अस्पताल रोड, लाहौर । प्र० सं०, १९४१ ई० ।
२. आकुल अंतर—बच्चन—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद । तीसरा संस्करण, सन् १९४६ ।
३. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत—हिन्दी - साहित्य - सम्मेलन, प्रयाग । तृतीय संस्करण, २००३ वि० ।
४. आहट—बैजनाथप्रसाद सिनहा, 'विस्मृत'—विनोदविहारी सिनहा—शकुन्तला प्रकाशन मन्दिर, गंगा-भवन, आरा । प्र० सं०, १९४१ ई० ।
५. एकान्त संगीत—बच्चन—सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद । चौथा संस्करण, १९४८ ई० ।
६ अंगारा—पुरुषोत्तम 'विजय'—अमर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, इन्दौर । प्र० सं०, १९४१ ई० ।
७. ओस की बूँद—भगवतीप्रसाद वाजपेई—सुखी-जीवन-ग्रन्थमाला दारागंज प्रयाग । प्रकाशन-तिथि नहीं दी गई ।
८. छायापथ—ज्वालाराम नागर 'विलक्षण'—गुप्त ब्रदर्स, बनारस सिटी । प्रथम संस्करण १९३७ ई० ।
९. ठहर तो नानी !! (पहली पकड़)—जगन्नारायण शर्मा 'कवि-पुष्कर' गुप्त ब्रादर्स, बनारस सिटी । प्र० सं० सवत् १९९३ वि० ।
१२. नाश और निर्माण—गिरिजाकुमार माथुर—महेशानन्द एण्ड संस, लखनऊ । प्र० सं० १९४६ ई० ।
१३. युगवाणी—सुमित्रानन्दन पंत—भारती - भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद । द्वि० सं० २००१ वि० ।

१४. राष्ट्रीय-मत्र—त्रिशूल—प० रामशकर अवस्थी—जनवरी, १६२१ ।
१५. सतरगिनी—बच्चन—भारती-भण्डार, प्रथम सस्करण, १६४५ ई० ।
१६ सुमना—ठा० गोपालशरणसिंह—इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग । प्र० स० १६४१ ई० ।
१७. हिल्लोल—शिवमगलसिंह 'सुमन'—शान्ति-सदन, काशी-विश्व-विद्यालय । प्रथम संस्करण १६६६ वि० ।
१८. राष्ट्र-भारती—रामचरित उपाध्याय—प्रताप प्रेस, कानपुर । प्र० स०, १६२१ ई० ।
१६. राष्ट्रीय-मत्र-त्रिशूल—रमाशकर अवस्थी—प्रताप प्रेस, कानपुर । प्र० स०, १६२१ ई० ।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. सरस्वती ।
२. साहित्य-सन्देश ।
३ सुकवि ।
४. सुधा ।

परिशिष्ट

(आधुनिक प्रबन्ध काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना)

१ ईशावास्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर । तृ० स० २००८ वि० ।
२. कामायनी—जयशकर 'प्रसाद'—भारती - भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद । प्र० सं० १६३६ ई० ।
३. कुरुक्षेत्र—रामधारीसिंह 'दिनकर'—उदयाचल, पटना । प्र० स० १६५३ ई० ।
४. ज्योत्स्ना—सुमित्रानन्दन पत—गगा-ग्रन्थागार, लखनऊ । तृ० स० २००३ वि०
५ प्रियप्रवास—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस । परिवर्द्धित सस्करण, १६६८ वि० ।
६ लहर—जयशकर 'प्रसाद'—भारती-भण्डार, इलाहाबाद । प्र० सं० १६६२ वि० ।
७. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त—साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी । स० २००७ का सस्करण ।
८. श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर । स० २००६ का सस्करण ।

अध्याय १

(भूमिका)

(ग) अचेतन मन की अन्ध प्रेरणा से उसकी गति-विधि नियोजित होती है।

(क) जीवन का सचालन क्रूर शक्ति की दया पर निर्भर—

१६ वीं शती के उत्तरार्ध में फारस के कवि उमर खैयाम की कुछ चुनी हुई रुबाइयों के आधार पर फिट्‌जजेरल्ड ने घोषणा की कि मानव-जीवन विवश और निरुपाय है। वह क्रूर नियति की इच्छा पर निर्भर है। उस क्रूर नियति ने हमें अपने जीवन के मार्ग को खोजने के लिए एक अन्धी मति के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया।[1] निर्मम भाग्य मानव-जीवन को शतरज के मुहरे-सा बनाकर खेला करता है, जब चाहा और जैसे चाहा वैसे खेला और विनोद पूरा होने पर सबको समेट के रख दिया।[2] नियति क्रीड़ा-कन्दुक के समान हमारे जीवन को इधर-उधर ठुकराया करती है।[3] उसकी लौह-लेखनी के द्वारा लिखा हुआ एक अक्षर भी हमारी समस्त प्रार्थनाएँ नही मिटा सकती।[4] कितना अच्छा होता यदि नियति का शासन मानव के हाथ में क्षण भर के लिए आजाता और वह उसके सम्पूर्ण दुःखद

1. Then to the rolling Heav'n itself I cried,
Asking, "What Lamp had Destiny to guide
Her little Children stumbling in the dark ?"
And—"A blind Understanding !" Heav'n replied
Rubaiyyat Omar Khayyam, 33
Quoted from Khayyam-ki-Madhushala

2 'Tis all a Chequer-board of Nights and Days
Where Destiny with Men for Pieces plays
Hither and thither moves, and mates, and slays,
And one by one back in the Closet lays.
Rubaiyyat Umar Khayyam, 49
Quoted from Khayyam-ki-Madhushala.

3 THE Ball no Question makes of Ayes and Noes,
But Right or Left, as strikes the Player goes ,
And He that toss'd Thee down into the Field,
He knows about it all—HE knows—HE knows !
Rubaiyyat Omar Khayyam, 50
Quoted from Khayyam-ki-Madhushala.

4. THE Moving Finger writes , and, having writ,
Moves on nor all thy Piety nor Wit
Shall lure it back to cancel half a line,
Nor all thy Tears wash out a Word of it
Rubaiyyat Omar Khayyam, 51
Quoted from Khayyam-ki-Madhushala

विधान को उलट देता ।[1] इस प्रकार के अनेक तर्कों के आधार पर फिट्जजेरेल्ड ने जीवन को दुःखपूर्ण सिद्ध किया था। नियतिवादी विचारों से हिन्दी के कवि भी प्रभावित हैं जिसका उल्लेख चौथे अध्याय मे किया जायगा। फिट्जेरेल्ड के विचारो ने यूरोप की विचारधारा को इतना अधिक प्रभावित किया कि उसकी छोटी-सी पुस्तक की जितनी प्रतियाँ प्रकाशित हुईं उतनी प्रतियाँ कदाचित् आधुनिक युग में किसी अन्य पुस्तक की प्रकाशित न हुई होगी।

(ख) जीवन का एक अन्धी तृष्णा के द्वारा संचालन—

जीवन स्वभावत. दुःखपूर्ण हैं क्योंकि उसका संचालन किसी उद्देश्यपूर्ण चेतन सत्ता के द्वारा न होकर एक ऐसी तृष्णा अथवा उत्तेजना के द्वारा होता है जो विवेकशून्य है। इस मत का प्रतिपादन जर्मन दार्शनिक शोपेनहार (१७७०-१८३१ ई०) ने प्रबल तर्कों के आधार पर किया था। शोपेनहार का दर्शन तृष्णा के इर्द-गिर्द घूमता है। उसका विश्वास है कि चट्टान से लेकर मनुष्य तक मे एक ही तृष्णा भिन्न-भिन्न रूपो में अभिव्यक्त होती है। मनुष्य में यह एक ऐसी उत्तेजना के रूप मे प्रकट होती है, जो जीवन भर अनेक इच्छाएँ उत्पन्न किया करती है। "मनुष्य अन्य प्राणियों से अधिक असंतुष्ट और दुखी रहता है क्योकि वह जीवन भर अपने मन में नाना प्रकार की इच्छाएँ किया करता है।"[2]

तृष्णा के द्वारा परिचालित होने के कारण मानव-जीवन सदैव दुःखपूर्ण रहता है। छोटी-मोटी दैनिक दुर्घटनाओ के अतिरिक्त "कभी न तृप्त होने वाली इच्छाएँ, असफल प्रयत्न भाग्य द्वारा निर्ममता पूर्वक कुचली गईं आशाएँ, जीवन भर की दुर्भाग्यपूर्ण भूलें और इन सबके

1, Ah Love ! could thou and I with Fate conspire
To grasp this sorry Scheme of Things entire,
Would not we shatter it to bits--and then
Re-mould it nearer to the Heart's Desire !

Rubaiyyat Omar Khayyam, 73.

Quoted from Khayyam-ki-Madhushala.

2. "The most necessitous of all beings: he is through and through concrete willing and needing; he is a concretion of a thousand necessities"

Philosophy of Schopenhauer, Bk. V, p. 2351.

साथ बढ़ने वाली व्यथा-वेदनाएँ और मृत्यु ऐसी घटनाएँ है जो जीवन को बिना दु:खद बनाए नहीं रहती।"[1]

शोपेन्हार जीवन में आनन्द की भावात्मक अनुभूति को स्वीकार नही करता। उसके विचार से जीवन मे जिसे सुखानुभूति कहा जाता है वह दु:ख की क्षणिक निवृत्ति है। हमारी कोई इच्छा जब पूर्ण होती है तब उससे सम्बद्ध वेदनात्मक अनुभूति भी शान्त हो जाती है। किन्तु एक इच्छा पूर्ण होने के पश्चात् अन्य अनेक इच्छाओ को जन्म दे जाती है इसलिए मनुष्य का वेदनाओं से छुटकारा नही हो पाता। यह तृष्णा कालातीत, देशातीत, मूल तत्व और कारणविहीन क्रिया है। यह तृष्णा ही मनुष्य की आत्मा है और उसका शरीर भी उसी की अभिव्यक्ति है। होने की तृष्णा और जीने की तृष्णा, यही ससार के सारे संघर्षों दु:ख और बुराइयों की जड़ है। तृष्णा स्वभाव से बुरी है, उसे कभी तृप्त नही किया जा सकता। निरन्तर युद्ध और सघर्ष की यह दुनिया अच्छी नही बुरी दुनिया है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की बने रहने की अन्धी तृष्णाएँ परस्पर संघर्ष किया करती हैं। यह दुनियाँ, जिसमे छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों द्वारा खाई जाती हैं, जितना सम्भव हो सकता है उतनी ही बुरी है। जीवन अन्धी चाह के अतिरिक्त और कुछ नही है।[2] इस प्रकार के अनेक तर्कों के आधार पर शोपेन्हार ने जीवन और जगत् का निषेध किया था।

शोपेन्हार के इस तृष्णावाद को पाश्चात्य दर्शन में निराशावाद कहा गया है। हम उसके विचारो का प्रभाव इटली के कवि लेओपार्दी और इङ्गलैंड के अनेक कवियों पर पाते हैं। उदाहरणत 'यूथासिया' शीर्षक कविता में बाइरन (१७८८-१८२४ ई०) लिखता है कि मनुष्य "यदि आनन्दपूर्ण क्षणो की गणना करने के साथ-साथ दु:ख और वेदना से विमुक्त दिनो की भी गणना करे तो वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि यदि संसार में उसका अस्तित्व ही न होता

1 'But the never satisfied wishes, the frustrated efforts, the hopes mercifully crushed by fate, the unfortunate errors of the whole life with increasing suffering and death at the end are always a tragedy"

Philosophy of Schopenhauer, Bk IV, p 261

2. देखिए 'दर्शन-दिग्दर्शन', पृ० ३४१, ३४२।

तो अधिक अच्छा था।" [1] इसी प्रकार 'चाइल्ड हैरल्ड्स पिल्ग्रिमेज' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में जीवन मे दुःख की प्रधानता सिद्ध करता हुआ कवि लिखता है—"हमारा जीवन स्वभाव से भ्रमपूर्ण है। उसका अपनी परिस्थितियो से कोई साम्य नही। जीवन पाप का एक अमिट धब्बा है। रोग-मृत्यु और बन्धन से उत्पन्न दुःखो को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु उनसे भी अधिक बुरे वे दुःख हैं जो हमारे हृदय को प्रतिक्षण व्यथित करते रहते हैं किन्तु जिन्हे हम प्रकट नहीं कर सकते। असाध्य रोग से पीड़ित हमारी आत्मा सदैव नवीन-नवीन वेदनाओं से छटपटाया करती है।" [2]

(ग) अचेतन मन के द्वारा जीवन की गति-विधि का संचालन—

यह जीवन निकृष्ट है क्योंकि उसकी गति-विधि का संचालन हमारे विवेकपूर्ण मन के द्वारा न होकर एक ऐसी शक्ति के द्वारा होता है जो अचेतन है अतः विवेकशून्य है। इस विचार का प्रतिपादन जर्मनी के एक दूसरे दार्शनिक ई० वी० हर्टमन ने किया था। शोपेन्हार और हर्टमन के निराशावादी विचारो मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शोपेन्हार जहाँ जीवन का संचालन तृष्णा के द्वारा मानता है हर्टमन उसी को अचेतन मन कहता है। 'अचेतन मन का दर्शन' [3] शीर्षक पुस्तक मे उसने अपने विचारों को एक व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया है।

१६ वीं शताब्दी में दार्शनिक रूप से जीवन और जगत् को इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर दुःखपूर्ण सिद्ध किया गया है और जीवन

YUTHANASIA

1. Count o'er the joys thine hours have seen,
Count o'er the days from anguish free,
And know, whatever thou hast been,
'Tis something better not to be.

p 64, The Poetical Works of Lord Byron.

CHILDE HAROLD'S PILGRIMAGE

2 Our life is a false nature: 'tis not in
The harmony of things —this hard decree,
This uneradicable taint of sin,
Disease, death, bondage—all the woes we see,
And worse, the woes we see not—which throb through
The immedicable soul, with heart—aches ever new.

p. 244, The Poetrical Works of Lord Byron.

3 Philosophy of Unconscious.

को दु खपूर्ण एव जगत् को बुरा बतलाने वाले विचारो को निराशावादी कहा गया है। जीवन को शाश्वतरूप से दु खपूर्ण मानने वाले विचारों के अतिरिक्त वे विचार भी निराशावादी कहलाए हैं जिनमें केवल वर्तमान जीवन को दु खमय माना गया है। अथवा भविष्य में जीवन के और अधिक दुखी बन जाने की सम्भावना प्रकट की गई है। जहाँ पर वर्तमान अथवा भविष्य के विषय में चिन्ता और निराशा प्रकट की गई है, वहाँ तत्कालीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भी हुई है। अशान्ति, चिन्ता और निराशा उत्पन्न करने वाली परिस्थितियो में (क) धर्म-सकट, (ख) भौतिकवादी मनोवृत्ति की अभिवृद्धि और (ग) पूँजीवादी समाज व्यवस्था प्रमुख थी।

(क) धर्म-संकट—

१८ वीं और १६ वीं शती के वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने यूरोप की जनता के सम्मुख धर्म-सकट उपस्थित कर दिया था। वैज्ञानिक सिद्धान्त बाइबिल में उल्लिखित बहुत-सीं बातों को मिथ्या सिद्ध करने लगे थे। शताब्दियों के धार्मिक विश्वास और श्रद्धा जनता के हृदय से लुप्त होने लगी थी। ईसाई धर्म के प्रेमियो के लिए धर्म में अश्रद्धा महान् सकट और दु ख का विषय था।

(ख) भौतिकवादी मनोवृत्ति की अभिवृद्धि—

१८ वी शती की व्यवसायिक क्रान्ति ने यूरोप के दृष्टिकोण में एक महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। १८ वी और १६ वीं शताब्दियों में यूरोप उद्योग-धन्धो में आशातीत उन्नति कर रहा था। विभिन्न राष्ट्र उपनिवेश स्थापित करने में स्पर्धापूर्वक आगे बढ़ रहे थे। लोगों के जीवन का उद्देश्य अच्छे या बुरे साधनो के द्वारा अधिक से अधिक धन कमाना बन गया था। ऐश्वर्य प्राप्त करने की तीव्र लालसा और महत्वाकांक्षा नैतिक मूल्यों को पैरो-तले कुचल रही थी। लोगों में भौतिकवादी मनोवृत्ति बढ़ रही थी फलत आध्यात्मिक विश्वासों की अवहेलना होने लगी थी। यूरोप के मनीषी इस परिवर्तन पर चिन्तित थे। उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति का विनाश निकट भविष्य में दिखलाई पड़ रहा था।

(ग) पूँजीवादी समाज-व्यवस्था—

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करने के परिणाम स्वरूप यूरोप की समाज-व्यवस्था में एक क्रान्ति उपस्थित हो गई थी। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था नष्ट हो रही थी और एक जनतान्त्रिक समाज जन्म ले रहा था। किन्तु इस नवीन व्यवस्था में समानता और भाई चारे की भावनाओ का अभाव था जो जनतान्त्रिक समाज व्यवस्था का आधार है। कारण, जनतन्त्रवाद केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही स्थापित हुआ था। आर्थिक व्यवस्था पूँजीवादी ही थी। समाज में पूँजीवादी व्यवस्था होने के कारण बड़े-बड़े व्यवसाई और सामान्य जनता के जीवन के स्तरों में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक ओर सुरलोक की विलास-सामग्री सुलभ थी तो दूसरी ओर जीवन की दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ भी दुर्लभ थी। सामाजिक जीवन मे जव कभी इस प्रकार का व्यवधान उपस्थित होता है, उसका परिणाम केवल निराशा और क्षोभ ही हो सकता है। अस्तु। उपर्युक्त प्रकार की अनेक परिस्थितियो ने १९ वीं शती के यूरोप के जीवन में निराशा और विषाद को उद्दीप्त कर दिया था। कुछ विचारकों ने अपने अध:पतन का कारण धर्म की ग्लानि माना और कुछ ने भौतिकवादी मनोवृत्ति की अभिवृद्धि। किसी ने वर्तमान जीवन को व्यर्थ माना तो किसी ने भविष्य को संकटपूर्ण वतलाया।

(२) केवल वर्तमान अथवा भविष्य के प्रति निराशावादी विचार—

अनेक विचारको और कवियो ने अपने वर्तमान अथवा भविष्य को दु:खपूर्ण सिद्ध किया है। दु ख का कारण धार्मिक-विश्वासों में अश्रद्धा और सभ्यता-संस्कृति के अध.पतन को वतलाया है। एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे। मैथ्यू आरनोल्ड अपनी 'डोवर वीच' (१८६७ ई०) शीर्षक कविता में लिखता है कि "श्रद्धा और विश्वास का समुद्र जो एक समय सम्पूर्ण विश्व को घेरे हुए था आज सूख चुका है। अव केवल अवसाद शेष रह गया है। यह जगत् जो किसी समय स्वप्नों के संसार की भाँति नवीन, सुन्दर और विचित्र प्रतीत होता था आज अपना सम्पूर्ण आकर्षण समाप्त कर चुका है। वस्तुत: उसमें कोई उल्लास, प्रेम और प्रकाश शेष नहीं रह गया। आज के संसार में निश्चय, शान्ति और दु:खों में सहायता का अन्त हो चुका है। और

हम सब एक अन्धकारपूर्ण जगत् में खड़े हुए हैं।"[1] आरनोल्ड की कविता मे धर्म-सकट की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार टेनीसन अपनी 'इन्मेमोरिम' शीर्षक प्रसिद्ध कविता मे एक स्थान पर लिखता है—"मेरे पैर आज उस मार्ग में लड़खड़ा रहे हैं जहाँ मैं किसी समय दृढ़तापूर्वक चला करता था। मैं अपनी चिन्ताओं के भार से (अनेक भ्रमों के कारण) इस अन्धकारपूर्ण जगत् में ईश्वर की ओर बढ़ता हूँ किन्तु फिसल जाता हूँ। श्रद्धा और विश्वास के दुर्बल हाथों को मैं इधर-उधर फैलाता हूँ, मार्ग टटोलता हूँ किन्तु धूल और भूसी (निकृष्ट कल्पनाओं) के अतिरिक्त कुछ हाथ नही आता। (मार्ग प्रदर्शित करने के लिए) मै उस ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ जिसे मैं प्रभु समझता हूँ और उसकी प्राप्ति की केवल एक क्षीण और दुर्बल आशा अपने हृदय मे बचाए रखता हूँ।"[2]

धार्मिक विश्वासों की भाँति यूरोपिय मनीषियो को अपनी सभ्यता और संस्कृति के अध पतन एवं विनाश की भी सम्भावनाएँ प्रतीत होने लगीं थी। अपने जन्म-दिवस की बधाई के प्रत्युत्तर में टामस

DOVER BEACH

1 The Sea of Faith
Was once too, at the full, and round earth's shore
Lay like the folds of a bright girdle furl'd
But now I cnly hear
Its melancholy, long, withdrawing roar,
Retreating to the breath
Of the night-wind, down the vast edges drear
And naked shingles of the world
Ah, love, let us be true
To one another, for the world, which seems
To lie before us like a land of dreams,
So various, so beautiful, so new,
Hath really neither joy, nor love, nor light

p 911 The Poetical Works of Matthew Arnold.

IN MEMORIAM

2 I falter where I firmly trod,
And falling with my weight of cares
Upon the great, world's altar stairs
That slope thro' darkness up to God
I stretch lame hands of faith, and grope,
And gather dust and chaff, and call
To what I feel is Lord of all,
And faintly trust the larger hope

p 392, Poems of Tennyson

हार्डी ने एक महिला को लिखा है—"मैं अपने जन्म दिवसों पर तभी प्रसन्न हो सकता हूँ जब मैं देखूँ कि मेरे प्रत्येक जन्म-दिवस के साथ संसार भी उन्नति कर रहा है। कुछ दिन पहले मेरा ऐसा ही विश्वास था किन्तु आज मुझे यह भय उत्पन्न हो गया है, जैसा मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, कि आज का समाज दिन-प्रति-दिन बुरा होता जा रहा है। आज हमारी जो कुछ भी उन्नति हो रही है वह केवल भौतिक है। हमारी विज्ञान की जानकारी का उद्देश्य केवल लौकिक सुखों की समृद्धि और दुःखो का विनाश बन गया है। मैं विश्वास करने लगा हूँ कि (आज से शताब्दियों पूर्व) रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले लोग हमसे कहीं अधिक सभ्य थे। उनका व्यवहार अपने दूसरे साथियो एवं पशुओ के प्रति इतनी क्रूरतापूर्ण नहीं था। अतएव क्यों न आज ईसाई धर्म को अपनी पराजय स्वीकार करके किसी अन्य धर्म को अपना स्थान ग्रहण करलेने देना चाहिए।'[1] इस प्रकार के विचार १६ वीं शती के अनेक विचारको मे मिलते है, और अँगरेजी-साहित्य में उन्हें निराशावादी कहा गया है।

यूरोप के रोमान्टिक कवियो ने जीवन के प्रति निषेधात्मक भावनाओं को अनेक रूपों में व्यक्त किया है जिनमें से दो प्रमुख प्रवृत्तियो की ओर संकेत कर देना अपेक्षित है। एक प्रवृत्ति है—कवियों की भावुक आत्मा और वाह्य परिस्थितियो से संघर्ष तथा उस संघर्ष मे कवियो के कोमल हृदय की पराजय। यह संघर्ष और पराजय भी अनेक रूप लिए हुए है, जैसे कवि का हृदय कभी उन आदर्शों की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है जिन्हे वह प्राप्त नहीं कर सकता तो कहीं अपने हृदय की भावुकता और भौतिक जगत् की कुरूपता मे उसे संघर्ष

1. "I should care more for my birthdays if at each succeeding one I could see any sign of real improvement in the world—as at one time I fondly hoped there was—but I fear that what appears much more evident is that it is getting worse and worse All development is of a material and scientific kind--and scarcely any addition to our knowledge is applied to objects philanthropic and ameliorative I almost think that people were less pitiless towards their fellow-creatures—human and animal—under the Roman Empire than they are now; so why does not Christianity throw up the sponge and say, I am beaten, and let another religion take its place?"

p. 192, The Life of Thomas Hardy, Vol. II.

दिखलाई पड़ रहा है। परिस्थितियों से संघर्ष करने में जब वह पराजित हो जाता है तो उसकी निराशा एक भावुकता पूर्ण उदासीनता का रूप धारण कर लेती है। बाइरन की अनेक कविताओं में हम इस प्रवृत्ति को खोज सकते हैं।

निराशावाद की दूसरी प्रवृत्ति में भाग्य की विडम्बना पर विशेष बल दिया गया है और दु खी रहने मे ही एक प्रकार के गौरव का अनुभव किया गया है। इस भाग्यवाद के साथ-साथ कहीं-कहीं सन्देह की भावना को भी जोड़ दिया गया है। कवि को न धर्म में विश्वास रह गया है, न समाज की सहानुभूति में; यहाँ तक कि वह अपने जीवन की अच्छाइयों में भी विश्वास खो चुका है। यह प्रवृत्ति ए० ई० हाउसमन, टामस हार्डी, जेम्स टामस, आर० एल० स्टीवेंसन प्रभृत्ति कवियों और उपन्यासकारों में प्रचुरता से मिल सकती है। इस प्रकार के विचारों और भावो के अतिरिक्त दु खात्मक भावनाओं, जैसे विषाद, अवसाद, उदासीनता, आत्म-ग्लानि आदि को भी निराशावाद के अर्थ-क्षेत्र में सन्निहित किया गया है। इसी प्रकार लोक-व्यवहार में निराशावाद का प्रयोग परिस्थितियों के प्रति पराजित मनोवृत्ति और वस्तुओं के केवल दोष-दर्शन की प्रवृत्ति के लिए भी किया जाता है। हमने प्रस्तुत प्रवन्ध में निराशावाद शब्द का प्रयोग सभी अर्थों में किया है।

निराशात्मक दार्शनिक विचारों, दु खात्मक अनुभूतियों, परिस्थितियों के प्रति पराजित मनोवृत्ति और वस्तु के दोष-दर्शन की प्रवृत्ति के निराशावाद के अर्थ-विस्तार में स्वीकृत करके हमने आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद के अनुशीलन की चेष्टा की है। निराशा और विषाद निराशावाद के स्थायी भाव माने गए हैं अर्थात् निराशात्मक विचारों की अभिव्यक्ति से यदि कवि के हृदय की निराशा और विषाद आदि दु खात्मक अनुभूतियों की स्थायी व्यंजना होती है तो उसको निराशावादी माना गया है अन्यथा नही। इसी प्रकार यदि कोई रचना पाठक के हृदय पर दु खात्मक प्रभाव डालती है तभी वह निराशावादी मानी गई है। कौन रचना किस परिमाण में निराशावादी है इसका निर्णय भी या तो कवि की मनोवृत्ति के आधार पर किया गया है या फिर उसके प्रभाव की तीव्रता पर।

निषेधात्मक रूप से यदि निराशावाद की व्याख्या की जाय तो यह स्वीकार किया जायगा कि यदि किसी रचना की पृष्ठभूमि में कवि की आशा और उल्लास सन्निहित है तो उसे निराशावादी नहीं माना जाना चाहिए अथवा जो कविता पाठकों के हृदय मे आशा और उत्साह का संचार करने वाली है उसे भी निराशावादी नहीं कहा जा सकता। इसी बात को यदि काव्य-शास्त्र की भाषा में व्यक्त किया जाय तो कहना होगा कि जिस रचना में उत्साह स्थायी या संचारी के रूप मे व्यंजित या ध्वनित है वह रचना निराशावादी नहीं मानी जा सकती।

निराशावादी भावनाओं का वर्गीकरण

निराशावादी भावनाओ का वर्गीकरण (क) निराशावादी प्रवृत्तियाँ, (ख) कवि की चेतना और (ग) अभिव्यक्ति के प्रकारों के आधार पर किया जा सकता है।

(क) निराशावादी प्रवृत्तियाँ—

हमने अभी निराशावाद शब्द की जो व्याख्या की है उस व्याख्या के अनुसार निराशावाद के अर्थ-विस्तार मे (अ) दार्शनिक प्रवृत्ति, (आ) परिस्थितियो के प्रति पराजित मनोवृत्ति, (इ) वस्तुओ के दोप-दर्शन की प्रवृत्ति और (ई) दु.खात्मक अनुभूतियो की अभिव्यंजना को सन्निहित किया जा सकता है।

(अ) दार्शनिक प्रवृत्ति—

निराशावाद की दार्शनिक प्रवृत्ति में हम उन भावनाओं को सन्निहित कर सकते है जिनमे कवि जीवन और जगत् का तात्विक रूप से निपेध करता है। आधुनिक काव्य-धारा के छायावादी युग में जीवन और जगत् की अनित्यता एवं मानव-जीवन की अन्य दुर्बलताओं के आधार पर जीवन और जगत् को दु खद, मिथ्या, त्याज्य अथवा व्यर्थ सिद्ध किया गया है। इस प्रकार की भावनाओ की अभिव्यक्ति को हम दार्शनिक निराशावाद कह सकते हैं।

(आ) परिस्थितियो के प्रति पराजित मनोवृत्ति—

परिस्थितियों की विपमता, प्रतिकूलता आदि का चित्रण करके यदि कोई कवि उनके विनाश की सम्भावना प्रकट नहीं करता अपितु

दिखलाई पड़ रहा है। परिस्थितियों से संघर्ष करने में जब वह पराजित हो जाता है तो उसकी निराशा एक भावुकता पूर्ण उदासीनता का रूप धारण कर लेती है। बाइरन की अनेक कविताओं में हम इस प्रवृत्ति को खोज सकते हैं।

निराशावाद की दूसरी प्रवृत्ति में भाग्य की विडम्बना पर विशेष बल दिया गया है और दु खी रहने में ही एक प्रकार के गौरव का अनुभव किया गया है। इस भाग्यवाद के साथ-साथ कहीं-कहीं सन्देह की भावना को भी जोड़ दिया गया है। कवि को न धर्म मे विश्वास रह गया है, न समाज की सहानुभूति में; यहाँ तक कि वह अपने जीवन की अच्छाइयों में भी विश्वास खो चुका है। यह प्रवृत्ति ए० ई० हाउसमन, टामस हार्डी, जेम्स टामस, आर० एल० स्टीवेंसन प्रभृत्ति कवियों और उपन्यासकारों में प्रचुरता से मिल सकती है। इस प्रकार के विचारों और भावों के अतिरिक्त दु खात्मक भावनाओं, जैसे विषाद, अवसाद, उदासीनता, आत्म-ग्लानि आदि को भी निराशावाद के अर्थ-क्षेत्र में सन्निहित किया गया है। इसी प्रकार लोक-व्यवहार में निराशावाद का प्रयोग परिस्थितियों के प्रति पराजित मनोवृत्ति और वस्तुओं के केवल दोष-दर्शन की प्रवृत्ति के लिए भी किया जाता है। हमने प्रस्तुत प्रवन्ध में निराशावाद शब्द का प्रयोग सभी अर्थों में किया है।

निराशात्मक दार्शनिक विचारों, दु खात्मक अनुभूतियों, परिस्थितियों के प्रति पराजित मनोवृत्ति और वस्तु के दोष-दर्शन की प्रवृत्ति को निराशावाद के अर्थ-विस्तार में स्वीकृत करके हमने आधुनिक हिन्दी-काव्य मे निराशावाद के अनुशीलन की चेष्टा की है। निराशा और विषाद निराशावाद के स्थायी भाव माने गए हैं अर्थात् निराशात्मक विचारों की अभिव्यक्ति से यदि कवि के हृदय की निराशा और विषाद आदि दु खात्मक अनुभूतियों की स्थायी व्यंजना होती है तो उसको निराशावादी माना गया है अन्यथा नही। इसी प्रकार यदि कोई रचना पाठक के हृदय पर दु खात्मक प्रभाव डालती है तभी वह निराशावादी मानी गई है। कौन रचना किस परिमाण मे निराशावादी है इसका निर्णय भी या तो कवि की मनोवृत्ति के आधार पर किया गया है या फिर उसके प्रभाव की तीव्रता पर।

निषेधात्मक रूप से यदि निराशावाद की व्याख्या की जाय तो यह स्वीकार किया जायगा कि यदि किसी रचना की पृष्ठभूमि में कवि की आशा और उल्लास सन्निहित है तो उसे निराशावादी नहीं माना जाना चाहिए अथवा जो कविता पाठको के हृदय में आशा और उत्साह का संचार करने वाली है उसे भी निराशावादी नहीं कहा जा सकता। इसी बात को यदि काव्य-शास्त्र की भाषा में व्यक्त किया जाय तो कहना होगा कि जिस रचना में उत्साह स्थायी या संचारी के रूप में व्यंजित या ध्वनित है वह रचना निराशावादी नहीं मानी जा सकती।

निराशावादी भावनाओं का वर्गीकरण

निराशावादी भावनाओं का वर्गीकरण (क) निराशावादी प्रवृत्तियाँ, (ख) कवि की चेतना और (ग) अभिव्यक्ति के प्रकारों के आधार पर किया जा सकता है।

(क) निराशावादी प्रवृत्तियाँ—

हमने अभी निराशावाद शब्द की जो व्याख्या की है उस व्याख्या के अनुसार निराशावाद के अर्थ-विस्तार में (अ) दार्शनिक प्रवृत्ति, (आ) परिस्थितियों के प्रति पराजित मनोवृत्ति, (इ) वस्तुओं के दोष-दर्शन की प्रवृत्ति और (ई) दुःखात्मक अनुभूतियो की अभिव्यंजना को सन्निहित किया जा सकता है।

(अ) दार्शनिक प्रवृत्ति—

निराशावाद की दार्शनिक प्रवृत्ति में हम उन भावनाओं को सन्निहित कर सकते है जिनमे कवि जीवन और जगत् का तात्विक रूप से निषेध करता है। आधुनिक काव्य-धारा के छायावादी युग में जीवन और जगत् की अनित्यता एवं मानव-जीवन की अन्य दुर्बलताओं के आधार पर जीवन और जगत् को दुःखद, मिथ्या, त्याज्य अथवा व्यर्थ सिद्ध किया गया है। इस प्रकार की भावनाओ की अभिव्यक्ति को हम दार्शनिक निराशावाद कह सकते हैं।

(आ) परिस्थितियो के प्रति पराजित मनोवृत्ति—

परिस्थितियों की विषमता, प्रतिकूलता आदि का चित्रण करके यदि कोई कवि उनके विनाश की सम्भावना प्रकट नहीं करता अपितु

परिस्थितियो से उत्पन्न अनिष्ट पर चिन्ता, क्षोभ, निराशा आदि प्रकट करता है, तो उसकी इस प्रकार की अभिव्यक्ति परिस्थितिगत निराशावाद कहला सकती है। भारतेन्दु-युग का कवि विदेशी-शासन और समाज की दुर्बलताओं को राष्ट्रीय पराभव की परिस्थितियाँ मानता है किन्तु उनका विनाश करने का साहस प्राय प्रकट नहीं करता और न उनके स्वय विनष्ट होने की सम्भावना प्रकट करता है इसलिए भारतेन्दु-युग के कवियों के द्वारा विदेशी शासन आदि प्रतिकूल परिस्थितियो का चित्रण परिस्थितिगत निराशावाद कहा-जा सकता है। द्विवेदी-युग और प्रगतिवादी युग का कवि परिस्थितियों की विपमता को तो पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है किन्तु उनके विनाश की सम्भावना भी प्रकट करता है इसलिए द्विवेदी-युग और प्रगतिवादी युग के कवियों की रचनाएँ निराशावादी नही कहला सकती।

(इ) वस्तुओं के दोष-दर्शन की प्रवृत्ति—

परिस्थितियों की विपमता और अनिष्टकारी प्रभाव का चित्रण परिस्थितिगत निराशावाद कहलायेगा तो वस्तुओ के अनुज्ज्वल पक्ष का चित्रण वस्तुगत अथवा वस्तु सम्बन्धी निराशावाद के अन्तर्गत आयेगा। भारतेन्दु-युग के कवियों ने भारत-माता को एक वृद्धा के रूप में चित्रित किया है जब कि द्विवेदी-युग के कवियों ने उसे सिंहवाहिनी दुर्गा के रूप मे। अत भारतेन्दु-युग के कवियों द्वारा किया गया भारतवर्ष का चित्रण निराशावादी कहलाएगा और द्विवेदी-युग के कवियों का चित्रण आशावादी। (वस्तुत दोप-दर्शन की प्रवृत्ति, पराजित और निराशावादी मनोवृत्ति की ही विशेपता है जो वस्तु का चित्रण करनेवाली सभी रचनाओं मे मिल सकेगी।)

(ई) दु खात्मक अनभूतियों की व्यजना—

कवि की रचना को हम निराशावादी तभी कह सकते हैं जब वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दु खात्मक अनुभूतियों की व्यंजना करे। अत हम इस अन्तरनुभूति निरूपक निराशावाद में निराशा, क्षोभ, असतोप, दु ख, पश्चात्ताप, आत्मग्लानि, आत्म-सन्देह, मृत्यु-कामना आदि दु खात्मक भावनाओ को सन्निहित कर सकते हैं। आशा और उत्साह की भावना लिए हुए क्षोभ, चिन्ता अथवा दु ख की अभिव्यक्ति जहाँ

की जायगी वहाँ हम निराशावाद न कह कर आशामूलक निराशावाद मान सकते हैं।

(ख) कवि की चेतना—

निराशावादी भावनाओं का दूसरा वर्गीकरण कवियों की चेतना के आधार पर भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारतेन्दु और द्विवेदी युगो के कवियों की चेतना राष्ट्रीय चेतना है। उनके दुःख चिन्ता, निराशा आदि का कारण राष्ट्रीय पराभव है। अत हम भारतेन्दु और द्विवेदी युगों की चिन्ता और निराशा को राष्ट्रीय निराशावाद कह सकते हैं। छायावादी युग की चेतना व्यक्तिवादी है। छायावादी कवि समाज से उदासीन है और अपने व्यक्तिगत जीवन के अभावो पर दुःखी है। हम उसके दुःख और विषाद को व्यक्तिगत निराशावाद मान सकते हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी युग के कवि की चेतना समष्टिवादी है। वह मानवता के दुःख-सुख की चिन्ता करता है इसलिए उसकी चेतना के अनुसार प्रगतिवादी युग की निराशा या आशा को समष्टिवादी निराशावाद या आशावाद कह सकते हैं। प्रत्येक युग की चेतना को एक मानकर हमने युगो को भी निराशावादी अथवा आशावादी माना है।

(ग) अभिव्यक्ति के प्रकार—

अभिव्यक्ति के प्रकारों के आधार पर काव्य के दो प्रमुख भेद किए जा सकते हैं। एक बाह्यार्थनिरूपक काव्य और दूसरा अनुभूति निरूपक काव्य। बाह्यार्थ निरूपक काव्य बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्रण करता है जबकि अनुभूति निरूपक काव्य बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष केवल हृदय की अनुभूतियों की व्यंजना करता है। एक में यथार्थ की ओर कवियों की दृष्टि होती है अत स्वच्छन्द कल्पना को अपनी उड़ान के लिए कम अवसर मिल पाता है दूसरे मे स्थूल यथार्थ का परित्याग करके सूक्ष्म अनुभूतियो का अतिरंजित चित्रण होता है। अत. बाह्यार्थ निरूपक काव्य का निराशावाद पदार्थों का दोष-दर्शन करने तक सीमित रहता है जबकि अनुभूति-प्रधान काव्य का निराशावाद दुःख, निराशा, विषाद आदि दुःखात्मक अनुभूतियो के करुण चित्र उपस्थित करता है। एक को हम वस्तुगत निराशावाद तथा दूसरे को अनुभूतिगत निराशावाद कह सकते हैं। अस्तु। आधुनिक काव्य में अभिव्यक्त निराशावाद के जितने के

वर्गीकरण सुविधाजनक हो सकते हैं यहाँ उनकी ओर सकेतमात्र कर दिया गया है। जिस युग की निराशावादी भावनाओं को जिस रूप में वर्गीकृत किया जायगा, वहाँ उस वर्गीकरण पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जायगा। आशावाद और निराशावाद का सम्बन्ध मानव-चेतना से है अत उनका कोई शास्त्रीय वर्गीकरण प्रस्तुत करना कठिन प्रतीत होती है।

भारतवर्ष की दार्शनिक परम्परा में निराशावाद—

प्राचीन काल से भारतवर्ष की विचार-धारा अध्यात्मवादी रही है, इसलिए जीवन और जगत् के प्रति निराशावादी विचारों का अस्तित्व हमे प्राय प्रत्येक दार्शनिक परम्परा मे मिलता है। यूरोप की भाँति-भारतवर्ष में १६ वी या २० वी शताब्दी मे किसी नवीन दर्शन का प्रादुर्भाव तो नही हुआ किन्तु वेदान्त और बौद्ध दर्शन ने आधुनिक काव्य-धारा को अवश्य प्रभावित किया है। आधुनिक काव्य-धारा का उत्थान प्रतिकूल परिस्थितियों मे होने के कारण आधुनिक कवि प्राचीन भारतीय दर्शन के निराशावादी विचार तो ग्रहण कर सके किन्तु आशा और विश्वास उनके पल्ले न पड़ सका। यह बात विशेष रूप से छायावादी युग के स्वच्छन्दवादी कवियो के लिए लागू होती है।

इस प्रसग में एक बात और उल्लेखनीय है। आधुनिक काव्य-धारा के प्रथम दो युगो के (भारतेन्दु और द्विवेदी युगों) कवि भक्तिवादी श्रद्धा और विश्वास के वातावरण मे पले थे। इसलिए उनकी रचनाओं में निराशावाद अधिक उग्र रूप में व्यक्त नहीं हुआ। इन युगों के कवि भीषण से भीषण परिस्थिति में ईश्वर की दया और भक्तिवत्सलता पर विश्वास करके घोर निराशावादी बनने से प्राय बच जाया करते थे। (छायावादी युग के उन कवियो की रचनाओ मे भी निराशावाद अधिक भीषण नही हुआ जिन्होंने द्विवेदी-युग से प्रेरणा ग्रहण की थी अथवा भारतीय सभ्यता और सस्कृति मे जिनकी आस्था थी। किन्तु जो कवि अँगरेजी शिक्षा के वातावरण में पले थे अथवा जिनको भारतीय दर्शन की या तो जानकारी ही नही थी या उसमें विश्वास नही करते थे, उनके गीतों में निराशावाद अधिक उग्र रूप धारण किए हुए है। और जिस किसी कवि ने १६ वीं शती के पाश्चात्य दर्शन से प्रेरणा ग्रहण की

है उसकी मन.स्थिति तो दयनीय दशा तक निराशावादी वन गई है। छायावादी कवि वच्चन के गीतो को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निराशावाद का यह विकास यही सिद्ध करता है कि भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं है यद्यपि उसमें भौतिक सुख और ऐश्वर्यों की प्राप्ति और उपभोगो के प्रति आशावादी दृष्टि नहीं है।

आधुनिक काव्य-धारा में जहाँ-कहो जीवन और जगत् के विषय में निषेधात्मक भावनाएँ व्यक्त की गई हैं, वहाँ उनका सम्वन्ध किसी विशेष दार्शनिक परम्परा से स्थापित नहीं किया जा सकता। कवियो ने अपनी मनःस्थिति के अनुकूल कुछ दु.खवादी और निराशावादी विचारों को ग्रहण कर लिया है। हम उनके विचारो को भारतवर्ष की प्राचीन दार्शनिक परम्परा में भी खोज सकते हैं अथवा प्राचीन दार्शनिक विचारो का प्रभाव भी उनकी रचनाओ पर मान सकते हैं। कुछ कवियो ने तो प्राचीन दर्शन का प्रभाव अपने गीतो पर स्वीकार भी किया है। अस्तु। एक दृष्टि भारतीय दार्शनिक परम्परा पर भी डाल लेना अपेक्षित है।

भारतीय दर्शन—

भारतीय दर्शन को प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानो ने दो प्रमुख वर्गों मे विभक्त किया है—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है—ईश्वर मे विश्वास, परलोक मे विश्वास और श्रुतियों में विश्वास।[1] दर्शन के क्षेत्र मे ईश्वरवादिता पर विशेष वल नहीं दिया गया और न ईश्वर और अनीश्वरवादी दर्शन के रूप में भारतीय दर्शन का वर्गीकरण ही किया गया। इस दृष्टि से वर्गीकरण करने पर चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन के अतिरिक्त जैन, वौद्ध आदि वैदिक परम्परा के विरोधी एवं न्याय-वैशेपिक आदि वैदिक परम्परा के समर्थक दोनों प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायो को एक ही वर्ग मे रखना पड़ता। अत भारतीय दर्शन-परम्परा मे आस्तिक और नास्तिक का वर्गीकरण केवल वेद-वाक्यों

१—आस्तिक—(i) अस्ति परलोकः इति मतिर्यस्य।
(ii) यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भि-रेवास्तिकैः।
(iii) आस्तिक्यं श्रद्धधानता परमार्थेष्वागमार्थेषु।

में विश्वास और अविश्वास के आधार पर ही किया गया है न कि ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के आधार पर, यद्यपि भारत की आधुनिक भाषाओ में आस्तिक और नास्तिक शब्दों का अर्थ ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद के अर्थों में ही होता है। आस्तिक दर्शन मे मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायों को वर्गीकृत किया गया है।[२]

ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करने पर पहले भारतीय दर्शन का मूल स्रोत उपनिषद आते हैं। उपनिषद साहित्य के निर्माण के अन्तिम काल में जैन और बौद्ध दर्शन का प्रचार होता है, फिर अस्तिक षड्दर्शन और अन्त मे भक्ति-सम्प्रदायों का। अत भारतीय दर्शन में निराशावाद की समीक्षा उसे—(१) वैदिक दर्शन, (२) जैन और बौद्ध दर्शन, (३) षड्दर्शन और (४) भक्तिवादी दर्शन जैसे चार भागों में विभक्त करके करना अधिक शास्त्रीय होगा।

(१) वैदिक दर्शन—

भारतीय दर्शन का मूल वैदिक साहित्य को माना जाता है। वैदिक साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया गया है—संहिता, ब्राह्मण और अरण्यक। संहिता और ब्राह्मण का सम्बन्ध उपासना और यज्ञादिक कर्म काण्ड से है। अरण्यको का अन्तिम भाग उपनिषाद् कहलाते हैं जो भारतीय दर्शन का ज्ञान काण्ड हैं। उपनिषद् ही भारतीय दर्शन अथवा आस्तिक परम्परा का आधार हैं। षड्दर्शन अपनी उत्पत्ति और प्रामणिकता उपनिषदो में ही खोजते हैं। भक्ति सम्प्रदाय भी उपनिषद् को प्रामाण्य मानते हैं यद्यपि उनका विकास पुराणों के आधार पर अधिक हुआ है। भारतीय दर्शन में उपनिषद् साहित्य का इसलिए भी महत्व अधिक है कि आधुनिक युग में बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन का उद्‌गम भी उपनिषदों में खोजा गया है एवं आधुनिक युग के प्राय सभी प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन की समीक्षा उपनिषदों के आधार पर ही की है।

उपनिषद साहित्य का निर्माण यद्यपि शताब्दियों तक होता रहा है और उनकी संख्या एक शतक से ऊपर निकल गई है किन्तु जिन

२—प्रेक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० २४०।

११-१२ उपनिषदो पर शांकर भाष्य उपलब्ध है आजकल उनको ही प्रामाण्य माना गया है। अत. प्रस्तुत अध्ययन को केवल प्रामाण्य उपनिषदों तक सीमित रखना होगा। वैदिक साहित्य मे निराशावाद की समीक्षा करने के लिए हमे उसका दृष्टिकोण (१) जीवन, (२) जगत् और (३) आत्मा अथवा ब्रह्म के प्रति जान लेना चाहिए।

(१) जगत्—

पाश्चात्य दर्शन मे निराशावादी विचारो का मुख्य विषय जगत् की निकृष्टता मानी गई थी। निराशावाद जगत् की उत्पत्ति किसी चित् और शिव सत्ता के द्वारा न मानकर या तो नियति जैसी क्रूर सत्ता के द्वारा मानता है या तृष्णा जैसी किसी अन्ध शक्ति के द्वारा। अत. निराशावादी व्यक्ति स्वभाव से जगत् की श्रेष्ठता के प्रति अविश्वासी बन जाता है। वह सृष्टि की रचना को निरुद्देश्य एवं दोषपूर्ण (सौरी स्कीम ऑफ थिंग्स एनटायर) मानने लगता है। वह इस दोषपूर्ण जगत् से अपनी रक्षा का उपाय या तो जगत् के परित्याग मे खोजता है या जीवन का अन्त कर देने मे।

वैदिक दर्शन मे इस प्रकार के विचारो को कोई स्थान नही। वह जगत् की उत्पत्ति एक सत् सत्ता से मानता है जो सत्य भी है और शिव भी, क्योंकि सत् शब्द से दोनों ही अर्थ निकलते है। सत् के साथ-साथ वह सत्ता आनन्दपूर्ण भी है। (जगत् की उत्पत्ति सत् एवं आनन्द के द्वारा होने के कारण यह जगत् स्वयं सत् एवं आनन्दपूर्ण है, ऐसा उपनिषदो का विश्वास है।) इस मत की पुष्टि मे एक-दो मंत्र उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। ब्रह्म के साथ जगत् की सुकृतता एवं आनन्दमयता का प्रतिपादन करता हुआ उपनिषद् घोषणा करता है—असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै स.। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।[1]

ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त हेतु ही नहीं उपादान कारण भी है। उस सत् एवं आनन्दमय ब्रह्म ने स्वयं अपनी सत्ता को ही जगत् के

१—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१

रूप मे परिणत किया है अत यह जगत् सुकृत भी है और आनन्दपूर्ण भी। यदि यह आकाश आनन्द से परिपूर्ण न होता तो कोई प्राणी जीवित नही रह सकता था। किन्तु यह जगत् उसी तत्वदर्शी के लिए आनन्दपूर्ण है जो इस जगत् को इसी प्रकार देखता है। जो व्यक्ति जगत् को निरुद्देश्य एवं दु:खहेतु मानता है, उसका निराशावादी बन जाना स्वाभाविक है। इसी विचार की विस्तृत व्याख्या करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर पाश्चात्य निराशावाद का प्रबल खण्डन अपनी 'साधना' नामक पुस्तक में 'प्रोवलम आफ ईविल' शीर्षक निवन्ध में करते हैं, जिसकी थोड़ी-सी समीक्षा कर लेना अप्रासगिक न होगा।

ससार को आनन्द से परिपूर्ण मानने के विरुद्ध एक यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि उसकी उत्पत्ति किसी सत् सत्ता के द्वारा हुई है तो उसमें दु ख का अस्तित्व क्यों है? अथवा सच्चिदानन्द ब्रह्म दु खपूर्ण ससार की रचना क्यों करता है? टैगोर ने इस प्रकार की शका का बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से समाधान किया है, जिसका सार निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

जगत् में दु ख का अस्तित्व हमारे जीवन की अपूर्णता के कारण है। किन्तु दु ख जीवन का अन्तिम सत्य नहीं। वह क्षणिक है और जीवन का गतिवर्द्धक है। मानव-जीवन की गति अपूर्णता से पूर्णता की ओर, ससीम से निस्सीम की ओर एव दु ख से आनन्द की ओर प्रवहमान है। जगत् स्वभाव से आनन्दपूर्ण है। उसमे दु ख का अस्तित्व हमारे अज्ञान अथवा सीमित ज्ञान के कारण प्रतिभासित होता है। जैसे-जैसे हम अपनी सीमा का विस्तार निस्सीम में करते जाते है, स्वात्मा में विश्वात्मा की अनुभूति करते जाते हैं, यह प्रतिभासित दु ख सुख का रूप धारण करता जाता है।

जगत् दु ख ओर बुराइयो पर नहीं टिका हुआ है। उसका विकास बुराई से भलाई की ओर हो रहा है। निराशावादियों को यह दु खमय प्रतीत होता है क्योंकि वे जगत् और जीवन का पर्यवेक्षण देश और काल की सकुचित सीमा में करते हैं। यदि कोई मनुष्य जन्म की उपेक्षा करके केवल मृत्यु के आँकड़े एकत्र करना प्रारम्भ करे तो उसे यह जगत् एक विशाल श्मशान प्रतीत होगा। इसी प्रकार वीणा के तारो पर उँगली फेरने से उत्पन्न होने वाले स्वरो की गणना करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि उसमें तारो की योजना कर्कश ध्वनियाँ उत्पन्न करने को

की गई है; जबकि उससे निःसृत स्वर-लहरी की आनन्दमय स्थिति प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार चलना सीखने वाले शिशु के प्रयत्नों की यदि गणना की जाय तो उसमें गिरने की संख्या एवं अवधि अधिक होगी। यदि उसके सफल और असफल प्रयत्नों के आँकड़े प्रस्तुत करके कोई निष्कर्ष निकाला जाय तो वह यही होगा कि बालक चलना कभी नहीं सीख सकता क्योंकि उसके प्रयत्नों में सधने की अपेक्षा गिरने की संख्या अधिक है। निराशावादी व्यक्ति जीवन की उस प्रेरक शक्ति की उपेक्षा करता है जो बालक को चलना सिखाती है। जो व्यक्ति दुःखों के बीच से प्रवहमान जीवन की आनन्दमयी धारा को नहीं जान पाते वे बालक के पतन के समान दुःखों की गणना करके सोचने लगते हैं कि दुःखों की निवृत्ति का उपाय केवल मृत्यु है। जीवन की गति आनन्दप्रधान है। वह दुःख और विपत्तियों के बीच इठलाती हुई बढ़ती है और मृत्यु की भीषणता के सम्मुख कल-कल निनाद करती हुई गतिशील रहती है। निराशावादियों की घोर भर्त्सना करते हुए टैगोर लिखते हैं—

"निस्सन्देह कुछ ऐसे भी विचारवान हुए हैं जो जगत् की स्थिति पूर्ण दुःखमय मानते रहे हैं किन्तु लोक-जीवन उनकी बातों को गम्भीरतापूर्वक कभी नहीं सुनता। उनका निराशावाद एक दम्भ है—बौद्धिक (दार्शनिक) हो या संवेगात्मक (भावुकतापूर्ण)। निराशावाद एक ऐसी मानसिक बीमारी है जो जीवन के स्वस्थ विचारों का भक्षण करके उसे खोखला कर डालती है। निराशावादी अपने चारों ओर निराशा का एक कृत्रिम वातावरण बना लेता है और अवसादपूर्ण विचारों रूपी मदिरा के घूँट पिया करता है। संसार यदि दुःखपूर्ण होता तो उसकी सत्ता सम्भव नहीं थी और फिर उसको दुःख-पूर्ण सिद्ध करने के लिए किसी दार्शनिक की भी आवश्यकता नहीं थी।"[1] टैगोर के विचारों पर हम औपनिषद् दर्शन की स्पष्ट छाप देख सकते हैं।

(२) जीवन—

जीवन और जगत् सापेक्ष सत्ताएँ हैं। जगत् को आनन्दपूर्ण मान लेने पर जीवन में आनन्द की स्थिति स्वतः सिद्ध हो जाती है। जगत्

१—साधना पृ० ५३।

को त्याज्य और जीवन को मिथ्या मानने के निराशावादी विचार उपनिषद्-साहित्य में व्यक्त नहीं किए गए। आनन्द की उपलब्धि को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भृगु और वरुण के आख्यान के द्वारा इस आनन्दवाद का बड़े ही रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। भृगु अपने पिता अथवा गुरु वरुण के समीप जाकर उपदेश की प्रार्थना करते हैं। वरुण अपने पुत्र को अन्न, प्राण, मन, और विज्ञान के रूप मे ब्रह्म की उपासना करने का क्रमश उपदेश देते है। पिता की आज्ञा पाकर भृगु उक्त रूपो में ब्रह्म की उपासना करते हैं और उपर्युक्त पदार्थों में ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, किन्तु उन्हें सन्तोष नही होता। अत पुन पिता के पास लौटकर वही प्रार्थना करते हैं। वरुण उनको तपस्या के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति करने का उपदेश देते हैं। भृगु पुन घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं और अपनी अनुभूति को पिता के सम्मुख उपस्थित करते हैं—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[1]

जीवन में आनन्द की प्राप्ति का इससे प्रबल उदाहरण मिलना कठिन है।

यह आनन्द की प्राप्ति जीवन मे आध्यात्मिक दृष्टि अपनाने से सुलभ होती है, भोगों का स्वच्छन्द उपभोग करने से नही। मनुष्य जिस समय सम्पूर्ण जगत् को ईश्वरमय देखने लगता है एवं जीवन के उपलब्ध विषयों को त्यागपूर्वक (संयम के साथ) भोगने लगता है, उसका जीवन आनन्दमय हो जाता है। उपनिषद् आज्ञा देते हैं—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[2]

त्यागपूर्वक उपभोग न करने पर एवं दूसरे की सम्पत्ति पर गृद्धदृष्टि डालने से ही आत्मा का अध पतन होता है।

भारतीय दर्शन पर प्राय यह आरोप लगाया जाता है कि वह अकर्मण्यता की भावना को प्रोत्साहित करता है। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय संस्कृति के अध पतन के युग मे काम्य कर्मों के प्रति

१—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, ६।१
२—ईशावास्योपनिषद्, १

आशावादी दृष्टि नहीं अवशेष रह गई थी और जीवन से पलायन करके कर्मों का परित्याग करना श्रेयस्कर समझा गया था, किन्तु उपनिषदों की शिक्षा कर्म के प्रति आशावादी है। कर्म का परित्याग करके जीवन का निर्वाह सम्भव नही। यह विचार उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[1]

सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा जीवन के प्रति अत्यन्त आशावादी दृष्टि उपस्थित करती है।

वैदिक दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता उसका जीवन के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। वह जीवन और उसके समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति और उनका त्यागपूर्वक उपभोग करने को स्वीकार करता है किन्तु उनको ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नही मानता। लौकिक जीवन की स्वीकृति के साथ-साथ उसकी दृष्टि उसी तक परिसीमित न रहकर किसी शाश्वत् जीवन की कामना करती है किन्तु ऐहिक जीवन और शाश्वत् जीवन उसकी दृष्टि में परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं। हम अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हुए ही आत्मकल्याण कर सकते है। जो व्यक्ति इस समन्वयात्मक दृष्टि को नहीं अपना पाता वह घोर अन्धकार मे भटकता हुआ दोनो मे से किसी को प्राप्त नहीं कर पाता। अत उपनिषद् का आदेश है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायारताः॥
विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥[2]

केवल अविद्या—लौकिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किए गए कर्म एवं केवल विद्या—आत्म-कल्याण के हेतु किए गए कर्म, दोनो ही अपने में अपूर्ण है अत हानिकारक हैं। अतएव लौकिक कर्मों का सम्पादन करते हुए ही मनुष्य को आत्मकल्याण की कामना करना श्रेयस्कर है। अस्तु।

१—ईशावास्य, २।
२—ईशावास्य, ६, ११।

वैदिक दर्शन आशावादी होने के साथ-साथ आदर्शवादी भी है। मानव-जीवन मे द्विविधा के ऐसे अनेक क्षण आते हैं, जब उसके हृदय में एक ओर मानवीय दुर्बलताएँ—जीवन के सुख, स्वार्थ, काम, क्रोधादि—प्रबल हो उठती हैं और दूसरी ओर उसकी आदर्श भावना—त्याग, सयम, क्षमा आदि—बलवती हो उठती है। इस अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थिति में उपनिषद् जीवन के आदर्श पक्ष को श्रेयस्कर बताते हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥[1]

जीवन मे यथार्थ से अधिक आदर्श को महत्व देने के लिए मनुष्य को क्षणिक सुख और ऐश्वर्यों की उपेक्षा करनी पडती है। अत उपनिषदों में जहाँ-कहीं लौकिक सुखों को अनित्य एव दु खपूर्ण माना गया है, वहाँ उनकी दृष्टि किसी उच्चतर आदर्श की ओर रही है। उदाहरण के लिए, कठोपनिषद् में नचिकेता यम से आत्म-ज्ञान सीखना चाहता है और यम उसको लौकिक ऐश्वर्यों का प्रलोभन देते हैं।[2] जिज्ञासु नचिकेता उस प्रलोभन की उपेक्षा करता हुआ उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणा जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥[3]

यहाँ पर नृत्यगीतादि भोगों की नश्वरता पर जो बल दिया गया है वह प्रलोभन पर विजय प्राप्त करने की दृष्टि से ही, भोगों को पापमय, आत्मा का बन्धन आदि नही माना गया और न उनको दु खद ही कहा गया है।

दु ख की स्वीकृति साधना के रूप मे कही-कही अवश्य की गई है। माण्डूक्य उपनिषद् में मन के निग्रह के लिए भोगों के प्रति अशुभ दृष्टि अपनाने की शिक्षा दी गई है—

दु ख सर्व मनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।[4]

१—कठोपनिषद्, १।२।२

२—इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारस्व यनचिकेतो मरण मानुप्राक्षी ॥
कठोपनिषद्, १।१।२५

३—कठोपनिषद्, १।१।२६

४—माण्डूक्योपनिषद्, ३।४३

किन्तु इसे हम निराशावाद नहीं कह सकते क्योंकि दुःख का अनुस्मरण यहाँ साधना के रूप में किया गया है न कि अनिवार्य विधि-विधान के रूप में। अस्तु। औपनिषद् साहित्य का अध्ययन करनेवाला विद्यार्थी इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि जीवन और जगत् के प्रति वैदिक दर्शन की दृष्टि निराशावादी नहीं है।

(३) आत्मा अथवा ब्रह्म—

उपनिषदों में तार्किक विवेचन के स्थान पर ऋषियों की अनुभूतियों का प्रायः उल्लेख मिलता है। उनमें ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों का उतना अनुकथन नहीं किया गया जितना मनीषियों की अन्तरनुभूतियों का। अध्यात्म-जिज्ञासा सम्बन्धी अनेक प्रश्न उपनिषदों में उठाए गए हैं जैसे—

(१) किस के जान लिए जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है।[1]

(२) आत्मा नित्य है अथवा मरणशील ?[2]

(३) किस सत्ता से प्रेरित होकर मन विषयों की ओर आकृष्ट होता है ? वाणी, चक्षु और नेत्रादि इन्द्रियों को कौन प्रेरित करता है ?[3]

(४) यह प्रजा किससे उत्पन्न होती है ?[4]

(५) हम जिसकी उपासना करते हैं, वह आत्मा कौन है ?[5]

उपर्युक्त सभी प्रश्नों का उत्तर आत्मा और ब्रह्म के तत्व-निरूपण के द्वारा दिया गया है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए परा विद्या श्रेयस्कर बतलाई गई है। कठोर तपस्या, कर्म का परित्याग,

---

१—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥

—मुण्डकोपनिषद्, १।१।३

२—येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

—कठोपनिषद्, १।१।२०।

३—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषिता वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ —केनोपनिषद्, १।१

४—कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ —प्रश्नोपनिषद्, १।३

५—कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे।

—ऐतरेयोपनिषद्, ३।१।१

शारीरिक कष्टादि को साधना के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। अन्तिम काल की उपनिषदों में, जिनका सम्पादन बौद्धकाल में माना जाता है, योग को साधना के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु ईशावास्य, बृहदारण्यक, छान्दोग्यादि प्राचीनतम उपनिषदों का झुकाव अनुभूत्यात्मक ज्ञान की ओर विशेष है।

आत्म-ज्ञान की उपलब्धि करने वाले अध्यात्मवादियों का वैदिक-साहित्य चरम आशावाद का सन्देश देता है —

उस परम तत्व को जानने वाले पुरुष पापों का विनाश करके अनन्त और महान् स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होते हैं।[1] वे पाप-कर्मों में लिप्त नहीं होते।[2] उनके हृदय की ग्रंथि खुल जाती है तथा सर्व संशय नष्ट हो जाते हैं।[3] तत्ववेत्ता को शाश्वत् शान्ति सुलभ होती है।[4] वह मृत्यु के पाश से मुक्त होकर अमर हो जाता है।[5] जिस प्रकार निरन्तर स्यन्दमान नदी अपने नाम-रूप से मुक्त होकर समुद्र में अस्त हो जाती है उसी प्रकार आत्मज्ञानी नामरूपात्मक जगत् से मुक्त होकर उस परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।[6] इसलिए ब्रह्म को जानने

१—अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति।—केनोपनिषद्, ४।६

२—त विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२३

३—(अ) एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह।
—मुण्डकोपनिषद्, २।१।१०

(आ) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८

४—(अ) निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। —कठोपनिषद्, १।१।१७

(आ) तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्। —कठोपनिषद्, २।२।१३

५—(अ) निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। —कठोपनिषद्, १।३।१५

(आ) तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति। —श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४।१५

(इ) य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। —बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१४

(ई) ईशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति। —श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।७

६—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।८

वाला ब्रह्म ही हो जाता है,[1] उसे फिर कहाँ मोह है, कहाँ शोक है।[2] वह तो शोक के पार होकर कृतार्थ हो जाता है।[3]

इस प्रकार की आशावादी अनुभूतियाँ अन्य दर्शन में मिलना दुर्लभ हैं। अत हम वैदिक दर्शन को चरम आशावादी दर्शन मान सकते हैं।

(२) जैन और बौद्ध दर्शन—

जगत् और जीवन के प्रत्यक्ष सुखो के प्रति निराशावादी विचार सर्व-प्रथम जैन और बौद्ध दर्शनो मे मिलते है। जैन-दर्शन घोर तपस्या-वादी दर्शन है जिसमें जीवन के सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए किया गया प्रत्येक कर्म त्याज्य है।

इन्द्रियो को जीतना और विषयो का सर्वथा परित्याग जैन-धर्म का परम पुरुषार्थ है। यह दर्शन इन्द्रियो को जीतने में असफल होने पर अथवा छ वर्ष तक तपश्चर्या कर लेने के पश्चात् आत्महत्या तक की स्वीकृति देता है। शरीर को अनेक प्रकार की यातनाएँ देना, केश-मुचन आदि जैन-धर्माचरण के अग समझे जाते है। अहिंसा का मूल प्रवर्त्तक जैन-दर्शन ही है जिसको भारतवर्ष के अधिकांश सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

आधुनिक काव्य-धारा जैन-धर्म के तपस्या के आदर्शों से उतनी प्रभावित नही हुई जितनी बौद्ध दु.खवाद से। बुद्ध का दु खवाद आनन्द और उल्लास का निषेध करके जीवन और जगत् के प्रति अशुभ दर्शन की उपादेयता घोषित करता है, जो निराशावादी दर्शन का विषय है, इसलिए बौद्ध दर्शन का कुछ अधिक विस्तार मे अध्ययन कर लेना अनुचित न होगा।

जीवन और जगत् के प्रति निषेधात्मक दृष्टि रखने मे परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती है। महान् से महान् पुरुषो के व्यक्तिगत जीवन

१—स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति।—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।९

२—तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। —ईशावास्योपनिषद्, ७

३—(अ) तरति शोकमात्मवित्। —छांदोग्योपनिषद्, ७।१।३

(आ) तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।१४

और उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों का समीप से अध्ययन करने पर उक्त धारणा सत्य ही प्रमाणित होगी। गौतम बुद्ध ने वर्षों की तपस्या के पश्चात् जीवन के प्रति जिस अशुभ दृष्टि का उपदेश दिया था, उसके मूल में वे व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ थी, जिनसे विवश होकर उनको गृह-परित्याग करना पड़ा था।

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने आधुनिक अनुसधानों के आधार पर लिखा है कि बुद्ध के महानिष्क्रमण का कारण जराग्रस्त, रोगी अथवा मृतक प्राणी का दर्शन करना नही था, अपितु राजनीतिक कारणों से विवश होकर उनको अपने परिवार का परित्याग करना पड़ा था। शाक्य और कोलियों के गण-राज्य मगध साम्राज्य के करद राज्य थे। दोनों जातियों का व्यवसाय कृपि-कर्म था। रोहिणी नदी के जल से दोनो जातियाँ सिंचाई किया करती थी और आए दिन दोनो राज्यो में जल-सिंचन पर उपद्रव हो जाया करता था। शाक्य वंश के जातीय नियमों के अनुसार उपद्रव के समय प्रत्येक परिवार के युवा सदस्य को शस्त्र ग्रहण करना पड़ता था। गौतम उस समय २६ वर्ष के युवक थे, जब कोलियों और शाक्यों में जल-सिंचन पर युद्ध छिड गया। गौतम के सम्मुख दो ही मार्ग थे, या तो युद्ध के लिए शस्त्र ग्रहण करते या फिर अपने परिवार का परित्याग करके युद्ध से पलायन कर जाते अन्यथा उनके परिवार को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का परित्याग करके शाक्य गण-राज्य से निष्कासन स्वीकार करना पड़ता। अहिंसावादी गौतम शस्त्र-ग्रहण करने में असमर्थ थे अत अपने परिवार की रक्षा के लिए उन्होंने गृह-परित्याग स्वीकार किया।[1]

परिस्थितियों से पलायन करने वाले व्यक्ति का जीवन-दर्शन अधिक आशावादी नही हो सकता था। बुद्ध ने वर्षों की तपस्या के पश्चात् जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसमें जीवन का स्पष्ट निषेध था। जीवन में दुःख और कलह की खोज करते हुए वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन ही दुःख है। अपने दुःखवाद को गौतम ने चार आर्य सत्यो मे विभक्त करके समाज के सम्मुख उपस्थित किया।

प्रथम आर्य सत्य दुःख है। जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, व्याधि दुःख है तथा मृत्यु दुःख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं

१—'विश्व-वीणा', मई १०४२, 'बौद्ध-सस्कृति'—धर्मानन्द कौसम्बी

उनकी प्राप्ति दु ख है और जिन वस्तुओ की अभिलाषा करते हैं उनकी अप्राप्ति दु:ख है। संक्षेप में पाँचो उपादान स्कन्द दु:ख हैं।[1] इस प्रकार बुद्ध का प्रथम आर्य सत्य जीवन और जगत के प्रति निषेधात्मक दृष्टि की घोषणा करता है। द्वितीय आर्य सत्य, दु:ख के मूल मे तृष्णा को मानता है—भव की तृष्णा, विभव की तृष्णा, काम की तृष्णा। तृतीय आर्य सत्य, दु ख से मुक्ति की सम्भावना प्रकट करता है[2] और चतुर्थ आर्य सत्य अष्टाङ्गिक मार्ग[3] का अनुसरण करके दु:ख से मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करता है। दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही निर्वाण की प्राप्ति है।

बुद्ध का दु खवाद उनके सम्पूर्ण दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है। उनके सम्पूर्ण दर्शन को एक सूत्र—अनित्य, दु:ख, अनात्म—मे प्रस्तुत किया जा सकता है। अनित्य क्षणवाद का द्योतक है। इस सम्पूर्ण विश्व में किसी भी वस्तु की सत्ता क्षण से अधिक स्थायी नहीं। प्रत्येक क्षण एक वस्तु नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है। यह विश्व एक घटना-प्रवाह है, जिसमे प्रत्येक वस्तु प्रतीत्य-समुत्पाद[4] के रूप में उत्पन्न और नष्ट हुआ करती है। आत्मा जैसी शाश्वत् सत्ता इस क्षण-क्षण नश्वर जगत् में कोई अस्तित्व नही रखती। मनुष्य एक क्षण उत्पन्न होकर दूसरे क्षण नष्ट होता रहता है, किन्तु जीवन-प्रवाह जो दु:ख का ही पर्याय है निरन्तर चलता रहता है। अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने से जीवन-प्रवाह नष्ट हो सकता है।

निर्वाण पद शून्य के समान अभावात्मक सत्ता रखता है। वह असत्तात्मक स्थिति का द्योतक है। बुद्ध का निर्वाण शाश्वत् मृत्यु का ही पर्याय है, जो जीवन और जगत् को दु:ख का पर्याय मानने-वाले व्यक्ति की ईप्सा का विषय बन सकता है। अत बौद्ध दर्शन से अधिक निराशावादी जीवन-दर्शन की मानव-मस्तिष्क कदाचित् कल्पना तक नहीं कर सकता।

१—पाँच उपादान स्कंद—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

२—देखिए—'दर्शन-दिग्दर्शन' पृ० ५१४

३—अष्टाङ्गिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् शील (वचन, कर्म और आजीविका) और सम्यक् समाधि (प्रयत्न, स्मृति और सकल्प)।

४—प्रतीत्य-समुत्पाद के लिए देखिए—दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५१४

भारतीय दर्शन की समीक्षा करते हुए डा० राधाकृष्णन इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि "क्या बौद्ध-दर्शन निराशावादी है ?" आपका विचार है कि "यदि निराशावाद का अर्थ है कि त्याग और पवित्रता से हीन जीवन निकृष्ट है तो बौद्ध धर्म निराशावादी है। यदि निराशावाद का अर्थ है कि लौकिक जीवन का परित्याग जीवनानन्तर सुख की आशा मे कर देना चाहिए तब भी बौद्ध-धर्म निराशावादी है। किन्तु यह निराशावाद का यथार्थ रूप नहीं। एक दार्शनिक सम्प्रदाय तभी निराशावादी कहला सकता है जब वह घोषणा करे कि "लौकिक जीवन दुस्साध्य है और इस जीवन के परे कही शान्ति नहीं।" बुद्ध-धर्म के कुछ सम्प्रदाय ऐसी घोषणा करते हैं और उनको निराशावादी कहा जाना न्यायसगत भी है। किन्तु जहाँ तक बुद्ध के उपदेशो का सम्बन्ध है उनका आशय ऐसा नही है।"

"इसमें सन्देह नही कि बुद्ध जीवन को दु ख की परम्परा मानते हैं, किन्तु उनका यह भी विश्वास है कि नैतिक नियमो का पालन करने से उस परम्परा का अन्त हो जाता है और मानव-स्वभाव अपनी दुर्बलताओं का परित्याग कर परिपूर्ण बन सकता है। पुनश्च, यद्यपि बुद्ध के मस्तिष्क पर जीवन के दु खों का अत्यधिक प्रभाव है किन्तु उनके दु खवाद का एक उद्देश्य है। और वह उद्देश्य है मनुष्य के हृदय में दु खों से मुक्ति पाने की इच्छा उत्पन्न करना। अत बुद्ध का दर्शन निराशा का दर्शन नही। बुद्ध हमें पापों के प्रति विद्रोह करके श्रेष्ठतर जीवन प्राप्त करने की शिक्षा देते हैं, जो उनके 'अर्हत-पद' की प्राप्ति का आदर्श है।"[1]

आधुनिक काव्यधारा में महादेवी वर्मा, तारा पांडेय आदि कवियों ने दु ख को जो साधना के रूप में स्वीकार किया है, उन पर बुद्ध के दु खवाद का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु जीवन मे दु ख की अनुभूति केवल दर्शन के अध्ययन से ही उत्पन्न नही हुआ करती। व्यक्तिगत एव सामाजिक परिस्थितियो की विषमता का उसमे प्रमुख हाथ रहता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा मे बुद्ध के दु खवाद, क्षणवाद और शून्यवाद की ओर कवियों का चित्त जो आकर्षित हुआ, उसका मूल कारण वे सामाजिक और व्यक्तिगत परिस्थितियाँ थी जिनके कारण

१—इंडियन फिलासफी, प्रथम खण्ड, पृ० २६५

जीवन और जगत् के प्रति कवियों के हृदय में निराशा उत्पन्न हो रही थी।

स्वयं बुद्ध ने जिस युग मे दुःखवाद का उपदेश दिया था उस युग का सामाजिक वातावरण क्षुब्ध था एवं व्यक्तिगत मन स्थिति अस्थिर और अशान्त थी। बौद्ध युग को महाकाव्य काल के अन्तर्गत मानकर डा० राधाकृष्णन ने उस समय के सामाजिक वातावरण पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है।[1] इसी युग में अजित केशकम्बली, मक्खलि गोशाल, पूर्णकश्यप, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त जैसे तीर्थङ्कर निष्क्रिय भौतिकवाद, अकर्मण्यता, संदेह और भाग्यवाद जैसे निराशावादी विचारों का प्रचार कर रहे थे, वेदानुयायी पशुवलि को ही धर्म-साधन मान रहे थे। एक ओर वर्धमान महावीर जैसे विरक्तिवादी-तीर्थंकर तपस्या पर अतिशय बल दे रहे थे दूसरी ओर चार्वाक जैसे भोगवादी दार्शनिक यज्ञवाद, अध्यात्मवाद और दुःखवाद का तीव्र विरोध करके शारीरिक भोगों को ही जीवन का चरम लक्ष्य घोषित कर रहे थे।[2]

बुद्ध का दुःखवाद भारतीय विचार-धारा का परिवर्तन-विन्दु सिद्ध हुआ। गौतम बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष मे जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय फले-फूले, सब जीवन को दुःखप्रधान मानते रहे। बौद्धदर्शन के दुःखवाद का प्रभाव हम सभी परवर्ती दर्शनों पर पाते हैं।

(१) आस्तिक षड्दर्शन—

जीवन और जगत् के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन ने आत्मा का निषेध करके भारतीय आध्यात्मिक विश्वासों

1—"Intution was giving way to inquiry, religion to philosophy, the marvellous uncertainty and ambiguity of existance, the discordant attempts to systematize the world, the bewildering chaos of arbitrary by ways, side streets and resting places of thought invented by suffering humanity trembling in fear and delighting in the new and untried, the desert of unbelief, exhaustion and frigidity in the midst of energy, youth and enterprise, make the epic period an eventful era in the History of Indian thought"

Indian Philosophy, Vol I, p. 272.

२—देखिए—अकर्मण्यतावादी, भोगवादी और तपस्यावादी विचारों के लिए, 'दर्शन-दिग्दर्शन' पृ० ४८५-४९९।

को भीषण आघात पहुँचाया था। आस्तिक षड्दर्शन ने बुद्ध के क्षणवाद और अनात्मवाद का विरोध किया और आत्मवाद की पुन प्रतिष्ठा की, किन्तु जीवन और जगत् के प्रति निराशावादी धारणाओं का वे परित्याग न कर सके।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने बुद्ध के क्षणवाद का खण्डन करके आत्मा की शाश्वत् सत्ता की प्रतिष्ठा की किन्तु जगत् और जीवन के प्रति निराशात्मक दृष्टि ही रखी। न्याय-वैशेषिक कर्म का निषेध करके अपवर्ग अथवा निःश्रेयस-प्राप्ति के लिए ज्ञान की ही उपादेयता स्वीकार करता है और धर्म, अर्थ एव काम के स्थान पर केवल मोक्ष को पुरुषार्थ मानता है। मोक्ष की धारणा भी न्याय-वैशेषिक के अनुसार अधिक आशावादी नही है क्योंकि मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य और आनन्द से रहित सत्तामात्र रह जाती है। मोक्षावस्था केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का नाम है।[1] आनन्द की भावात्मक अनुभूति उस अवस्था में आत्मा को नही होती। कर्म अथवा भोगों में प्रवृत्तिमात्र को न्याय-वैशेषिक दोष मानता है,[2] अत जीवन का उसमें स्पष्ट निषेध है।

सांख्य-योग का तत्व-चिन्तन न्याय-वैशेषिक शास्त्र से अधिक आशावादी है। योग-शास्त्र चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा मोक्ष का मार्ग प्रदर्शित करता है और सांख्य प्रकृति और पुरुष के यथार्थ ज्ञान को कैवल्य-प्राप्ति का साधन मानता है। सांख्य-योग मोक्षावस्था में सत् और चित् दोनो गुणों की आत्मा में अवस्थिति मानता है। पुरुष का प्रकृति के सयोग से मुक्त होकर अपनी अवस्था मे अवस्थित हो जाना ही मोक्ष है। जीव अविद्या के कारण प्रकृति से अपने सयोग का जो अनुभव करता है वही दुःख का हेतु है। अत सांख्य-योग भी दुःख से छूटने को ही मोक्ष मानता है। मोक्षावस्था मे आनन्द की भावात्मक अनुभूति न होने के कारण मोक्ष का विचार सांख्य-योग में भी अधिक आशावादी नहीं है।

पूर्व मीमासा एव उत्तर मीमासा वैदिक विचारो की पुन प्रतिष्ठा करती हैं। पूर्व मीमासा का विषय वैदिक कर्म-काण्ड का समर्थन

१—दु.खापये चात्यन्तिकोपवर्गो नि.श्रेयसम् (वात्स्यायन भाष्य, १।१।२)

२—प्रवर्त्तनालक्षणा· दोषा· (न्याय-सूत्र, १।१।२८)

करना है, अतः मीमांसा-दर्शन की जीवन और जगत् के प्रति अधिक आशावादी दृष्टि है। पूर्व मीमांसा का कर्म पर विशेष बल है। उत्तर मीमांसा का विषय ज्ञान-कांड होने के कारण मोक्ष प्राप्ति पर अधिक जोर दिया गया है। उत्तर मीमांसा वेद-विरोधी सभी नास्तिक दर्शनो का खण्डन करके वैदिक विचारधारा की पुनः स्थापना करती है।

उत्तर मीमांसा पर की गई शंकर की टीका इतनी अधिक प्रामाणिक एवं विद्वत्तापूर्ण है कि शंकर के अद्वैतवाद को ही वेदान्त समझा जाता है। वेदान्त की मोक्ष विषयक धारणा शेष सब दर्शनो से अधिक आशावादी है। आत्मा सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, जिसकी अपने स्वरूप मे स्थिति जीव का मोक्ष है। वह न कभी आबद्ध है न मुक्त, अतः मोक्ष शब्द निरर्थक है। माया (अज्ञान) के आवरण के द्वारा जीव को जगत् का बोध होता है। वास्तव मे जगत् मिथ्या है जीव भी ब्रह्म ही है—ब्रह्म से अन्य कोई दूसरी सत्ता नहीं।

शंकर का मायावाद दार्शनिक क्षेत्र मे चाहे जितना आशावादी हो, व्यवहार मे वह जीवन, जगत् और सामाजिक कर्तव्यो के प्रति उदासीनता उत्पन्न किए विना नही रह सकता। संसार को मिथ्या समझने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्वो की सहज ही अवहेलना कर सकता है। आधुनिक रहस्यवादी कवि राष्ट्रीय संघर्ष से विमुख होकर जब शून्य में अभिसार करते हैं, अज्ञात प्रियतम की आराधना करते हैं अथवा माया के अन्धकार मे अपने प्रियतम से आँख-मिचौनी खेलते है, तो उनकी सामाजिक कर्तव्यों के प्रति उदासीनता स्पष्ट हो जाती है। शांकर वेदान्त ने बुद्ध के अनात्मवाद को पराजित किया, किन्तु पाखंडियो और दम्भियो के लिए रास्ता साफ कर दिया। अपने को मूर्तिमान ब्रह्म माननेवाले अनेक प्राणी उत्पन्न हो गए। इस मिथ्यावाद का विरोध हम भक्तिवादी दर्शन मे पाते हैं। शंकर भी अद्वैतवाद की सीमाओं से अपरिचित नही थे। उन्होंने दर्शन के दो पक्ष किए है—पारमार्थिक एवं व्यावहारिक। पारमार्थिक पक्ष मे शंकर अद्वैतवादी है जो दार्शनिक चिन्तन की अन्तिम कोटि है। पारमार्थिक पक्ष मे ही वे कर्म और उपासना का खण्डन करके केवल ज्ञान-मार्ग को साधन के रूप मे स्वीकार करते हैं। व्यावहारिक पक्ष मे उन्हे ब्रह्म, जीव और जगत् सबकी स्थिति

स्वीकार है; उपासना और कर्म भी स्वीकार हैं। परमार्थ की प्राप्ति के लिए शंकर केवल सन्यासियों को ही अनुमति देते है जो अपने लौकिक कर्तव्यो का सम्पादन कर चुके हैं। "नारि मुई घर सम्पति नासी" वाले जीवन से पलायन करने वाले भीरुओं के लिए अद्वैत वेदान्त का मार्ग सुगम नहीं बतलाया गया।

(४) भक्तिवादी दर्शन—

जिस प्रकार बुद्ध के क्षणवाद एवं अनात्म वाद के विरुद्ध षड्दर्शनो ने अपनी लेखनी उठाई थी उसी प्रकार शंकर के मायावाद का विरोध वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों ने किया जिसकी प्रतिध्वनि हम सूर आदि हिन्दी-कवियो मे पाते हैं। वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रभाव ११ वी शती के पश्चात् जन-मन पर पड़ना प्रारम्भ होता है और यही समय भारतवर्ष के राष्ट्रीय अध पतन एव हिन्दी साहित्य के निर्माण का है। अत भक्ति-भावना में निराशावादी तत्वो की समीक्षा करने के पूर्व एक दृष्टि तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर भी डाल लेना अपेक्षित है।

राजनीतिक स्थिति—

हर्ष की मृत्यु (६४६-४७ ई०) के पश्चात् से लेकर पानीपत के प्रथम युद्ध (१५२२ ई०) तक की लम्बी अवधि भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास मे घोर अशान्ति एव अस्थिरता का समय है। इस दीर्घ अवधि में न मालूम कितने राज्य बने और बिगड़े, कितने वाह्य आक्रमण हुए, कितनी आन्तरिक लड़ाइयाँ हुई और परिणाम-स्वरूप कितना नर सहार हुआ, किन्तु कोई भी राज-वश भारतवर्ष मे स्थायी शासन स्थापित न कर सका। राजनीतिक अराजकता का समय सामाजिक अराजकता का भी युग होता है, और वाह्य अशान्ति मनुष्य के अन्तर्जगत मे भी अशान्ति उत्पन्न कर देती है। हर्ष के केन्द्रीकृत साम्राज्य के विध्वंस के पश्चात् हूणो और मुसलमानों के आक्रमण हुए। मुसलमानो के आक्रमण राज्य-विस्तार और लूट के साथ-साथ तलवार के द्वारा इस्लाम के प्रचार के लिए भी हुआ करते थे। मुसलमानो की धर्मान्धता हिन्दुओ के सांस्कृतिक स्मारक मन्दिर, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय आदि—को नष्ट करने मे अपना गौरव समझती थी। इन अत्याचारों का हिन्दुओ के सामाजिक जीवन पर कुप्रभाव पड़े बिना नही रह सकता था। उनमे हीनता के संस्कार उत्पन्न होने लगे थे। जगत् की दु खमयता एवं जीवन की नश्वरता की अनुभूति, जो एक समय केवल

साधना का विषय समझी जाती थी, इन राजनीतिक अत्याचार और अशान्ति के कारण प्रत्यक्ष अनुभव होने लगी थी।

सामाजिक स्थिति—

मुसलमानी आक्रमणों का हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था पर एक प्रभाव यह पड़ा कि उनकी समाज-व्यवस्था विशृंखलित हो गई। वर्ण और आश्रम मर्यादा का लोप होने लगा। एक ओर 'बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम ते कछु घाटि' की आवाज सुनाई पड़ने लगी और दूसरी ओर 'नारि मुई गृह संपति नासी, मूड़ मुड़ाइ होइ संन्यासी' की समाज में शिकायत होने लगी। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के स्थान पर समाज में छोटी-छोटी जातियाँ और उपजातियाँ बनने लगी। स्मार्त धर्म में अब वह शक्ति नहीं रह गई थी जो समाज को एकता के सूत्र में बाँध सके। सामाजिक बहिष्कार करने पर लोगों के सम्मुख धर्म-परिवर्तन का मार्ग खुला हुआ था। राजनीतिक अशांति एवं सामाजिक कलह से पीड़ित हिन्दू-समाज को न तो औपनिषद् परा विद्या शान्ति का सन्देश दे सकती थी और न षड्शास्त्र की चर्चा। स्मृतियों द्वारा की गई समाज-व्यवस्था का भव्य भवन इस समय धराशायी होने लगा था।

सांस्कृतिक स्थिति—

तक्षशिला, नालन्द आदि विश्वविद्यालयों का विध्वंस होने के पश्चात् वैदिक दर्शन एवं प्राचीन शास्त्रों का लोप होने लगा था। कम से कम सामान्य जन-समाज का उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था। राजनीतिक अशान्ति के युग में एकाग्र अध्ययन-अध्यापन भी सम्भव नहीं था। जनता में अन्ध विश्वास एवं रूढ़ियों का प्रचार होने लगा था। मत-मतान्तर, अन्ध विश्वास और रूढ़ियों के जाल में फँस कर प्राचीन संस्कृति का विलोप-सा होने लगा था। सांस्कृतिक अधःपतन का अवश्यम्भावी प्रभाव समाज के नैतिक स्तर पर पड़ता है। अतः तुलसी की निम्नाङ्कित उक्तियाँ केवल कवि-कल्पना नहीं मानी जा सकतीं—

सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव विप्र श्रुति संत विरोधी॥
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥

सौभागिनीं विभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥[1]

सास्कृतिक और नैतिक अध पतन के युग में जीवन के उच्च आदर्शों की अवहेलना स्वाभाविक-सी थी।

धार्मिक स्थिति—

राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधोगति के युग में धर्म के भव्य एव सात्विक रूप का लुप्त हो जाना स्वाभाविक था। धार्मिक विश्वासों के क्षेत्र मे यह समय दम्भ, पाखण्ड एव व्यभिचार का युग था। बौद्ध धर्म का वैराग्य एव नैतिक आदर्शों का स्वरूप नष्ट हो चुका था। बुद्ध की मूर्तिरूप में उपासना होने लगी थी एव अन्य अनेक देवी-देवताओं को पूजा जाने लगा था। बौद्ध आदर्शों को अपनाने वाले हीनयान सम्प्रदाय के स्थान पर अब वज्रयान, मन्त्रयान आदि बहुत से मतवाद प्रचलित होने लगे थे, जिनका उद्देश्य निर्वाण-प्राप्ति के स्थान पर शरीर को बज्र के समान दृढ़ बनाकर काम-सुखों का अधिकाधिक उपभोग करना था। जन्त्र-मन्त्रों के द्वारा अलौकिक शक्तियो को प्राप्त करना साधना का अग बन चुका था। सिद्धो और शून्यवादियो की तपस्चर्या में स्त्री-सेवन सहजानन्द प्रदान करने वाला बन गया था।[2] इन सिद्धो के व्यभिचार की सीमा केवल एकान्त विहारो तक ही सीमित नही थी। यह लोग अपनी भ्रष्ट कुटनियों के द्वारा कुलस्त्रियो को भी आकर्षित किया करते थे।[3]

वैदिक धर्म का भी प्राचीन रूप लुप्त हो चुका था। शैव और शाक्त वामाचारियों में भी मद्य, मैथुन, मत्स्य आदि पच 'मकार' साधना का तत्व बन चुके थे। वामाचार का प्रचार बढ़ता जा रहा था। अघोरी, कापालिक, तान्त्रिको आदि वामाचारियो का श्मशान-सेवन, मनुष्य-बलि आदि क्रियाएँ समाज के भय का कारण बन चुकी थी। धर्म के सात्विक आदर्श प्राय लुप्त हो चुके थे। तुलसीदास का 'कलि-युग' वर्णन तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विशद वर्णन करता है—

१—रामचरितमानस, उत्तर काण्ड पृ० ६२०–२१।
२—देखिए—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ८।
३—देखिए—हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ६।

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहुपंथ ॥
सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड।
मान मोह मारादि मद व्यापि रहे ब्रह्मण्ड ॥
तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।
देव न बरसहि धरनी बए न उपजहिं धान ॥

मारग सोइ जा कहुँ जेइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ज्ञानी सो विरागी ॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥[1]

समाज की इस शोचनीय स्थिति को एक ऐसे दर्शन और ऐसी नवीन संस्कृति की आवश्यकता थी जो उक्त सभी बुराइयो को दूर करके जीवन का नवीन आदर्श उपस्थित करे तथा जनता को आशा और विश्वास का संदेश दे सके; जो समाज मे फैली हुई अराजकता को दूर करके उसे सदाचार का मार्ग प्रदर्शित करे एवं समाज को एकता के सूत्र में बाँध सके। यह कार्य वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों ने किया। उत्तरी भारतवर्ष में जिस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अराजकता फैली हुई थी, दक्षिणी भारतवर्ष मे वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय जन्म ले रहे थे। इन दाक्षिणात्य सम्प्रदायों ने उत्तरी भारतवर्ष मे फैलकर जनता को शान्ति प्रदान की, नैतिक आदर्शों की रक्षा की, समाज को व्यवस्थित किया एवं समाज मे एक नवीन धर्म, नवीन आदर्श और नवीन संस्कृति का प्रचार किया। इस नवीन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता थी, सामाजिक मर्यादाएँ थीं एवं जनता के लिए योगक्षेम का आशावादी सन्देश था। इनकी साधना के क्षेत्र में कर्म, ज्ञान एवं उपासना सभी मान्य थे। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि वैष्णव सम्प्रदाय भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति का समन्वित संस्करण थे।

वैष्णव सम्प्रदायो के दर्शन में यद्यपि विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि सूक्ष्म भेद हैं, किन्तु सभी सम्प्रदाय भक्ति के क्षेत्र मे शांकर

१—रामचरितमानस, पृ० ६१६,६२०,६२२।

मायावाद के विरोधी हैं। उपासना के क्षेत्र मे सूक्ष्म भेद होते हुए जीवन और जगत् के प्रति सबका प्राय एकसा दृष्टिकोण है। कबीर जैसे ज्ञानमार्गी भक्तों का झुकाव यद्यपि अद्वैतवाद की ओर है, किन्तु वे भी वैष्णव भक्ति-भावना से बिना भीगे नहीं रह सके हैं। अत ज्ञानमार्गी सतों को भी भक्ति-सम्प्रदाय में सन्निहित करके उसका (भक्ति सम्प्रदाय का) जीवन-जगत्, जीवात्मा एव परमात्मा के प्रति सामान्य दृष्टिकोण जान लेना पर्याप्त होगा।

जीवन और जगत्—

भक्त-कवियो के जीवन-दर्शन के विषय में इदमित्थ कहना बडा कठिन है। जिस भक्ति-भावना ने शताब्दियों तक समाज के सांस्कृतिक एवं नैतिक आदर्शों की रक्षा की और जीवन को सरस बनाया, उसके जीवन-दर्शन को निराशावादी कह देना अनुचित होगा। वैष्णव भक्ति विचार के स्थान पर भाव-प्रधान होने के कारण दार्शनिक चिन्तन को विशेष महत्व नहीं देती। भक्तों के लिए भक्ति-विरोधी जीवन और जगत् मिथ्या है एवं त्याज्य है। किन्तु हृदय को ईश्वर-भक्ति में लगाने के पश्चात् उनको तत्त्व-दर्शन की कभी चिन्ता नही रही। भक्त-कवियों ने जहाँ-कही जगत् को मिथ्या या माया कहा है वहाँ उनका सकेत भक्ति-विरोधी काम-क्रोधादि मनोविकारों से रहा है। ज्ञानी कबीर के लिए 'हरि नाव विना' जगत् झूठा है—

धन धन्धा व्यौहार सब, माया मिथ्या वाद।
पाणी नीर हलूर ज्यू, हिरि नाव विना अपवाद ॥[1]

किन्तु इस मिथ्या का अभिप्राय जगत् की असत्यता नही है। जगत् सत्य है क्योंकि उसकी रचना ईश्वर ने की है—

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलाना सो किनहू न चीन्हा।
सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण माझै आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनन्द सरूपा, गुन पल्लव विस्तार अनूपा।
साखा तत थैं कुसुम गियाना, फल सो आछा रांम का नामा ॥[2]

माया शब्द का प्रयोग यहाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति के लिए किया गया है। यह जगत् इन तीनों गुणों का विस्तार है। किन्तु इस सम्पूर्ण

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १८८।
२—कबीर-ग्रन्थावली पृ० २२५।

विस्तार के भीतर केवल एक राम का नाम सार तत्व है इसी की प्राप्ति मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है।

तुलसीदास ने भी शांकर अद्वैतवाद का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है और संसार को मिथ्या बताया है। यथा—

हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहि कृपा तुम्हारी ॥
अर्थ अविद्यमान जानिय ससृति नहि जाय गुसाईं।
बिन बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीर की नाईं ॥
सपने व्याधि विविध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
वैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई ॥
श्रुति-गुरु-साधु-समृति-संमत यह दृश्य असत दुखकारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी ॥[1]

किन्तु शंकर का झुकाव जहाँ ज्ञान-मार्ग की ओर था, वैष्णव कवियो ने भक्ति का आलम्ब ग्रहण किया है। कृष्ण के प्रेम मे रँगे हुए सूरदास ने भी मायावाद का प्रतिपादन किया है। माया के कारण जीव को अद्वैत के स्थान पर द्वैत का बोध होता है और वह द्वैतजनित द्वन्द्व-दुःख से पीड़ित रहता है—

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो।
जैसे श्वान काँच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूकि मर्यो ॥
हरि-सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृण सूँघि मर्यो।
ज्यों सपने में रङ्क भूप भयो तस करि अरि पकर्यो ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि कै आपुन कूप पर्यो।
सूरदास नलनी को सुवटा कहि कौने जकर्यो ॥[2]

इस भ्रम का विनाश करने के लिए भक्त कवि भगवान् की शरण में जाते हैं और उसकी भक्त-वत्सलता पर विश्वास करते हैं। अस्तु।

भक्त कवियो ने दर्शन-शास्त्रों से उतनी प्रेरणा ग्रहण नहीं की जितनी पुराणो से, अत. जीवन और जगत् का तात्विक चिन्तन उन्होंने प्राय. नहीं किया है। उनके लिए धर्मार्थ, काम और मोक्ष के स्थान पर

१—विनय-पत्रिका, पद-सख्या १२०।
२—संक्षिप्त सूरसागर पृ० २३।

भक्ति-भावना ही जीवन का लक्ष्य रही है। जीवन के भोग, सुख, सम्पत्ति आदि उनके लिए सब त्याज्य हैं। "जग से छत्तीस रहकर राम-चरण में छै तीन" रहना उनका उद्देश्य रहा है। किन्तु जीवन और जगत् के प्रति यह वैराग्य-भावना उनकी भक्ति का एक पक्ष है, जो केवल साधकों के लिए है। साधारण जन-समाज के लिए उनके कृष्ण की ललित लीलाएँ एवं मर्यादा पुरुषोत्तम राम का आदर्श चरित्र है। कृष्ण का मोहक चरित्र जहाँ हृदय को रस-मग्न करने वाला है, वहाँ राम का लोक-रक्षक स्वरूप समाज की नैतिक मर्यादाओं की रक्षा करने वाला है। भक्त कवियो द्वारा प्रतिपादित राम और कृष्ण का दिव्य चरित्र जन-साधारण को आशावाद का संदेश देने वाला है। राम का मानवीय चरित्र समाज के सम्मुख जीवन के विभिन्न आदर्श उपस्थित करता है। अत केवल दार्शनिक विचारों के आधार पर ही उसे निराशावादी नहीं कहा जा सकता। वैष्णव हिन्दी-कवियो में द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैतादि सभी दार्शनिक विचार भिन्न-भिन्न प्र नगो में मिलते हैं, इसलिए जीवन और जगत् के विषय में व्यक्त किए गए उनके विचारों की शास्त्रीय समीक्षा करना कठिन है।

जीवात्मा और परमात्मा—

दीनता और मानमर्दन आदि आत्महीनता की भावनाएँ भक्ति का आवश्यक अग मानी गई हैं। अत भक्त-कवियों ने जहाँ जीवात्मा का चित्रण किया है, उसमे आत्मविषयक निराशावादी भावनाएँ प्राय सन्निहित हैं। भक्त अपने भगवान् के सम्मुख सदैव दीन, मलिन, पापी, कामक्रोधादि से त्रस्त रूप में समुपस्थित होता है और भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करके अपने उद्धार की याचना करता है। किन्तु भक्त-कवियों की आत्म-विषयक उक्तियों को हम आत्मगत निराशावाद नही कह सकते। उनके सामने भगवान् का पतित-पावन रूप सदैव उपस्थित रहता है और अपनी दीनता का निवेदन करने के पश्चात् वे विश्वस्त हो जाते हैं कि उनकी दुर्गति नही हो सकती। जहाँ वे अपनी सामर्थ्य के प्रति निराश हैं, भगवान् की भक्त-वत्सलता के प्रति आशान्वित हैं। भक्त और भगवान् के इस सम्बन्ध की पुष्टि में ,भक्त कवियों की राशि-राशि कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं; आज भी समाज में वे प्रचलित हैं, अत यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है। अस्तु।

राजनीतिक पराधीनता एवं जातीय अतःपतन के दीर्घ युग में भक्ति-सम्प्रदायों ने जनता को आशा का सन्देश दिया, सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा की एवं उसके दुखी हृदय को धीरज बँधाया। पराधीनता के पाश में आबद्ध हिन्दी-जनता राम और कृष्ण के नाम के सहारे दुःखो से कराहती रही किन्तु हताश नहीं हुई। प्रस्तुत प्रबन्ध का आलोच्य-काल ईसा की १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है। इस समय में वैदिक-दर्शन का अध्ययन-अध्यापन साधारण जन-समाज से लुप्त हो चुका था। षड्शास्त्रों की चर्चा भी प्रायः लुप्त थी, किन्तु भक्ति-भावना जनता में प्रचलित थी। भक्ति-भावना मे इस काल तक वह उन्मेष तो नहीं रह गया था जो १६ वीं एवं १७ वीं शताब्दियों में था, किन्तु जनता की धार्मिक आस्था का प्रमुख आधार सूर-तुलसी आदि भक्त कवियों द्वारा प्रतिपाद्य राम-कृष्ण की भक्ति ही थी, जिसका प्रचार और प्रसार सम्पूर्ण भारतवर्ष मे था।

१६ वी शती नव-जागर्त्ति का भी समय था। पाश्चात्य जातियों के सम्पर्क मे आने के कारण राम-कृष्ण की भक्ति-भावनाएँ साम्प्रदायिक समझी जाने लगी थीं। पुराणों द्वारा प्रतिपाद्य अवतार-वाद मनीषियो की शंका और तर्क का विषय बनता जा रहा था। धर्म अथवा दर्शन अब किसी जाति विशेष के विश्वास और श्रद्धा तक सीमित नही रह सकता था। अतः १६ वीं शती के विचारको की दृष्टि साम्प्रदायिक भक्ति-भावना से हटकर किसी ऐसे जीवन-दर्शन की खोज करना चाहती थी जो सार्वभौम हो। फलतः उनकी दृष्टि वैदिक-दर्शन और वैदिक-धर्म पर पड़ी जो साम्प्रदायिक संकीर्णताओ से मुक्त था। राजा राममोहन राय (१७७६–१८३३ ई०) ने सन् १८२८ में ब्रह्म-समाज की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती (१८२४–८३ ई०) ने सन् १८७५ में आर्य-समाज को स्थापित किया। विवेकानन्द (१८६३–१९०२ ई०) ने विदेशों मे जाकर अद्वैत वेदान्त का प्रचार किया। अतः १६ वीं शती को हम नव-जागर्त्ति एवं वैदिक-दर्शन के पुनर्जन्म का युग कह सकते हैं। २० वी शती मे रवीन्द्रनाथ टैगोर, राधाकृष्णन आदि मनीषियो ने भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन का भव्य रूप यूरोप की जनता के सम्मुख उपस्थित किया। उक्त मनीषियों के दार्शनिक विचारों का आधार उपनिषद् एवं वेदान्त दर्शन ही रहा है।

१६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब वैदिक-दर्शन का प्रचार हो रहा था हिन्दी-कवि अपनी भक्ति-भावनाओ में ही लीन थे। हिन्दी-साहित्य ने नव-जागर्त्ति के अग्रदूत भारतेन्दु और उनके मण्डल के अन्य कवि भक्ति-भावना के वातावरण में पले हुए थे अत. वे ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज या वेदान्त को न अपना सके। द्विवेदी-युग (१६००–१६२२ ई०) के कवियो ने भी भक्ति-भावना का परित्याग प्राय नहीं किया। अत-यहाँ १६ वी शती के मनीषियो के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करना अनावश्यक है। अस्तु।

पाश्चात्य निराशावादी विचारो की समता भारतीय-दर्शन मे पाना कठिन है। प्राचीन काल में बौद्ध जैसे वैराग्य-मूलक धर्म में जीवन और जगत् के प्रति अनेक निराशावादी विचार विद्यमान थे, किन्तु कालान्तर में उसका लोप हो गया। भारतीय-दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन होने के कारण यद्यपि जीवन के उपभोग और ऐश्वर्यों के प्रति उदासीन है और जीवन की क्षणिकता एवं जगत् की अनित्यता पर उसका विशेष बल रहा है, किन्तु आत्मा की अमरता के सम्मुख वह इस नश्वरता की अधिक चिन्ता नही करता। पाश्चात्य दर्शन की सीमा जहाँ केवल वर्तमान जीवन तक परिसीमित रहती है, भारतीय दर्शन शाश्वत् जीवन में विश्वास करता है। अत वर्तमान के दु खो की उपेक्षा करके वह भावी जीवन को भव्य और आनन्दपूर्ण बनाना चाहता है। मृत्यु उसके लिए कभी भय का कारण नही बन सकी। वर्तमान दु खो ने उसे भावी सुखो की ओर से कभी निराश नहीं किया। वर्तमान मे यदि उसे दु ख और अप्रत्याशित कठिनाइयों का सामना करना पडता है, तो वह जगत् और उसकी व्यवस्था के प्रति निराशावादी नहीं बन जाता। अपनी आपत्तियो को वह नियति जैसी क्रूर शक्ति के द्वारा नियोजित नहीं मानता अपितु अपने ही पूर्वकृत कर्मो का फल मानता है—जिसे भाग्य, विधि, दैव, प्रारब्ध आदि चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। अपनी असफलताओ और दु खों का कारण अपने मे ही खोजने के कारण वह जगत् की अच्छाई के प्रति निराशावादी होने से बच जाता है। कर्म-व्यवस्था में विश्वासी होने के कारण वह जीवन से पलायन नहीं करता और न जीवन का अन्त कर देने की बात ही सोचता है, क्योंकि उसे विश्वास है कि पूर्वकर्मों का फल उसे मृत्यु के पश्चात् भी भोगना पड़ेगा। यदि वह लौकिक जीवन को जरामृत्युपूर्ण मानता है तो उसके सम्मुख एक

शाश्वत् जीवन की प्राप्ति का भी आदर्श विद्यमान है, जो सब प्रकार की व्याधियों से मुक्त है। इस दिव्य जीवन की प्राप्ति को ही वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता है। अतः उसमें निराशावाद का पाश्चात्य रूप पाना दुर्लभ है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य मे भी पाश्चात्य निराशावाद की क्षीण अभिव्यक्ति केवल उन कवियो की रचनाओ में मिलती है जो पाश्चात्य विचारो से प्रभावित हैं; अन्यथा आधुनिक हिन्दी-काव्य का निराशावाद आधुनिक काल की सामाजिक परिस्थितियो का परिणाम है। उसका दुख और निराशा तत्कालीन परिस्थितियो की उपज है, जिसका अध्ययन हम प्रस्तुत प्रवन्ध मे करेंगे।

अध्याय २

भारतेन्दु-युग (सं० १९३०–१९५७ वि०)

अध्याय २

भारतेन्दु-युग (सं० १९३०–१९५७ वि०)

भारतेन्दु-युग के निराशावाद की सीमा—

भारतेन्दु-युग के आधुनिक काव्य की आत्मा राष्ट्रीय चेतना है। भारत-भूमि, भारतीय समाज-व्यवस्था और भारतीय जनता की वस्तु-स्थिति का चित्रण करना उसका मुख्य विषय है। राष्ट्रीय चेतना की जागर्त्ति प्रतिकूल परिस्थितियो मे होने के कारण भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय-काव्य मे निराशावाद की निम्नलिखित मनोवृत्तियो का प्राधान्य है—

(१) भारतवर्ष के चतुर्दिक अध पतन की अनुभूति, किन्तु अभ्युत्थान की आशा का प्राय. अभाव।

(२) समाज के केवल दोप-दर्शन की प्रवृत्ति, परन्तु दोपो से मुक्त होने के प्रोत्साहन का अभाव।

(३) वर्तमान व्यवस्था के प्रति भीपण असन्तोप और भविष्य के आशामय स्वप्नो के अभाव मे अतीत की ओर प्रतिगमन।

(४) पराभव की अनुभूति और पुनरुत्थान की निराशा से उत्पन्न चिन्ता, क्षोभ, विपाद, आत्महीनता, आत्मग्लानि आदि दु.खात्मक मनोभावो की अभिव्यंजना।

भारतेन्दु-युग का निराशावाद इन्ही मनोवृत्तियो और अनुभूतियो तक सीमित है। निराशावाद के मौलिक तत्व—जीवन और जगत् को दु खमय सिद्ध करने वाले विचारो का जहाँ तक सम्बन्ध है, भारतेन्दु-युग के आधुनिक काव्य से उनका नितान्त अभाव है। इस युग के राष्ट्रीय काव्य मे उपर्युक्त निराशावादी प्रवृत्तियो का प्राधान्य होने के कारण हम भारतेन्दु-युग को राष्ट्रीय निराशावाद का युग और राष्ट्रीय काव्य की प्रेरणा देने वाली विचारधारा को राष्ट्रीय निराशावाद कह सकते है। राष्ट्रीय निराशावाद का सम्यक् अनुशीलन ही प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य है।

राष्ट्रीय निराशावाद की सर्वव्यापकता--

भारतेन्दु-युग के आधुनिक काव्य मे राष्ट्रीय निराशावाद एक सर्वव्यापक अनुभूति है, क्योंकि सामाजिक लोकगीतों से लेकर राजदरबार में पढ़ी जाने वाली कविताओ तक में इसकी अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। चाहे किसी ब्रिटिश राजकुमार के भारतवर्ष में आगमन के समय उसका स्वागत किया जा रहा हो, चाहे किसी युद्ध में ब्रिटेन की विजय पर उत्सव मनाया जा रहा हो और चाहे महारानी विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती पर विरुदावली गाई जा रही हो, कवि के हृदय मे देश की दुर्दशा से उत्पन्न उमडती हुई वेदना उसमें अवश्य अभिव्यंजित दिखलाई पडेगी। इतना ही नही, होली-दिवाली जैसे आनन्दोल्लास के अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीतों तक मे आर्थिक पराभव और सामाजिक अध पतन से उत्पन्न विवशता की एक कराह स्पष्टत सुनाई पड़ेगी। इस कथन की पुष्टि में उदाहरण-स्वरूप एक-दो कविताएँ पर्याप्त होंगी।

सामाजिक लोक-गीत—

भारतेन्दु-युग मध्यकालीन जीवन की मस्ती और निश्चिन्तता तथा आधुनिक युग की चिन्ता और स्फूर्ति का मिलन-विन्दु है। समाज में होली-दिवाली जैसे सामूहिक उत्सवो पर आनन्द की एक लहर दौड जाती थी और अमीर-गरीव का भेद-भाव भुलाकर सभी लोग सामूहिक लोक-गीतो की मस्ती मे झूमने लगते थे। सम्पूर्ण वातावरण समयानुकूल शृंगारिक, भक्ति-विषयक और हास्यपूर्ण गीतो से गूँजने लगता था। परन्तु आर्थिक व्यवस्था की क्षीणता और पराधीनता की तीव्र अनुभूति इन आनन्दमय त्योहारो पर भी कवियो को निराशावादी गीत गाने को विवश कर देती थी। जैसे—

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी॥

× × ×

फूँक्यौ सव कछु भारत नै कछु हाथ न हाय रहो री।
तव रोग्रन मिस चेती गाई भली भई यह होरी।
भलो तेहवार भयोरी॥[1]

१---'मधु-मुकुल' (स० १६३७) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ४०५, ४०७।

लोक-गीतों में वारहमासा अत्यन्त प्रचलित गीत था जिसमे ऋतुओं के परिवर्तन के साथ किसी विरहिणी की व्यथा-वेदना का वर्णन किया जाता था। राधाकृष्णदास इस लोक-गीत मे भारत की दुर्दशा पर आँसू वहाते हैं—

लाग्यौ असाढ़ सुहावना सब देस मिलि मंगल करे।
यूरप अमेरिका फ्रान्स जरमन मोद जिय में नहिं धरें।
एक हम अभागे देश भर के बैठि के रोवत रहें।[१] (आदि)

वालमुकुन्द गुप्त का हृदय नवदुर्गा का पूजन करते समय देश की दुर्दशा की व्यथा से भर आता है—

इतै दिवस पर का सुधि आई माइ।
भारत भवनहिं दरस दिखाये धाय॥

× × ×

जननि हिये की पीर जाति नाहीं कही।
वेगि निवारहु मातु दही काया दही॥[2]

साहित्यिक गोष्ठियाँ—

त्यौहारों के समान ही साहित्यिक गोष्ठियाँ भी आमोद-प्रमोद का साधन थीं। कविगण उनमे अपनी-अपनी समस्या-पूर्तियाँ सुनाया करते थे। कभी-कभी इन समस्या-पूर्तियो में भी देश की दुर्व्यवस्था से उत्पन्न क्षोभ की अभिव्यक्ति हो जाया करती थी। उदाहरण के लिये 'ग्रीष्मै प्यारे हिमन्त वनाइए' समस्या की पूर्ति भारतेन्दु इस प्रकार करते हैं—

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अव रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अव तो इन ग्रन्थन नीर डुवाइये॥
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्हैं दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह 'ग्रीषमै प्यारे हिमन्त वनाइये'॥[3]

१—'वारहमासा' (सन् १८६४), राधाकृष्ण-ग्रन्थावली, पृ० १३।
२—'आगमनी' (२३ सितम्बर १८६५), वालमुकुन्दगुप्त-निवन्धावली पृ० ५६७-६८।
३—'स्फुट कविताएँ', भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ८६६।

देता हो, युग-चेतना के रूप मे स्वीकार कर लेना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

राष्ट्रीय निराशावाद—एक युगपरिवर्तनकारी अनुभूति—

शताब्दियों तक वैराग्य और भक्ति-भावना में विश्राम करने वाली, राज-दरबारो की विरुदावली और नरेशो की जय-पराजय के गीत गाने वाली एव नायक-नायिकाओ की रति-क्रीड़ा और हास-विलास का रसपान करने वाली हिन्दी-कविता का देश की दुर्दशा पर सहसा आँसू बहा उठना, हिन्दी-काव्य के इतिहास में एक आश्चर्यजनक और महत्वपूर्ण घटना है। जिन विद्वान् समीक्षको ने भारतेन्दु-युग पर अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किए हैं, प्राय उन्होंने आधुनिक काव्यधारा का उद्भव १६ वी शती के उत्तरार्द्ध से माना है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे युग-परिवर्तनकारी तत्व और आधुनिक काव्य के प्रारम्भ-विन्दु को निर्धारित करने में गम्भीरतापूर्वक प्रयत्नशील नही हुए।

डा० वार्ष्णेय आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेन्दु द्वारा लिखित 'स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका' की तिथि के आधार पर स० १६१८ (सन् १८६१) से मानते है। आपकी मान्यता का आधार है कि वह 'एक नए विषय की रचना थी'।[1] 'श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका' ११ वर्ष के बालक की शब्द-क्रीड़ा है, जो कविता तक कहलाने की अधिकारिणी नहीं, अत उक्त तिथि से आधुनिक युग का आरम्भ मानना समीचीन नही प्रतीत होता। डा० वार्ष्णेय ने युग-परिवर्तन के कारण को भी सम्यक् रूप से निश्चित नही किया।

डा० श्रीकृष्णलाल दिल्ली में लिथो-प्रेस की स्थापना के आधार पर सन् १८३७ को 'आधुनिक काल का प्रारम्भिक वर्ष' मानते हैं।[2] निस्सन्देह आधुनिक साहित्य के प्रचार और प्रसार मे मुद्रण-यन्त्रो का महत्वपूर्ण योग है; किन्तु युग-परिवर्तन का आधार यदि नवीन चेतना की अभिव्यक्ति को माना जाता तो अधिक समीचीन होता। मुद्रण-यन्त्र चेतना के प्रसार मे साधन हो सकते है, युग-परिवर्तन का आधार नहीं बन सकते।

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्य, पृ० २७६।

२—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० १५।

डा० केसरीनारायण शुक्ल आधुनिक हिन्दी-काव्य के प्रथम उत्थान का वर्ष सन् १८६५ मानते हैं। आपकी मान्यता का आधार है कि इस वर्ष 'भारतेन्दु ने साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया' था।[1] आज तक भारतेन्दु का जो कुछ साहित्य उपलब्ध हो सका है, उसमे कवि की ऐसी कोई महत्वपूर्ण रचना प्राप्त नही हुई, जो शुक्लजी के मत की पुष्टि कर सके। फलत सन् १८६५ को युगारम्भ का विन्दु नही माना जाना चाहिये।

संवत् १६३०-३१ मे भारतेन्दु 'जैन-कुतूहल', 'प्रबोधिनी' और 'मुँह-दिखावनी' जैसी महत्वपूर्ण कविताएँ लिखते है। इन कविताओ की विशेषता यह है कि इनमें कवि भक्ति और राजसम्मान प्रदर्शित करने के साथ-साथ देश-प्रेम की व्यंजना भी करने लगता है। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति ही वह तत्व है, जिसके आधार पर आधुनिक काव्य-धारा को प्राचीन काव्य-धारा से पृथक् किया जा सकता है। अत आधुनिक काव्य का प्रारम्भ सं० १६३०-३१ के पूर्व मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नही होता।

कवियो के हृदय मे देश-भक्ति की भावना को जागरित करने वाली और उनको देश और समाज की वस्तुस्थिति का चित्रण करने की प्रेरणा प्रदान करने वाली अनुभूति राष्ट्रीय पराभव की चेतना है। देश के अध पतन की चेतना और उससे उत्पन्न दु.ख, चिन्ता, क्षोभ आदि दु.खात्मक अनुभूतियाँ ही वे मनोवैज्ञानिक तत्व हैं, जो हिन्दी-काव्य-धारा को भक्तिकालीन आत्म-सन्तोष और रीतिकालीन मनोविलास तक ही परिसीमित न रखकर देश की दुर्दशा का चित्रण करने को विवश करते हैं। राष्ट्रीय अधोगति की अनुभूति मे कितनी चिन्ता एवं व्याकुलता सन्निहित थी इसका अनुमान भारतेन्दु द्वारा लिखित 'प्रबोधिनी' (सं० १६३१) की एक पंक्ति से लग सकता है—

'डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।'[2]

परम्परा के रूप में हिन्दी-काव्य में जो भक्ति-भाव-धारा प्रतिष्ठित थी, उसमें भक्त का अपने भगवान् के प्रति व्यक्तिगत आत्म-निवेदन हुआ करता था। देश के 'डूबने' की अनुभूति ने कवि का ध्यान अपने

१—आधुनिक काव्य धारा, पृ० २३।

२—'प्रबोधिनी' (सं० १६३१) भारतेन्दु-ग्रन्थावली पृ० ६८३।

व्यक्तित्व से हटाकर अपनी मातृभूमि की ओर आकर्षित कर दिया है। भारतवर्ष के विनाश को सामने उपस्थित देखकर जब उसे भारत के उद्धार का कोई उपाय नहीं सूझता तो वह भगवान् की शरण में मातृभूमि के कष्टों का निवेदन करके उसके उद्धार की दीन याचना करने लगता है। यदि किसी एक पंक्ति के आधार पर युग-परिवर्तन माना जा सके तो भारतेन्दु की उक्त पंक्ति निस्सन्देह एक नवीन युग की सूचना दे रही है। राष्ट्र के अध पतन की अनुभूति और उसके अभ्युत्थान की निराशा में वेदना की इतनी तीव्रता है कि वह भारतेन्दु-युग के काव्य में एक नवीन युग उपस्थित कर देती है। अत राष्ट्रीय निराशावाद ही एक युग-परिवर्तनकारी अनुभूति है, जिसके सम्यक् अनुशीलन के लिए हमें एक दृष्टि तत्कालीन परिस्थितियों पर डालनी पड़ेगी।

राजनीतिक परिस्थिति—

सन् १८५७ के राष्ट्रीय सग्राम की पृष्ठभूमि में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा किए गए राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक अत्याचारों का एक लम्बा इतिहास और हिन्दी-जनता की मुक्ति-कामना छिपी हुई है। अत्याचारों की प्रतिक्रिया एव मुक्ति-कामना से प्रेरित होकर देश की जनता ने विदेशी लुटेरो के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति की थी। क्रान्ति असफल हुई और वह जितनी प्रचण्डता से भड़की थी, उससे अधिक निर्दयता के साथ शान्त कर दी गई। रही-सही चिनगारियाँ विक्टोरिया के घोषणापत्र के शीतल वारि से बुझ गई।

विद्रोह की सफलता एवं दमन की निर्दयता भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय चेतना पर पराजय, आतक, आत्महीनता, विवशता और मुक्ति की असम्भावना आदि निराशात्मक सस्कार छोड गई थी।[1]

१—आतक की व्यजना—

बृटिश-सिंह के बदन कराला।
लखि न सकत भयभीत मुआला॥
फाटत हिय जिय थर-थर कम्पित।
तेज देखिकै दृग जुग झपत॥
कहि न सकत मन को दुख भारी।
झरत नैन जुग अविरल वारी॥

'भारत भिक्षा' (स० १९३२)—भा०-ग्रन्थावली, पृ० ७१०।

विद्रोह के पश्चात् देशी सामन्तों की शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई थी। पराभव की जागरूकता और निकट भविष्य में अभ्युत्थान की निराशा के कारण राष्ट्रीय उत्थान का उत्साह निष्क्रिय क्षोभ और आत्मालोचना का रूप प्राय धारण किए रह गया था।[1] रामचन्द्र शुक्ल की निम्नलिखित समीक्षा भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय निराशावाद पर अच्छा प्रकाश डालती है—'राजनीतिक और सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करने की वाणी दबी-सी रही। उसमें न तो संकल्प की दृढ़ता और न्याय के आग्रह का जोश था, न उलट फेर की प्रबल कामना का वेग। स्वदेश-प्रेम व्यंजित करने वाला स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं।'[2]

विक्टोरिया के घोषणापत्र में भारतीय जनता के लिये समान व्यवहार, धार्मिक सहिष्णुता, प्रजा की भलाई आदि के आशावादी

१—आत्महीनता, विवशता आदि निराशावादी अनुभूतियों से युक्त आत्मालोचना—

(i) जग के देस बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनकी है ऐसे ये बेहाल ॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईस-विमुख सब भए प्रजा नरनाह ॥
इनसों कछु आस नहिं ये तो सब विधि बुधि बल हीन।
बिना एकता-बुद्धि-कला के भए सबहि विधि दीन ॥

'भारत-दुर्दशा' (स० १९३७)—भा० नाटकावली, पृ० ४८०।

(ii) धन गयो विदेसन, बाल ब्याह बल खोयो।
प्रगटे मत कुमत अनेक प्रेम-पथ गोयो ॥
सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सोयो।
मूरख न सुनहि बुधवृन्द बहुत दुख गोयो ॥

मन की लहर, पृ० ३४।

२—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५५६।

वचन अवश्य सन्निहित थे,[१] किन्तु भारतेन्दु-युग के प्रारम्भ होते-होते उनकी सचाई में सन्देह उत्पन्न होने लगा था। सन् १८७७-७८ के लगभग जैसे ही भारत-कोष से धन व्यय करके साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध लड़े जाने लगे और जनता की शक्ति क्षीण करने के लिए 'प्रेस ऐक्ट' जैसे दमनकारी कानून बनने लगे, जनता का असतोष और बढ़ने लगा।[२] अँगरेजी शासन से उन्हें भारत के कल्याण की कोई

1 "Firmly relying ourselves on the truth of Christianity ...we disclaim alike the right and desire to impose our convictions on any of our subjects We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested or disquieted by reason of their religious faith "

"When by the blessings of Providence internal tranquillity shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry, to promote works of public utility and improvement and to administer its government for the benefit of all our subjects resident there in In their prosperity will be our strength, in their contentment our security and in their gratitude our best reward "

The Proclamation of Queen Victoria on Nov 1, 1858
Quoted from A History of Modern India, P 281.

२—अफगान युद्ध की समाप्ति पर सन् १८७७-७८ में लिखी गई 'विजय-वल्लरी' से इस असतोष का कुछ अनुमान लग सकता है—

ये तो समुक्त व्यर्थ सब यह रोटी उतपात।
भारत कोष विनास कों हिय अति ही अकुलात॥
ईति भीति दुष्काल सों पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन-नास को यह विनु काज कुयोग॥
स्ट्रेची डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध मझार॥
सबहि भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोग।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुं को लोक॥
सुजस मिलै अँगरेज कों होय रूस की रोक।
बढ़ै वृटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक॥

भा० ग्रन्थावली, पृ० ७६५।

आशा न रह गई थी। विद्रोह के भीषण दमन से आतंकित युग-चेतना शासन की अनीतियों का स्पष्ट शब्दों में विरोध करने में असमर्थ थी। शासन के विरुद्ध एक शब्द भी मुख से निकालना राजद्रोह जैसा भीषण अपराध माना जाता था, जिससे भारतेन्दु-युग के कवि और क्षुब्ध थे।[१]

सन् १८८० के पश्चात् राजनीतिक क्षोभ कुछ शान्त हुआ। सन् १८८० में इङ्गलैंड में ग्लेडेस्टन का उदार मंत्रि-मंडल बना। सन् १८८१ में भारत के लिए लार्ड रिपन जैसा उदार शासक भेजा गया। सन १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। इसी बीच में भारतवर्ष भीषण दुर्भिक्ष और महामारियों से त्रस्त होने लगा। दुर्भिक्ष और महामारियों का ताँता युग के अन्त तक बंधा रहा। प्राणरक्षा की चिन्ता ने राजनीतिक पराधीनता की अनुभूति को अस्थायी रूप से पीछे धकेल दिया। प्राण-संकट को अपने करालतम रूप में सामने उपस्थित देखकर जनता आतंक से त्राहि-त्राहि करने लगी। एक शब्द में अँगरेजी राज्य की स्थापना ने १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध की परिस्थितियों को इतना विषम बना दिया था कि उस युग में साँस लेने वाले कवियों की रचनाओं में निराशावादी भावनाओं का व्यक्त होना अत्यन्त स्वाभाविक था।

आर्थिक स्थिति—

अँगरेजी साम्राज्य का सबसे अधिक विनाशकारी प्रभाव जनता की आर्थिक स्थिति पर पड़ा था। विदेशी पूँजीवाद ने देशी व्यवसाय चौपट कर दिया था। विदेशी माल की खपत और कच्चे माल के बाहर चले जाने के कारण जनता की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी। लोग बेकारी और भुखमरी का आखेट बनते जा रहे थे। दुर्भिक्षों

१—भारतेन्दु ने इस अन्याय के विरुद्ध अनेक स्थान पर व्यंग्य किए हैं। जैसे—

भारतदुर्दैव—"हा हा! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारना चाहते हैं। हहा हाहा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो।"

'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३३)—भा० नाटकावली, पृ० ४६२

विद्रोह के पश्चात् अँगरेजों के हृदय में भारतीय जनता के प्रति घृणा का भाव बढ़ गया था। उन्हें काले हिन्दुस्तानी के नाम से चिढ़ थी। जिस जाति के हाथ में किसी देश का भाग्य-निर्माण हो और वही उस देश के निवासियों की शकल से नफरत करे, इससे अधिक निराशा और क्षोभ का विषय उस देश के निवासियों के लिए क्या हो सकता था?

बल, साहस और सभ्यता की दृष्टि से अन्य जातियों के समकक्ष होते हुए भी यांत्रिक समृद्धि मे भारतवर्ष पाश्चात्य जातियों से पिछड़ा हुआ था। मध्यकालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विश्वास आधुनिक वैज्ञानिक युग में अधिक उपादेय सिद्ध नही हो रहे थे; किन्तु परम्पराप्रिय साधारण जन-समाज उन्ही से लिपटा रहना चाहता था। यह रूढ़िप्रियता भारतेन्दु-युग के कवियो के क्षोभ का एक प्रमुख कारण थी।

देशी जनता का एक वर्ग अपनी सभ्यता-संस्कृति का तिरस्कार करके पाश्चात्य सभ्यता का अभिमानी बनता जा रहा था। वह पाश्चात्य विलासिता के दुर्गुणों को ग्रहण कर रहा था और अँगरेजों की अन्धी नकल करने में आत्म-गौरव और आत्म-परितोष का अनुभव कर रहा था। ये सब कारण भी कवियों के हृदय मे चिन्ता एवं निराशा उत्पन्न कर रहे थे। भारतेन्दु-युग का कवि जातीयताभिमानी था। सब कुछ नष्ट हो जाने के पश्चात् भी वह जातीय भावना को बचाए रखना चाहता था, किन्तु जब वह भारतीय जनता को विदेशी सभ्यता के रंग में रँगता हुआ देखता था तो उसे देश का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगता था। ऐसी परिस्थिति मे वह या तो भगवान् की शरण में कातर पुकार कर सकता था या फिर घोर निराशावादी बनकर सर्वनाश की कामना कर सकता था। यही उसने किया भी।

एक शब्द मे, भारतेन्दु-युग का निराशावाद राष्ट्रीय निराशावाद है, जिसका मूल कारण तात्कालिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ हैं।

राष्ट्रीय निराशावाद के विभिन्न रूप—

भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय-काव्य मे निराशावाद का अध्ययन उसे तीन रूपो मे विभक्त करके किया जा सकता है—

(१) विपम परिस्थितियों का निराशावादी चित्रण।

(२) देश और समाज का निराशावादी चित्रण।

(३) परिस्थितियो की विपमता एवं समाज की अधोगति की कवि-मानस पर निराशावादी प्रतिक्रिया।

(१) विषम परिस्थितियों का निराशावादी चित्रण—

भारतेन्दु-युग के कवियो ने राष्ट्रीय वैभव के विनाश के कारणों मे (क) विदेशी-शासन, (ख) भारतीय समाज की आन्तरिक दुर्वलताओं और (ग) आधिभौतिक सकटो को प्रमुख माना है। विनाश की परिस्थितियो को भीषण रूप में उपस्थित करने के पश्चात् कवियो ने उनको नष्ट करने का उत्साह प्रदर्शित नहीं किया है और न उनके स्वत नष्ट होने की सम्भावना प्रदर्शित की है। प्रतिकूल परिस्थितियो के प्रति कवियो की इस पराजित मनोवृत्ति को हम निराशावाद का ही एक रूप कह सकते हैं।

(क) विदेशी-शासन—

भारतेन्दु-युग जातीय भावना की जागर्त्ति का युग होने के कारण इस युग के कवियो का भारतीय समाज केवल हिन्दू जाति तक परिसीमित है। मुसलमान और अँगरेज उनके विचार मे विदेशी जातियाँ हैं। कवियों की चेतना जिस समय अतीतकाल की ओर जाती है, उन्हें अपने प्राचीन गौरव के विनाश का प्रमुख कारण मुसलमानो के आक्रमण और शासन प्रतीत होता है। वर्तमान अधोगति के कारणों मे अँगरेजों का शासन, शोषण और पाश्चात्य सभ्यता का कुप्रभाव प्रमुख प्रतीत होते हैं। दोनो शासनों का वर्णन करते समय कवियों की दृष्टि उनके

उपर्युक्त आलोचना राजद्रोह के अन्तर्गत नही आ सकती क्योंकि कवि ने उसे आरम्भ में ही राजभक्ति का कवच पहना दिया है। अँगरेजो की शोषण-नीति भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति को दिन-प्रतिदिन क्षीण करती जा रही थी और वही भारतेन्दु-युग की निराशा और चिन्ता का प्रमुख विषय था। कवियो को आर्थिक ह्रास की चेतना तो प्राप्त हो गई है, किन्तु उन्हें उसके सुधार का कोई मार्ग नही सूझ रहा है। कवि भारत की लक्ष्मी को सात समुद्र पार जाता हुआ देखता है, किन्तु उसे रोक सकने में असमर्थ है, इसलिये वह केवल हाय करके रह जाता है और घोर निराशावादी बनकर सोचने लगता है कि जब भारत पेट की पीर से पूर्णत नष्ट हो जायगा तो उसका शोषण करने वाली अँगरेज जाति किस आधार पर दिन-रात चैन करेगी।

प्रशसाभासपूर्वक निन्दा—

अँगरेजी राज्य की विनाशकारी नीति की आलोचना करने की दूसरी विधि लाक्षणिक शैली का प्रयोग था। भारतेन्दु जैसे समर्थ कवि इस कला में दक्ष थे। वे अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते थे कि प्रकटत वे प्रशसात्मक प्रतीत होते थे, वस्तुत छिपी होती थी उनमें घोर निन्दा। यथा—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥[१]

भारतवर्ष का धन विदेश चले जाने, दुर्भिक्ष एव महामारी आदि के त्रास और मँहगाई के बढ़ जाने तथा 'टिक्कस' की आपत्ति आने के पश्चात् जो कुछ सामग्रियाँ शेष रह जाती हैं, वे ही सब अँगरेजी राज के सुख साज हैं। उपर्युक्त पद्यांश मे व्याजस्तुति अलकार का कौशलपूर्ण प्रयोग है।

प्रतीक-पद्धति—

प्रतीक पद्धति का अनुसरण केवल भारतेन्दु ने किया है। भारत-

१—'भारत-दुर्दशा' (स १९३७), भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४५८।

दुर्दशा नाटक में 'भारत-दुर्दैव'[1] अँगरेजी शासन का प्रतीक है। भारत दुर्दैव नाचता और गाता हुआ अपना परिचय दे रहा है—

अरे,
उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिन्द करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥
कौड़ी-कौडी को करूँ, मैं सब को मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज॥
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर॥
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष, खुशामद, कायरता भी साथ॥
मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ, मँहगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग का कवि अँगरेजी शासन को केवल आर्थिक शोषण करने वाला ही नहीं, अपितु भारतवासियों का चरित्र नष्ट करने वाला और उनसे घृणा करने वाला भी समझता है।

'भारत-दुर्दशा' नाटक एक प्रतीकात्मक रूपक है, जिसमें उग्र राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय निराशावाद के उग्र रूप की व्यंजना हुई है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता और अनिवार्यता के साथ ही भारत के उद्धार की सम्भावना के अभाव ने कवि को इतना निराशावादी बना दिया है कि वह नाटक के अन्त में 'भारतभाग्य' की आत्महत्या करा देता है।[3]

१—देखिए—भारतेन्दु-नाटकावली पृ० ४६२, पाद-टिप्पणी ;
भारतदुर्दैव को क्रिस्तानी पोशाक पहनाकर भारतेन्दु ने अपना प्रतीक स्पष्ट कर दिया है।

२—'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३७ वि०) भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४६२–६३।

३—भारतभाग्य आत्म-हत्या करने से पहले रोकर कहता है :—अरे कोई नहीं जो इस समय अवलम्ब दे। हा! अब मैं जी के क्या करूँगा? जब भारत ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है और उसका उद्धार

साकेतिक पदावली—

प्रतीक पद्धति की ही भाँति भारतेन्दु-युग के कवियों ने सांकेतिक पदावली का व्यवहार अँगरेज जाति और अँगरेजी शासन के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए किया है। जातीय घृणा की अभिव्यक्ति के लिए यवन, परदेशी, विधर्मी आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है। यथा—

१—रहे हमहुँ कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह देहैं जिय सौं सब ही बात बिसारी॥
सुख सौं सहिहैं सिर यवन-पादुका-त्रासा।
अब तजहु वीर-वर भारत की सब आसा॥[1]

—भारतेन्दु

२—हमरे जन सौं, धन सौं, तन सौं परदेसिन भोग विलास कियौ।
करता धरता सब आप बने अति तुच्छ हमें निज दास कियौ॥
इन स्वारथमीत विधर्मिन के पद पूजत हा! कबलों मरिए॥[2]

—प्रतापनारायण मिश्र

३—कोऊ मूरख हिन्दुन कौं ठगिकैं निज निन्दित शिष्य बनावत है।
बहकाय कुटुम्ब छुड़ाय छली फिर नेक नहीं अपनावत है॥
कोऊ स्यामल रंगहिं सों धिन कैं, जिय लेत विलम्ब न लावत है।
न पुकार सुने कोऊ भूपति ह्वै किमि धीरज हाय हिए धरिए॥[3]

—प्रतापनारायण मिश्र

उपर्युक्त उद्धरणों में 'यवन', 'परदेसिन' और 'काऊ' शब्द श्लिष्ट तथा अनिश्चयवाचक होते हुए भी अँगरेज जाति की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। 'यवन-पादुका-त्रासा' वास्तव में अँगरेज-पादुका-त्रासा है।

मिल लो, अब मैं विदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते? मैं ऐसा बुरा हो गया कि जन्म भर के वास्ते मैं विदा होता हूँ तब भी ललककर मुझ से नहीं मिलते। मैं ऐसा ही अभागा हूँ तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या, बस यह लो। (कटार का छाती में आघात और साथ ही यवनिका पतन) भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४६७-६८।

१—'नीलदेवी' (सं० १९३८) भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ५२२।
२—मन की लहर (सन् १८८५) पृ० ३५।
३—मन की लहर (सन् १८८५) पृ० ३६।

दूसरे और तीसरे उद्धरण में अँगरेजों की आर्थिक और धार्मिक नीति की कटु आलोचना की गई है और उनके प्रति तीव्र जातीय घृणा व्यक्त की गई है। कविगण अपने पराभव और अँगरेजों की अनीतियों पर केवल क्षोभ और विषाद व्यक्त करके मौन हो गए हैं। निराशा और चिन्ता की व्यंजना स्पष्ट है, उलट-फेर कर डालने के उत्साह का नितान्त अभाव है।

मुकरी और लोकोक्तियाँ—

मुकरी और लोकोक्तियाँ अपनी हास्यशीलता के कारण अँगरेजों की निन्दा करने का सरल साधन थीं। सन् १८८० ई० में रिपन जैसा उदार शासक मिल जाने के कारण जनता का आतंक कुछ हलका पड़ चुका था। अब तक अपने भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए कविगण प्रतीक आदि जिन साधनों का उपयोग करते थे, उनके स्थान पर अब वे अँगरेज जाति की खुले शब्दों में आलोचना कर सकते थे। फिर भी कटुता की मात्रा को कुछ हलका करने के लिए कुछ हास्य का पुट देना आवश्यक था। यह मुकरी अथवा लोकोक्ति शैली में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए, अँगरेजों की शोषण-नीति उनके भारतहितैषिता के लम्बे-चौड़े किन्तु थोथे वचनों में प्रच्छन्न रहती थी। बाहर से शुभ किन्तु अन्दर से घातक अँगरेजों की नीति को भारतेन्दु निम्नोद्धृत मुकरी द्वारा हास्यात्मक बनाकर व्यक्त करते हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज॥[1]

'धन और धरती' का अपहरण करने वाले और अँगरेजों द्वारा भारतवर्ष का उद्धार सम्भव मानने वाले आशावादियों को प्रतापनारायण मिश्र 'जोगी काके मीत कलन्दर केहिके भाई' की लोकोक्ति द्वारा उपदेश देते हैं—

अपने काम अपने ही हाथन सों भल होई।
परदेसिन परधर्मिन सों आशा नहिं कोई॥

१—'नये जमाने की मुकरी' (सं० १९४१) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ८११।

धन धरती जिन हरी सु करिहैं कौन भलाई।
जोगी काके मीत कलन्दर केहिके भाई॥[1]

छन्द की प्रथम तीन पक्तियो में जो कटुता है वह अन्तिम पक्ति की लोकोक्ति के द्वारा कुछ परिहासमय बन गई है। इस प्रकार की मुकरियाँ और लोकोक्तियाँ सन् १८८० ई० के पश्चात् प्राय लिखी गई हैं। सन् १८८१ से भारतेन्दु-युग की समाप्ति तक अँगरेजो की अनीतियों की अधिक सबल शैली मे आलोचना होती रही है, किन्तु विषाद और निराशा की भावनाओं की जितनी अभिव्यक्ति सन् १८८० ई० के पूर्व हुई उतनी बाद को नही, जिसका कारण राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, ब्रिटेन में उदार मन्त्रिमण्डल का शासन आदि हो सकता है।

भारतेन्दु-युग के कवियो द्वारा की गई अँगरेजी शासन की आलोचना निराशावादी आलोचना है क्योकि उस आलोचना के साथ कविगण केवल क्षोभ और विषाद की अभिव्यक्ति करके मौन हो गए हैं, अनीतियो का विनाश करने के लिए उन्होंने किसी सक्रिय कदम उठाने की ओर सकेत नही किया। निष्क्रिय क्षोभ की अभिव्यक्ति का कारण राजनीतिक परिस्थितियों के प्रसग में बतलाया जा चुका है। विद्रोह की विफलता और भीषण दमन ने जनता को इतना आतकित और पस्तहिम्मत कर दिया था कि भारतेन्दु-युग के कवि अँगरेजी शासन को नष्ट करने की बात सन् १८५७ के तुरन्त बाद नही सोच सकते थे। अँगरेजों की उच्चतर शक्ति और जनता के आतक की स्वीकृति स्वयं भारतेन्दु ने की है—

वृटिश-सिंह के बदन कराला।
लखि न सकत भयभीत भुआला॥
फाटत हिय जिय थर-थर कपत।
तेज देखिकैं दृग जुग झपत॥[2]

भारतेन्दु-युग के निराशावाद का प्रमुख मनोवैज्ञानिक कारण पराधीनता की चेतना और स्वाधीन होने की सम्भावना का अभाव ही है।

१—'लोकोक्ति शतक' (१८८८ ई०) पृ० २।
२—'भारत-भिक्षा' (स० १९३२) भा० ग्रन्थावली, पृ० ७१०।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों को महारानी विक्टोरिया और उनके घोषणापत्र में दिए गए वचनों में कुछ दिन तक विश्वास था, किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया अनुभव ने उन्हें अँगरेज शासकों की ओर से निराशावादी बना दिया और वे अँगरेजी राज्य को भारतवर्ष के लिए अभिशाप समझने लगे थे।

मुसलमानी शासन—

भारतेन्दु-युग का प्रारम्भ 'यवन राज्य' की समाप्ति के पश्चात् होने के कारण मुसलमानी शासन तात्कालिक चिन्ता और क्षोभ का विषय नहीं था। भारतेन्दु-युग का कवि अपनी वर्तमान अधोगति का मूल अतीत में देखता है। उसे प्रतीत होता है कि हिन्दू जाति का पराभव मुसलमानी शासकों के द्वारा हुआ था। यदि मुसलमानी शासन के द्वारा हिन्दू जाति की शक्ति क्षीण न हुई होती तो आज उसको अँगरेजों का गुलाम न बनना पड़ता और न ये दुर्दिन देखने पड़ते; इसलिये कारण-परम्परा के रूप में मुसलमानी शासन को वह अपने राष्ट्रीय पराभव के लिए उत्तरदायी ठहराता है और मुसलमानी शासन की घोर निन्दा करता है। जैसे—

पृथीराज जयचन्द कलह करि जवन बुलायो।
तिमिरलंग चगेज आदि बहु नरन कटायो॥
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय-वासना दुसह मुहम्मदसह फैलायो॥
तब लौं सोए बहु नाथ तुम जागे नहिं कोऊ जतन।
अब तौ जागौ बलि बेर भइ हे मेरे भारत-रतन॥[1]

भारतेन्दु-युग आदि से अन्त तक मुसलमानी शासन को घृणापूर्वक स्मरण करता रहा है। मुसलमानों की लूट-मार, जातीय अपमान, धार्मिक अत्याचार आदि की स्मृति कवियों की वेदना का मुख्य विषय थी। प्रेमघन स्पष्ट शब्दों में मुसलमानों के अत्याचार व्यक्त करते हैं—

कबहुँ तुरुक अफगान मुगल आये भारत पर।
लूटि, मारि नर नारिन लै भागे अपने घर॥

१—'प्रबोधिनी' (सं० १९३१) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ६८४-८५।

कोऊ राज इत किये निपट अन्याय मचाई।
दीन प्रजान सँहारि रुधिर की नदी बहाई॥
हरे मान, धन, धर्म, अमित तोरे देवालय।
अनाचार की सीमा नहिं राखी वे निर्दय॥
अमल प्रफुल्लित देस बनाय मसान भयकर।
पशु समान करि दियो मूढ़ ह्यों के सुविज्ञ नर॥[1]

प्रकृति के द्वारा 'अमल प्रफुल्लित' बना हुआ भारत देश यदि भारतेन्दु युग में 'मसान' न बना रह कर पुन प्रफुल्लित हो गया होता तो कवियों को मुसलमानी अत्याचारो की वेदना कदाचित् उतनी दु खदाई प्रतीत न होती। मुसलमानी शासन के अन्त के साथ हिन्दू जाति के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक पराभव का अन्त न हो सका। 'तुरुक और अफगानों' के द्वारा बनाया गया भारतवर्ष अँगरेजों के राज्य में भी श्मशान ही बना रहा। अँगरेज जाति यान्त्रिक साधनों से सम्पन्न होने के कारण मुसलमानो से भी अधिक शक्तिशाली थी, परिणामस्वरूप वर्तमान पराधीनता, आर्थिक शोषण आदि से क्षुब्ध कवियो की चेतना निकट भविष्य में स्वाधीनता के स्वप्न नही देख सकती थी। अत उसका अतीत की ओर पलायन करना स्वाभाविक था और अतीत वैभव के विनाश के जो कुछ भी कारण उनको दिखाई दे रहे थे उनकी निन्दा करना भी उतना ही स्वाभाविक था।

मुसलमानी अत्याचारो को कवियों के सम्मुख प्रत्यक्ष करने वाले मन्दिर और दुर्गों के वे भग्नावशेष थे जिनको मुसलमानी शासकों ने ध्वस्त किया था—

जहाँ बिसेसर सोमनाथ माधव के मन्दिर।
तहँ महजिद बनि गई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥[2]

मुसलमानो के धार्मिक अत्याचारों का स्मरण कवियो के लिए इतना दुखद था कि धार्मिक सहिष्णुता को ध्यान में रखकर उन्होंने अँगरेजी

१—'हार्दिक हर्षादर्श' (स० १६५७), प्रेमघन सर्वस्व, पृ० २७०।
२—'प्रबोधिनी' (स० १६३१), भा०-ग्रन्थावली, पृ० ६८४।

राज्य की प्रशंसा और मुसलमानी शासन की घोर निन्दा की है।[1]

डा० वार्ष्णेय भारतेन्दु-युग के मुसलमानी शासन के विरोधी दृष्टिकोण पर 'आनन्द मठ' की भावना का आरोप करते हैं।[2] विद्वान् समीक्षक का मत बहुत कुछ समीचीन होते हुए भी भारतेन्दु और बंकिम के दृष्टिकोण मे अन्तर है। 'आनन्द-मठ' मे बंकिम ने हिन्दुओं की जातीय घृणा का आरोप मुसलमान सम्प्रदाय पर किया है और अँगरेजो को अपना मित्र माना है; जब कि भारतेन्दु मुसलमान और अँगरेज दोनो के शासन को भारतीय हित के लिए घातक समझते है। बंकिम का 'संतान-दल'—वैष्णवो का क्रान्तिकारी दल—मुसलमान जन-साधारण को लूटकर 'महा प्रसाद' बाँटता है, जब कि भारतेन्दु और उनके मंडल के कवियो की चेतना केवल मुसलमान शासकों के धार्मिक अत्याचारों का स्मरण करती है, और केवल अत्याचारी मुसलमान शासको की निन्दा करती है। मुसलमान मात्र से प्रतिशोध लेने का कोई भाव भारतेन्दु-युग की कविता मे नही मिलता। भारतेन्दु भारतीय महापुरुषो मे हिन्दू और मुसलमान जनता के प्रति समान व्यवहार करने वाले अकबर की भी गणना करते हैं।[3] कविगण अपनी सहानुभूति और क्षोभ का विस्तार केवल हिन्दू जाति तक सीमित रखते हैं और मुसलमान जाति की ओर से प्राय उदासीन रहते हैं।

१—मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों का घृणापूर्वक स्मरण करते हुए भारतेन्दु लिखते है :—

जैसे आतप तपित कों छाया सुखद गुनात।
जवन-राज के अन्त तुव आगम तिमि दरसात॥
मसजिद लखि विसुनाथ ढिग परे हिए जो घाव।
ता कहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नर-राव॥

'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन' (सं० १९३२) भा०-ग्रन्थावली, पृ० ६९१।

२—देखिए—आधुनिक हिन्दी-साहित्य, पृ० २८६।

३—जदपि न भोज न व्यास नहिं बालमीकि नहिं राम।
शाक्यसिंह 'हरिचन्द' बलि करन जुधिष्ठिर नाहिं॥
जदपि न विक्रम अकबरहु कालिदासहु नाहिं।
जदपि न सो विद्यादि गुन भारतवासी माहि॥

'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन (सं० १९३२) भा०-ग्रन्थावली, पृ० ६९९।

अत 'आनन्द-मठ' की भावना का भारतेन्दु-युग के कवियो पर आरोप अधिक न्यायपूर्ण प्रतीत नही होता। कुछ भी हो मुसलमानी शासन के अत्याचारों का स्मरण भारतेन्दु-युग के क्षोभ का विषय था।

(ख) भारतीय समाज की दुर्बलताएँ—

राष्ट्रीय पराभव की परिस्थितियो में भारतेन्दु-युग का कवि राजनीतिक पराधीनता, अँगरेजों की शोषण-नीति आदि बाह्य शक्तियो को जितना महत्व देता है, उससे अधिक अपने समाज की दुर्व्यवस्था और दुर्बलताओं को। अँगरेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् जीवन की परिस्थितियो में आमूल परिवर्तन हो चुका था। उसमे मध्यकालीन जीवन के आदर्श और सामाजिक व्यवस्था—ऊँच-नीच, छुआ-छूत आदि—अनुपादेय ही नही हानिकर सिद्ध होने लगी थी, किन्तु हिन्दू समाज अभी मध्य कालीन सामाजिक व्यवस्था में ही मग्न रहना चाह रहा था इसलिए राष्ट्रीय कवि उसकी मूर्खताओ पर क्षुब्ध थे। और अपरिवर्तनकारी दृष्टिकोण को राष्ट्रीय हित मे विनाशक समझते थे।

सामाजिक और धार्मिक दुर्बलताएँ—

हिन्दू-जीवन में धार्मिक विश्वासों को जो स्थान मिला हुआ है, उसको देखते हुए धार्मिक एव सामाजिक व्यवस्था का पृथक्करण सम्भव प्रतीत नही होता। जिस समाज में खान-पान से लेकर आध्यात्मिक चिन्तन तक में धर्म का अनुशासन स्वीकार किया जाता हो उसमें धार्मिक स्थिति और सामाजिक स्थिति अपना-अपना पृथक् अस्तित्व नही रख सकती। भारतेन्दु ने सामाजिक दुर्व्यवस्था को राष्ट्रीय दृष्टि से देखा है इसलिए उन्हें तथाकथित हिन्दू-धर्म समाज की अधोगति मे मूल कारण प्रतीत हुआ है। कवि ने समाज की उन दुर्बलताओ को जिन्हे वह राष्ट्रीय दृष्टि से अहितकर समझता था, एक स्थान पर इस प्रकार से व्यक्त किया है—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो॥

जन्मपत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में व्याहि प्रीति-बल नास कियो सब॥
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्यो।
विधवा-व्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्यो॥
रोकि विलायत-गमन कूप मण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दू घबराई॥[1]

कवि के विचार से यह सब शुभ कार्य 'धर्म' ने किए है—धर्म के ठेकेदारो ने किए है—जो हिन्दू समाज को समयानुकूल आगे बढ़ने नहीं देना चाहते। १६ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हिन्दू समाज की जो धार्मिक अथवा सामाजिक स्थिति थी उसमें आर्य-जाति का व्यापक दृष्टिकोण शेप नही रह गया था। रूढ़ियो और अन्ध विश्वासो के जाल मे फँसी हुई जनता अपनी परिस्थितियो का सिंहावलोकन स्वतन्त्रतापूर्वक करने मे असमर्थ थी। एक महान् पुनर्निर्माणकारी सामाजिक आन्दोलन की युग को आवश्यकता थी। इस अभाव की पूर्ति बंगाल में 'ब्रह्म-समाज' और हिन्दी-प्रान्त मे 'आर्य-समाज' करने लगा था; किन्तु आर्थिक शोषण, पराधीनता एवं सांस्कृतिक अध पतन के कारण सुधारवादी विचारो को समाज शीघ्र ही स्वीकार करने वाला नहीं था, इसलिए कवियो का असंतोष बढ़ रहा था। प्रतापनारायण मिश्र भी एक व्यथा की कराह लेते हुए यही भाव प्रकट करते हैं—

ऋषि नाहिंन जो सुख दायक पथ चलै हैं।
नहिं रहे वीर जो धर्म हेत कटि जैहैं॥
नहिं बचे धनिक जो दुख दरिद्र हरि लैहैं।
अब तो पापी पेटहि के दास सबै है॥[2]

पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार और सुधारवादी आन्दोलनो के प्रसार ने एक नवीन समस्या खड़ी कर दी थी। समाज मे अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया था, जो उसकी एकता का विनाश कर रहा था। कुछ लोग पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध भक्त बनते जा रहे थे, कुछ पौराणिक

१—'भारत-दुर्दशा' (सं० १६३७) भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४६५।
२—'मन की लहर' (सन् १८८५) पृ० ३५।

अन्ध-विश्वासो मे ही फँसे हुये थे तो कुछ सुधारवादी समाज मे कटुता उत्पन्न कर रहे थे। भारतेन्दु ने इस कलहपूर्ण परिस्थिति का खेदपूर्वक उल्लेख किया है—

भारत में एहि समय भई है सब कुछ
बिनहिं प्रमान हो दुइ-रगी।
आधे पुराने पुरानहि मानैं
आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रगी॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं
कि होइ दयानँद जायँ हो दुइ-रगी॥[1]

अन्ध-विश्वास रूढ़ियो और अन्त कलह ही भारतेन्दु-युग के कवियो के विचार से राष्ट्रीय अधोगति का प्रमुख कारण था।

नैतिक दुर्बलताएँ—

सामाजिक दुर्व्यवस्था के समान ही अपने युग के लोगो का नैतिक अथवा चारित्रिक अध पतन कवियों के विचार से राष्ट्र को रसातल की ओर ले जाने वाली परिस्थिति थी। कवि अन्य देश और जातियो को भौतिक उन्नति में प्रतिस्पर्द्धापूर्वक आगे बढ़ते हुए और अपने समाज को आलस्य में समय नष्ट करते हुए देख रहे थे। एक राष्ट्र-प्रेमी कवि के लिए इससे अधिक निराशा का विषय क्या हो सकता था। भारतेन्दु समाज की आलस्यप्रियता एव महत्वाकांक्षा और राष्ट्रीय चेतना के अभाव की कड़े शब्दों मे निन्दा करते हैं—

जग के देस बढत बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनको है ऐसे ये बेहाल॥
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चचल विगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईस-विमुख सब भए प्रजा नरनाह॥
इनसों कछू आस नहिं ये तो सब विधि बुधि-बल-हीन।
बिना एकता-बुद्धि-कला के भए सबहिं विधि दीन॥[2]

कवियो को अपने देश-वासियो की निरुद्यमता पर सबसे अधिक खेद था—

१—'वर्षा-विनोद' (स० १९३७) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ५००।
२—'भारत-दुर्दशा' (स० १९३७), भा०-नाटकावली, पृ० ४८०-८१।

१—करें न ये उद्योग कछु, महा आलसी होय।
आस करम आधीन सब, मन में राखें गोय ॥[1]

—प्रेमघन

२—सर्वसु लिए जात अँगरेज, हम केवल ल्यकचर के तेज।
श्रम विन वातें का करती है, कहूँ टेक्कन गाजें गिरती है ॥[2]

—प्रतापनारायण मिश्र

३—सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीअत गंगाजल ॥[3]

—भारतेन्दु

चारित्रिक दुर्बलताओं में मदिरा का प्रयोग कवियों को अधिक खलने वाला था। अँगरेजों के सम्पर्क में आने के पूर्व भारतवर्ष में मदिरा का प्रयोग उतना नहीं होता था जितना पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार के बाद। लोग लुक-छिपकर मदिरा का सेवन भले ही कर लेते हों, सार्वजनिक स्थान जैसे होटल आदि में मद्यपान करना भारतीय आचार की दृष्टि से अत्यन्त निंद्य कर्म था। भारतेन्दु-युग के कवियों ने इस दुर्गुण की भर्त्सना की है। जैसे—

होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहि लाज।
लोट लिए ठाढे रहत, टोटल देवे काज ॥[4]

—भारतेन्दु

मद्यपान सों मूर्छित, चुहक्त सबै सिंगार।
हा या भारत की करी, दसा कवन करतार ॥[5]

—प्रेमघन

मद्यपान की भाँति फैशन-प्रियता भी कवियों को अखरने वाली वात थी। उनके विचार से फैशनवाजी में न केवल धन का ही अपव्यय होता है अपितु लोगों का वल और पौरुष भी क्षीण होता है। इसीलिए वालमुकुन्द गुप्त एक दीर्घ निःश्वास के साथ कहते हैं—

१—'पितर-प्रलाप' (सं० १९४२), प्रेमघन-सर्वस्व, पृ० १६० ।
२—लोकोक्तिशतक' (सन् १८८८) पृ० ३ ।
३—'प्रबोधिनी' (सं० १९३१) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ६८४ ।
४—'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३७) भा०-नाटकावली, पृ० ४७६ ।
५—'पितर-प्रलाप' (सं० १९४२), प्रेमघन-सर्वस्व, पृ० १६२ ।

सेल गई, बरछी गई, गए तीर तरवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये छत्रिन के हथियार ॥[1]

प्रतापनारायण को तो दाढ़ी-मूँछ सफाचट कराना फैशन नही जनानापन प्रतीत होता था। कदाचित् इसीलिए उनका रोना था, 'कोउ नर कहाय, आचरन तियनि के धारे'।

भारतेन्दु-युग, जैसा पहले कहा जा चुका है, जातीय भावना की जागर्त्ति का युग था। इसलिए कवियो की दृष्टि केवल इन्हीं सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं और नैतिक दुर्बलताओं तक सीमित नहीं थी। उन्हें अपनी अतीतकालीन सामाजिक मर्यादा के विनाश पर भी क्षोभ था। कुछ कवियो ने वर्णाश्रम मर्यादा के विनाश अथवा अवहेलना को भी राष्ट्रीय वैभव के विनाश का कारण ठहराया है। इसी प्रकार गौवध आदि पर भी धार्मिक दृष्टि से दुख प्रकट किया है।

समाज की दुर्व्यवस्था और दुर्बलताओं का कवियों ने खूब चित्रण किया है। राष्ट्र को अधोगति की ओर ले जाने वाली परिस्थितियो में उनको प्रमुख माना है। किन्तु उन्होंने न तो समाज में उलट-फेर करने का साहस प्रकट किया और न परिस्थितियों पर विजय पाने की सम्भावना ही प्रकट की। उत्साह और आशा के अभाव में केवल प्रतिकूल परिस्थितियों का विषादपूर्ण चित्रण निराशावादी कविता में सन्निहित किया जा सकता है।

(ग) आधिभौतिक संकट—

विदेशी शासन और आन्तरिक दुर्बलताओं के समान ही भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय निराशावाद का कारण आधिभौतिक सकट थे। अँगरेजों की शोषण-नीति के कारण जनता की आर्थिक दशा वैसे ही बिगड़ गई थी, उस पर भी जब दुर्भिक्ष और महामारियों का प्रकोप हुआ तो जनता को प्राणो के लाले पड़ने लगे। भारतवर्ष के कृषिप्रधान देश होने के कारण ६० प्रतिशत जनता खेती पर निर्वाह करती है। १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध मे दुर्भिक्षों का एक ताँता-सा बँध

१—'श्रीराम-स्तोत्र', (२४ अक्टूबर १८६८ ई०) बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, पृ० ५१८।

गया जिसका प्रभाव देशव्यापी था। सन् १८६० से लेकर १८६६ ई० तक भारतवर्ष के एक-न-एक प्रान्त मे दुष्काल पड़ता ही रहा।

सन् १८६० मे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और राजस्थान की रियासतों में दुर्भिक्ष पड़ा। सन् १८६६-६७ में उड़ीसा और कलकत्ता से लेकर मद्रास का पूर्वी किनारा उससे प्रभावित हुआ। सन् १८६८-६६ ई० में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, पंजाब और राजस्थान दुर्भिक्ष से पीड़ित हुए। सन् १८७३ में विहार, और १८७६-७८ ई० मे मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, पजाब और अवध में भीषण अकाल पड़े। सन् १८८० से ६६ ई० तक देश के विभिन्न प्रान्तों में केवल बूँदा-बाँदी होती रही। १८६६-६७ ई० में उत्तर-पूर्वी प्रान्त, अवध, विहार, मद्रास, बम्बई, पंजाब और बरार में पुन भीषण दुर्भिक्ष पड़ा जो अपनी भयकरता के लिए हिन्दी-प्रात मे 'तिरपन्ना' के अकाल के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १८६६ का दुष्काल देशव्यापी और अत्यन्त विकराल था।[1] दुर्भिक्षो की भीषणता का अनुमान अधोलिखित मृत्यु के आँकड़े से लगाया जा सकता है—

"कुल दुनिया की लड़ाइयो में सौ वर्ष के अन्दर (१७६३-१६०० ई० तक) सिर्फ ५० लाख आदमी मारे गए हैं। पर हमारे हिन्दुस्तान मे केवल दस वर्ष में (१८६१-१६०१ ई० तक) अकाल और भूख के मारे १,६००,०००० (एक करोड़ नब्बे लाख) मनुष्यो ने प्राण त्याग दिए।[2]

भारतेन्दु-युग के कवियो ने जनता के त्रास को अपनी अनेक रचनाओं में व्यक्त किया है। प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त और राधाकृष्णदास की कतिपय पक्तियो से दुर्भिक्ष की भयंकरता का अनुमान लगाया जा सकता है—

१—पर्यो अकाल कराल चहूँ दिसि महा भयकर।
जस नहिं देख्यो, सुन्यो, कबहुँ कोऊ भारतीय नर॥

× × ×

१—देखिए— ए हिट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, पृ० ३०१-२।
२—'हिन्दी-ग्रन्थमाला' (मई, १६०८) पृ० ६, भारत-भारती, पृष्ठ ८७

खोय मध्यवित लोग, बसन, भूषन, पसु, गृह थल ।
मान विवस मरिबो मान्यो भिच्छाटन सों भल ॥
सहि न सके जब भूख पीर कातर हिय ह्वै करि ।
सपरिवार करि आतमघात गये सुख सों मरि ॥[1]

२—हे राम !

केते बालक डोलते माता पिता विहीन ।
एक कौर के फेर में घर-घर आगे दीन ॥
मरी मात की देह कों गीध रहे बहु खाय ।
ताही सों यक दूध को सिसू रह्यो लपटाय ॥[2]

दुर्भिक्षों के समान ही प्लेग जैसी महामारी का प्रकोप भयकर था। केवल प्लेग से लगभग ८० लाख मनुष्यो की मृत्यु हुई। प्लेग का प्रकोप भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों में हुआ था।

भारत के लिए यह अभूतपूर्व सकट था। शासक और प्रजा दोनो अनुभवशून्य होने के कारण विवश थे। 'स० ५६ की विदाई' पर लिखी गई राधाकृष्णदास की कविता की निम्नाङ्कित पंक्तियाँ प्लेग-जनित आतक को सफलतापूर्वक चित्रित करती हैं—

पडित कहें महाभारत के ग्रह सब एकत आवें ।
भारत में भारत मचवावें महा प्रलय घहरावें ॥

× × × ×

घोर अकाल प्लेग की ज्वाला, भारत जारन लागी ।
राजा-प्रजा त्रस्त भए डोलें सबन धीरता भागी ॥
व्यापारी व्यापार बन्द करि धनी सचि धन राखे ।
लौटि प्रवासी निज घर आवें धुकर-मुकुर हिय माखे ॥
एक वाक्य ह्वै सबहिं पुकारें हे करुणामय स्वामी ।
रच्छो नाथ ! विपति सब टारो हे प्रभु गरुड़ागामी ॥[3]

आधिभौतिक सकटों की मार इतनी प्रबल थीं कि उनके सम्मुख जनता को न अपने राजनीतिक पराभव की चिन्ता रही और न अपने

१—'हार्दिक-हर्षादर्श' (स० १६५७) प्रेमघन-सर्वस्व, पृ० २७८-७६ ।
२—'हेराम' (१ अक्टूबर, १६०० ई०) बालमुकुन्द गुप्त नि०, पृ० ५८७ ।
३—'संवत् ५६ की विदाई' (सन् १६००) राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० २३ ।

समाज के दोषों की। भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों की पत्र-पत्रिकाएँ दुर्भिक्ष और महामारियों के करुण चित्रण से भरी पड़ी हैं। इन्हीं महामारियों और दुर्भिक्षों के दुःखद वर्णन के साथ भारतेन्दु-युग की समाप्ति होती है। अस्तु।

भारतेन्दु-युग का प्रारम्भ भारतवर्ष के हित के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों में होता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में अँगरेजी राज्य की स्थापना प्रमुख थी। पराधीनता के कारणों पर विचार करते हुए कवियों का ध्यान अपने समाज की दुर्बलताओं की ओर जाता है। युग का अन्त आते-आते जीवन की परिस्थितियाँ और भीषण बनने लगती हैं। अतः विदेशी शासन, आन्तरिक दुर्बलताओं और अधिभौतिक व्याधियों की सम्मिलित दुःखद अनुभूति ने भारतेन्दु-युग के काव्य को निराशा और दुःखात्मक अनुभूति-प्रधान बना दिया है।

(२) देश और समाज का निराशावादी चित्रण—

परिस्थितियो की भीषणता मे भी यदि मनुष्य आशा और उत्साह का परित्याग नही करता अपितु परिस्थितियों पर विजय पाने का साहस प्रकट करता है तो उसके विचार निराशावादी नहीं कहला सकते। भारतेन्दु-युग का कवि परिस्थितियो की विपमता से मर्माहत है। उसके सम्मुख अतीत भारत का उज्ज्वल चित्र है, जिसकी तुलना वह अपने समय के भारत से करता है और विषमताजन्य विपाद से छटपटा उठता है। कवियों के सम्मुख अपने समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वस्तु-स्थिति का जो चित्र है, उसमें उसे कोई अच्छाई दिखलाई नही पड़ती। वस्तु के केवल दोप-दर्शन करना एक निराशावादी दृष्टिकोण है, अत भारतेन्दु-युग के कवियों द्वारा किया गया देश और समाज का चित्रण निराशावादी चित्रण कहा जायगा। कतिपय उद्धरणों से हम भारतेन्दु-युग के कवियों द्वारा वर्णित भारतीय समाज की हीनता का अनुमान लगा सकते हैं।

पराधीन देश का चित्र—

अपने देश की राजनीतिक पराधीनता और विवशता की अनुभूति से प्रेरित होकर कवियों ने जहाँ-कही भी भारतवर्ष का चित्र अकित किया है, वहाँ उसे क्षीणशक्ति एवं अनाथ के रूप में उपस्थित किया है। जैसे 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत 'श्मशान' और 'टूटे-फूटे मन्दिरों' के समीप भटकता हुआ, 'फटे कपड़े पहने हुए सिर पर अर्द्ध किरीट धारण किए हुए तथा हाथ में टेकने की छडी लिए हुए' एक शिथिल अग वृद्ध के रूप में उपस्थित किया गया है। भारत अपने दुर्भाग्य पर हाय हाय करता हुआ अपना दुखडा सुनाता है—

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ॥
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुखगाथ।
दीन बन्यो इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ॥

दिन-दिन विपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारौ नाथ॥[1]

भारत के भटकने के साथ-साथ उसके वेश-भूषा और कथन के एक-एक शब्द से युग के निराशावाद की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार ब्रिटिश राजकुमार के स्वागत के लिए भारत-माता जब अपनी शैया का परित्याग करके उठती है तो उसको एक भाग्यहीना और परम दुखिता वृद्धा के रूप मे चित्रित किया गया है—

सुनत सेज तजि भारत माई।
उठी तुरतहि जिय अकुलाई॥
निविड़ केस दोउ कर निरुआरी।
पीत बदन की कान्ति पसारी॥
भरे नेत्र अँसुअन जलधारा।
लै उसाँस यह बचन उचारा॥
× × × ×
तब मैं रही जगत की माता।
अब मेरी जग में कह बाता॥
भग्न दंड कम्पित कर-धारी।
कब लौं ठाढ़ी रहौं दुखारी॥
भग्न सकल भूषन तन साजी।
दास-जननि कहवैहौ लाजी॥[2]

भारत-माता की पीत वदन की कान्ति, नेत्रो का अश्रु-प्रवाह, पूर्व गौरव की तुलना में वर्तमान दुर्दशा पर शोक और पराधीनताजन्य आत्मग्लानि आदि निराशावाद की ऐसी भाव धाराएँ है जो भारतेन्दु-युग के राजनीतिक पराभव को स्पष्ट व्यंजना करती हैं। भारतवर्ष की पराधीनता दीर्घ कालीन होते हुए भी हिन्दी-काव्य मे उसकी वेदनापूर्ण अभिव्यक्ति भारतेन्दु-युग के पूर्व नहीं मिलती। यही वेदना भारतेन्दु-युग के काव्य को मध्य कालीन काव्य-धारा से पृथक् कर आधुनिक युग में प्रतिष्ठित कर देती है।

अध पतित समाज का चित्र—

वाह्य परिस्थितियों से पराजित होकर मनुष्य जब अपने अन्त.

१—'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३७) भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४६०।
२—'भारत-भिक्षा' (सं० १९३२) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ७०७–७०८।

पर प्रकट की है, उतनी कदाचित् पराधीनता और सामाजिक दुर्व्यवस्था पर भी नही। कारण यह था कि भारतीय जनता को धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अत्याचारों का तो अनुभव था, किन्तु उसने भारत जैसे धन-धान्य से पूर्ण देश में 'पेट की पीर' से मरना नही जाना था। शासन-सत्ता द्वारा आर्थिक शोषण उसके लिए अननुभूत घटना थी। भारतेन्दु-युग के कवियो ने आर्थिक दुर्दशा की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर की है। किन्तु दुर्भिक्ष और महामारियों के समय मे आर्थिक पराभव के जो चित्रण किए गए हैं, वे अधिक करुण और निराशावादी हैं। यथा—

का दै जननी पूजा करैं तुम्हार।
पेटहु के निस दिन है हाहाकार॥
उदर भरन हित अन्न रह्यौ घर माहिं जो।
दानव दल मों आय काढ मुखतैं लियो॥
भैंट धरैं जो माय कहा, हम पास है।
केवल आँखिन जल अरु लम्बी साँस है॥[1]

अथवा

हरे राम! केहि पाप ते भारत भूमि मँझार।
हाड़न की चक्की चलै हाड़न को व्यापार॥
अब या सुखमय भूमि मैं नाहिन सुख को लेस।
हाड़ चाम पूरित भयो अन्न दूध को देस॥
फिरत पेट के फेर मँह सूकर स्वान समान।
केहि कारन नर तनु दियो कृपासिन्धु भगवान॥[2]

अन्न और दूध के देश में हाडों की चक्की चलना एक ऐसी परिस्थिति थी जिसके सम्मुख अँगरेजी राज्य की शान्ति और व्यवस्था निरर्थक थी। भूख की पीड़ा अन्य पीड़ाओं से अधिक कष्टदायक होती है। इसीलिए भारतेन्दु-युग के कवि अपनी आर्थिक दुर्दशा पर सबसे अधिक व्यथित थे। आर्थिक शोषण के कारण ही उनको अँगरेजी राज्य भारत के लिए दुर्दैव प्रतीत हो रहा था। अस्तु।

भारतेन्दु-युग के कवियो के सम्मुख अपने देश और समाज का जो चित्र था उसमें वैभव और उल्लास का सर्वथा अभाव है। अत उनका वर्णन निराशावाद की परिधि के प्राय बाहर नही निकलता।

१—'आगमनी' (२३ सितम्बर, १८६५) बा० गु०-नि०, पृ० ५६६।
२—'हे राम' (१ अक्टूबर, १६००) बा० गु०-नि०, पृ० ५८७–५८८।

पर प्रकट की है, उतनी कदाचित् पराधीनता और सामाजिक दुर्व्यवस्था पर भी नही। कारण यह था कि भारतीय जनता को धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अत्याचारो का तो अनुभव था, किन्तु उसने भारत जैसे धन-धान्य से पूर्ण देश में 'पेट की पीर' से मरना नही जाना था। शासन-सत्ता द्वारा आर्थिक शोषण उसके लिए अननुभूत घटना थी। भारतेन्दु-युग के कवियो ने आर्थिक दुर्दशा की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर की है। किन्तु दुर्भिक्ष और महामारियो के समय मे आर्थिक पराभव के जो चित्रण किए गए हैं, वे अधिक करुण और निराशावादी हैं। यथा—

का दै जननी पूजा करें तुम्हार।
पेटहु के निस दिन है हाहाकार॥
उदर भरन हित अन्न रह्यौ घर माहिं जो।
दानव दल माँ आय काढ मुखतैं लियो॥
भेंट धरैं जो माय कहा, हम पास है।
केवल आँखिन जल अरु लम्बी साँस है॥[1]

अथवा

हरे राम! केहि पाप ते भारत भूमि मँझार।
हाड़न की चक्की चलै हाड़न को व्यापार॥
अब या सुखमय भूमि में नाहिन सुख को लेस।
हाड़ चाम पूरित भयो अन्न दूध को देस॥
फिरत पेट के फेर मँह सूकर स्वान समान।
केहि कारन नर तनु दियो कृपासिन्धु भगवान॥[2]

अन्न और दूध के देश में हाड़ो की चक्की चलना एक ऐसी परिस्थिति थी जिसके सम्मुख अँगरेजी राज्य की शान्ति और व्यवस्था निरर्थक थी। भूख की पीड़ा अन्य पीड़ाओ से अधिक कष्टदायक होती है। इसीलिए भारतेन्दु-युग के कवि अपनी आर्थिक दुर्दशा पर सबसे अधिक व्यथित थे। आर्थिक शोषण के कारण ही उनको अँगरेजी राज्य भारत के लिए दुर्दैव प्रतीत हो रहा था। अस्तु।

भारतेन्दु-युग के कवियो के सम्मुख अपने देश और समाज का जो चित्र था उसमें वैभव और उल्लास का सर्वथा अभाव है। अत उनका वर्णन निराशावाद की परिधि के प्राय बाहर नहीं निकलता।

१—'आगमनी' (२३ सितम्बर, १८९५) बा० मु०-नि०, पृ० ५६६।
२—'हे राम' (१ अक्टूबर, १९००) बा० मु०-नि०, पृ० ५८७-५८८।

हो सकती हैं। यदि उसको ईश्वर और उसकी कृपा पर विश्वास है तो वह अपने उद्धार के लिए उससे प्रार्थनाएँ करता है और यदि वह चारो ओर से निराश हो जाता है तो विक्षिप्त होकर आत्मविध्वंस की कामना करने लगता है। भारतेन्दु-युग का निराशावाद प्राय. दूसरी अवस्था तक नहीं पहुँचा। चारो ओर से निराश होकर कवियो ने राम-कृष्ण, दुर्गा आदि से अनेक कातर प्रार्थनाएँ की हैं। यथा—

१—कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए ॥
× × ×
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब विधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहु बचाई ॥[1]
—भारतेन्दु

२—निज हायन सरबस खोय चुके कहँ लौं दुख पै दुख ही भरिये।
हम आरत भारत वासिन पै अब दीन दयाल कृपा करिये ॥[2]
—प्रतापनारायण मिश्र

३—यह हिन्दू गन दीन छीन हैं सरन तुम्हारे।
मारो चाहे राखो तुमही हो रखवारे ॥[3]
—बालमुकुन्द गुप्त

उपर्युक्त प्रार्थनाओं मे निराशावादी अनुभूति का ही प्राधान्य है। कवियो की प्रार्थनाएँ उस डूबने वाले व्यक्ति की स्वाभाविक पुकार के समान हैं जो अपने विनाश की अन्तिम घड़ी समुपस्थित देखकर चीख उठता है। कवियों ने भगवान् द्वारा भारत के उद्धार की दृढ़ आशा प्राय व्यक्त नही की।

देश के पराभव से उत्पन्न वेदना और निराशा, अतीत वैभव के विनाश के स्मरण से उत्पन्न क्षोभ एवं विदेशी शासन की पराधीनता से उत्पन्न आत्मग्लानि आदि दुःखात्मक अनुभूति ने कवियो को

१—'नीलदेवी' (सं० १९३८) भा०-ना०, पृ० ५२६–५३०।
२—'मन की लहर' (सन् १८८५), पृ० ३६।
१—'हे राम' (१ अक्टूबर, १९००) बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली पृ० ५८६।

कवि को भारतवर्ष की धूल पर गर्व है—भारत के अतीत पर अभिमान है। किन्तु वर्तमान समय की परिस्थितियाँ उसे इतनी विषम प्रतीत होती हैं कि वह छटपटा कर मौन रह जाता है। यदि उसे कोई उपाय राष्ट्रीय उद्धार का दिखलाई पड़ा होता तो उसकी राष्ट्रीय रचनाओं मे निराशा की रेखाएँ इतनी स्पष्ट उभरी हुई दिखलाई न पड़ती।

इस विवशता की अनुभूति के कारण ही वह नाटक का आरम्भ आँखों में आँसू भरे हुए करता है—

रोअहु सब मिलिके आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥[1]

और अन्त भी 'भारत-भाग्य' की आत्महत्या के साथ करता है। परिस्थितियों की अजेयता की भावना से प्रेरित होकर ही उसने इस प्रकार की निराशावादी घोषणाएँ की हैं—

निहचै भारत को अब नास।
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहि मिलिहै ह्वैहै सब बल चूर।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलि है धूर॥[2]

अथवा

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीर-वर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहै।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा।
अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा॥[3]

भारत के उद्धार की आशा का सर्वथा परित्याग निराशात्मक अनुभूति की चरम सीमा है।

मनुष्य जब विषम परिस्थितियों पर विजय पाने में अपने को असमर्थ पाता है तब उसके हृदय पर दो ही मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ

१—'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३७) भा०-ना०, पृ० ४५७।
२—'भारत-दुर्दशा' (सं० १९३७) भा०-ना०, पृ० ४८०।
३—'नीलदेवी' (सं० १९३८) भा०-ना०, पृ० ५२१।

भारतेन्दु-युग के निराशावाद का मूल्याङ्कन

भारतेन्दु-युग के कवियो ने जिन परिस्थितियों मे देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रेरित होकर, देश और समाज की वस्तु स्थिति का चित्रण करने के लिए लेखनी उठाई थी, उनमे निराशावादी भावनाओं की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक था। किन्तु उनके निराशावाद को हम केवल निष्क्रिय रुदन अथवा निष्प्रयोजन हाय-हाय करने तक परिसीमित नहीं मान सकते। भारतेन्दु-युग मे ॲगरेजी शासन के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकालना सरल कार्य नहीं था। ॲगरेजों की अनीतियो, आर्थिक शोषण, जनता के नागरिक अधिकारो का अपहरण, जातीय अपमान आदि-की निन्दा चाहे जितनी दबी वाणी मे क्यो न की गई हो, राष्ट्रीय जागर्त्ति मे उसका बहुत मूल्य है। जिस युग मे "इङ्गलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा से"[1] देश-प्रेम की अभिव्यंजना करने वाली जुबान पर ताला डाल दिया जाता हो, उस युग में देश-प्रेम के भावों की अभिव्यक्ति निराशावादी शैली के माध्यम से ही सम्भव थी। अत कहीं-कहीं तो केवल आलोचनात्मक भावो को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही कवियो ने निराशावादी शैली का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु-युग का कवि अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रति निराशावादी नहीं है। उसे आर्य रक्त की पवित्रता और अपनी वंश-परम्परा पर गर्व है। उसे आर्य संस्कृति का उत्तराधिकारी होने पर गौरव है। वह केवल उन रूढ़ियो और अन्ध विश्वासो पर क्षुब्ध है जिनको हिन्दू जाति ने मध्य कालीन पराभव के दिनों में ग्रहण कर लिया था और अब उनका परित्याग नहीं करना चाहती। वह जब कभी अपने समय की सामाजिक बुराइयों पर प्रहार करता है तब अपना अतीत कालीन आर्य आदर्श जनता के सम्मुख पहले उपस्थित कर देता है, जिससे वह किंकर्तव्य विमूढ़ न हो सके।

१—देखिए—भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४८८।

कभी-कभी निराशावाद की उस अवस्था तक पहुँचा दिया है जिस में मनुष्य आत्मविध्वंस अथवा सर्वनाश की कामना करने लगता है। ऐसी ही निराशावादी एवं आवेशमयी मनःस्थिति में भारतेन्दु कामना करते हैं—

तुम में जल नहिं यमुना गंगा।
बढ़हु वेगि करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंग निधि अतिबल आगर॥
बढ़हु न वेगि धाइ क्यों भाई।
देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥[१]

यह सर्वनाश की कामना भारतेन्दु-युग के निराशावाद का चरमविन्दु है। चिन्ता, क्षोभ, निराशा आदि दुःखात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कवियों ने राष्ट्रीय पराभव की परिस्थितियो और पराभव का वर्णन करने के साथ ही की है। देश-प्रेम की भावना को व्यंजित करने वाली कदाचित् ही कोई कविता लिखी गई हो जिसके साथ कवि की कोई न कोई दुःखात्मक अनुभूति सम्बद्ध न हो। अस्तु। भारतेन्दु-युग का राष्ट्रीय काव्य दुःखात्मक अनुभूतियों और निराशात्मक भावनाओं से संक्रान्त होने के कारण निराशावादी काव्य में सन्निहित किया जाना चाहिए।

१—'भारत दुर्दशा' (सं० १९३७) भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४९२-४९३।

उन्नतिपूर्ण कामो की प्रेरणा देने के लिए कवियो को आशा और उत्साह के गीत गाना आवश्यक हो जाता है।

भारतेन्दु-जैसा जन-नायक इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अनभिज्ञ नहीं था। हरिश्चन्द्र जब किसी रचनात्मक कार्य की प्रेरणा देने के लिए अपने भाव व्यक्त करते थे तो कटु आलोचना और निराशावादी विचारो का परित्याग कर अपना आशावादी दृष्टिकोण जनता के समक्ष रखते थे। उदाहरणस्वरूप 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' देते हुए हरिश्चन्द्र अपने श्रोताओं को समझाते हैं—

बीती अब दुःख की निसा देखहु भयो प्रभात।
उठहु हाथ-मुँह धोइ के, बाँधहु परिकर भ्रात॥

× × ×

निज भाषा, निज धरम, निज मान करम व्यौहार।
सबै बढ़ावहु वेगि मिलि कहत पुकार-पुकार॥
लखहु उदित पूरब भयो भारत-भानु प्रकास।
उठहु खिलावहु हिय-कमल करहु तिमिर दुख नास॥[1]

राष्ट्रीय पराभव की घोर निराशा की निशा मे 'भारत-भानु प्रकास' देखना एक महान आशावादी कवि का काम है। पृथ्वीराज के शब्दों मे दिया गया राधाकृष्णदास का अधोलिखित संदेश भारतेन्दु-युग के आशावादी सदेश के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है—

जद्यपि पराधीन भए पै जौ आतमपनौ न विसरिहौ।
धर्म, ऐक्य, विद्या अनुसरिहौ तौ अरि सीस विदरिहौ॥
जैसी भई दसा यह सो तुम निज नैननहि निहारौ।
दूर बहाय खोट सो इक ह्वै भारत मातु उबारौ॥
जिनि भूलौ निज पुरुषन के गौरव की भ्रात कहानी।
सिमिटि शत्रु-दल मेटि उबारौ भारत भुव सुख खानी॥[2]

किन्तु इस प्रकार की कविताएँ भारतेन्दु-युग मे विरल हैं। अस्तु।

भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय काव्य में निराशावाद का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को तीन प्रमुख प्रेरक तत्व दिखलाई पड़ेंगे—

१—भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ७३८।
२—'पृथ्वीराज प्रयाण'—राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० ३।

वह अपने समाज की अकर्मण्यता, अविद्या, नैतिक अध पतन एवं अन्य दुर्बलताओं पर जब प्रहार करता है तो उसे भारतवर्ष के अतीत बल, पराक्रम एव नैतिक आदर्शों का अवश्य स्मरण करा देता है, जिससे उसमे जातीय अभिमान बना रहे। आर्य-गौरव और आर्य-मर्यादा का स्मरण दिलाने के पश्चात् वह अपनी वाणी की पूरी शक्ति के द्वारा समाज की दुर्व्यवस्था की आलोचना करता है और यह आशा करता है कि अतीत गौरव का अभिमान जनता के हृदय में जाग्रत होने के पश्चात् जहाँ वर्तमान अवस्था से असंतोष उत्पन्न हो जायगा, वह अपने पूर्व गौरव की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुए बिना नहीं रह सकती। इस मंगल-कामना से प्रेरित होकर कवि समाज के सम्मुख उसका निकृष्टतम चित्र उपस्थित करता है, उसके बिनाश के ताने देता है, और यह सोचता है कि उसके व्यग्य-बाणों से तिलमिला कर जनता अपने राष्ट्रोत्थान के लिए अवश्य कटिबद्ध हो जायगी। अत समाज की आलोचना निराशावादी होते हुए भी कवि का उद्देश्य समाज मे निराशावाद का प्रचार करना नही।

भारतेन्दु-युग का कवि अपने पैने शब्द-बाणों के द्वारा सोती हुई जाति को जगाना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे राष्ट्र के पराभव का दर्द पैदा करना चाहता है। वह चाहता हैं कि विश्व की अन्य जातियाँ यान्त्रिक समृद्धि में जिस स्फूर्ति के साथ संलग्न हैं उसी लगन और स्फूर्ति के साथ भारतवासी भी उद्योग-धन्धो में जुट जायँ। इस दृष्टि से विचार करने पर भारतेन्दु-युग का राष्ट्रीय काव्य आशावाद का एक अग ही प्रतीत होगा।

इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि असतोष और क्षोभ उत्पन्न करने के लिए निराशावादी भाव और शैली की चाहे जितनी उपादेयता क्यो न हो, निषेधात्मक आलोचना कर्म की भावात्मक प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त नही है। प्रवृत्तिमूलक उत्साह उत्पन्न करने के लिए आशावाद का सहारा लेना ही पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति या जाति को सदा अकर्मण्य, मूढ़, दुर्बल, पतित आदि निराशोत्पादक नामों से ही सम्बोधित किया जाय तो तत्प्रकारेण सम्बोधित व्यक्ति अथवा जाति के मानस पर हीनता के सस्कार पड़े बिना नही रह सकते और वह किसी महत्कर्म में भी सलग्न नही हो सकती। कला-कौशल सीखना, उद्योग धन्धो मे लगना आदि

अध्याय ३

द्विवेदी-युग (सन् १९००–१९२२ ई०)

१—स्वतन्त्रता सग्राम की विफलता, विदेशी शासन की पराधीनता, आर्थिक शोषण की तीव्रता आदि प्रतिकूल परिस्थितियो की स्वाभाविक प्रतिक्रिया जो कवियों को चेतना पर आतक, आत्महीनता, आत्म ग्लानि, विवशता एवं राष्ट्रोद्धार की निराशा आदि दुःखात्मक और निराशावादी भावो को जन्म दे रही थी।

२—विदेशी शासन की अनीतियों की आलोचना करने के लिए एवं अँगरेजी सभ्यता आदि को अपनाने के घातक प्रभाव को जनता के समक्ष उपस्थित करने के लिए निराशावादी शैली का व्यंग्य प्रयोग। और

३—सुप्त समाज में जागर्त्ति उत्पन्न करने एवं वर्तमान अवस्था से असतोष उत्पन्न करके समयानुकूल अपने में परिवर्तन करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से निराशावादी विचारो की अभिव्यंजना।

भारतेन्दु-युग का निराशावादी काव्य हिन्दी-साहित्य की मूल्यवान सम्पत्ति है। भारतेन्दु-युग के कवियों ने निराशावाद के माध्यम से राष्ट्र को जाग्रत करने के लिए जो प्रयत्न किए थे उनका लाभदायक फल हम द्विवेदी-युग की काव्य धारा में देश-प्रेम, समाज-सेवा आदि की भावनाओ के रूप में पाते हैं। राष्ट्र की उत्तरोत्तर जागर्त्ति में भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय निराशावादी काव्य का महत्वपूर्ण योग है।

---

(१) कातर प्रार्थनाएँ—

भारतवर्ष की तत्कालीन शोचनीय अवस्था से दुखी होकर भारतेन्दु-युग के कवि ईश्वर से कातर प्रार्थनाएँ किया करते थे। यथा—

डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो॥
महामूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥[1]

—भारतेन्दु

द्विवेदी-युग के प्राय सभी कवियों ने इस परम्परा का निर्वाह किया है। यथा—

(क) हरो दुख नटवर कृष्ण मुरारी।
दुख-समुद्र में डूब रही है, भारत मातु हमारी॥[2]

—श्यामलाल गुप्त

(ख) नाथ तुम काहे लगायो एती बार।
आरत दीन पुकारत भारत अबकी लेहु उबार॥[3]

— लल्लनप्रसाद शर्मा

(ग) कृपानिधि ! विपति हरो अब मेरी॥
हुई विनष्ट सभ्यता सारी कायरता ने घेरी।
करो कृपा हे भव-भ्रम-भञ्जन रही भारती टेरी॥[4]

—शिवदास गुप्त

भारतेन्दु-युग में जब इस प्रकार की कातर प्रार्थनाएँ सुनाई पड़ती थीं तब उनमें मौलिकता थी क्योंकि भारतेन्दु-युग के पूर्व भगवान् से आत्मोद्धार विषयक प्रार्थनाओं का प्रचार था; किन्तु द्विवेदी-युग में लिखी गई इस प्रकार की प्रार्थनाएँ परम्परा का प्रतिपादन मात्र रह गईं थीं। हृदय को स्पर्श करने वाली संवेदना का उनमें अभाव था।

१—भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६८३।
२—स्वराज्य-वीणा, पृ० ७।
३—राष्ट्रीय-वीणा, पृ० ६१
४—राष्ट्रीय-वीणा, पृ० ६६।

द्विवेदी-युग का काव्य—

द्विवेदी-युग का प्रथम दशक काव्य-क्षेत्र में कोई विशेष उत्कर्ष नही लाता। कारण यह कि भारतेन्दु के अस्त हो जाने के पश्चात् उसके मण्डल के दीप्तिमान नक्षत्र प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन आदि साहित्याकाश से लुप्त हो जाते हैं और द्विवेदी-युग के उदीयमान कवि मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल, रामचरित उपाध्याय आदि इस काल मे काव्य-क्षेत्र में नया-नया प्रवेश करते हैं। अत १९१० ई० तक काव्य-क्षेत्र में कोई विशेष उत्कर्ष परिलक्षित नही होता।

काव्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण समृद्धि न होने का एक कारण खड़ी बोली का प्रचार भी था। ब्रज भाषा शताब्दियो तक काव्य-भाषा के रूप में प्रचलित होने के कारण घुट-पिसकर माधुर्य के साँचे में ढ़ल चुकी थी। ब्रज भाषा का बहिष्कार करके जब खड़ी बोली मे कविताएँ लिखी जाने लगी तो उनमें रसात्मकता न आ सकी। कही-कही तो खड़ी बोली में लिखी गईं प्रारम्भिक कविताएँ रूखी-सूखी तुक-बन्दियों से ऊँची नही ठहरतीं। १०-२० वर्ष के कठोर परिश्रम के पश्चात् खड़ी बोली जब कुछ समृद्ध और परिष्कृत बनी काव्य-क्षेत्र में नवीन भावों का प्रचार हो गया जिनकी अभिव्यक्ति ने द्विवेदी-युग की काव्य-धारा को ही समाप्त कर दिया। अत द्विवेदी-युग के भाग्य में केवल भाषा का सुधार ही पड़ सका, परिष्कृत और समृद्ध भाषा का लाभ द्विवेदी-युग से आगे आने वाले युग को हुआ।

भाषा की समस्या के अतिरिक्त मौलिकता का अभाव द्विवेदी-युग के काव्य की दूसरी दुर्बलता है।

द्विवेदी-युग के कवियो ने भारतेन्दु-युग से राष्ट्रीय-भावना को ग्रहण किया था। समाज की सर्वतोमुखी अवनति पर रुदन, वर्तमान समाज-व्यवस्था पर असंतोष, पौराणिक एवं ऐतिहासिक महापुरुषो के गुण-गान, अतीत-वैभव के विनाश पर पश्चात्ताप आदि भावनाओ को उन्होने जिस रूप में प्राप्त किया था द्विवेदी-युग के कवि उनका उसी रूप में प्रतिपादन करते रहे। वे उस भाव-धारा मे कोई विशेष उन्मेष अथवा काव्यात्मकता न ला सके। एक-दो उदाहरणों से परम्परा का प्रतिपादन स्पष्ट हो सकेगा।

द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता—

काव्य के उत्कर्ष में बाधा डालने वाली सबसे बड़ी रुकावट द्विवेदी जी और उनके मण्डल की आदर्शवादिता थी। शृंगार-भावना, प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के विरुद्ध मानो आलोचकों ने जिहाद बोल दी हो। अत कवियों की कोमल भावनाएँ इस आदर्शवादिता के कारण हृदय के कोने में बन्द पड़ी रहीं, उन्हें वाणी न मिल सकी। द्विवेदी-युग में सामाजिक सुधार और राजनीतिक आन्दोलन गद्य और पद्य दोनों को अधिकृत किए हुए थे। परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी-युग का काव्य शुष्क उपदेश से ऊँचा नहीं उठ सका। इस युग में काव्य का प्रयोग विभिन्न विषयों के प्रतिपादन के लिए उसी प्रकार होता रहा जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में नीति और ज्योतिष-शास्त्र के नियमों की व्याख्या के लिए विविध छन्दों का उपयोग किया जाता था। प्रेम और सौन्दर्य, जो काव्य के अपने विषय थे, युग की आदर्शवादिता के कारण अभिव्यक्ति न पा सके और द्विवेदी-युग का काव्य अपने में प्राणों का स्पन्दन समाहित न कर सका। द्विवेदी-युग की इस आदर्शवादिता की सजग प्रतिक्रिया हम छायावादी युग के गीत-काव्य में पाते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन—

कविता जब जीवन के संवेगात्मक पक्ष का परित्याग करके राजनीतिक या सामाजिक आन्दोलनों के प्रचार का साधन बन जाती है तो उसमें रसात्मकता, कल्पना-सौन्दर्य आदि गुणों का ह्रास होने लगता है। जैसे वर्तमान समय में काव्य के द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा रही है, उसी प्रकार द्विवेदी-युग में कविता का मुख्य विषय 'होम-रूल', 'स्वराज्य' की माँग, स्वदेशी वस्तुओं की स्वीकृति, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, असहयोग और सत्याग्रह आदि राजनीतिक विषय बन गए थे। आधुनिक हिन्दी-काव्य ने राष्ट्रीय जागृति एवं राष्ट्रीय संग्राम में भाग लिया, यह उसके लिए गौरव की बात है; किन्तु वैसा करने से वह श्रेष्ठ काव्य कहलाने का अधिकारी प्राय नहीं बन सका। अतः द्विवेदी-युग के अधिकांश स्फुट गीत एक राष्ट्रीय सैनिक के गीत हैं जो उसे अपने कर्तव्य का ध्यान दिलाते रहते हैं किन्तु उनमें समवेदना का वह माधुर्य्य नहीं है जिसे सामान्य जनता दीर्घ काल तक गुनगुनाती रहे। अस्तु।

थे,[1] यदि १६ वी शती का साहित्य गोष्ठी-साहित्य कहला सकता है तो द्विवेदी-युग के साहित्य—विशेषकर काव्य—को पुलपिट काव्य कहना अनुचित न होगा। द्विवेदी-युग के कवि काव्य-मच पर एक सफल वक्ता के रूप में आते हैं और सीधी-सादी अनलकृत भाषा में अपने श्रोताओं को छोटी-बडी वक्तृता दे जाते हैं। उनके काव्य में वस्तु का यथातथ्य वर्णन हुआ करता था। व्यजना और वक्रोक्ति जैसे साधनो को वे नही अपनाते, अपितु अपनी बात को अधिक से अधिक स्पष्ट भाषा मे कहते हैं। समाज की आलोचना, विधवा, अछूत आदि के कष्टों का बखान, पराधीनता का अभिशाप, अँगरेजी शासकों की निन्दा, समाज-सेवा, देश-भक्ति आदि विपय उनकी कविता का प्रतिपाद्य प्राय हुआ करता था। कविता सरस हो या फीकी इसकी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं थी; वह स्पष्ट है एवं तर्कसंगत है, इस बात का वे ध्यान रखते थे। और ऐसा करने से उनकी रचनाएँ प्राय छन्दबद्ध व्याख्यान बन गए हैं।

गद्य का युग—

द्विवेदी-युग वस्तुत गद्य के प्रचार व प्रसार का युग है। इस युग के साहित्यकारों का लक्ष्य अपनी रसीली कविताओ से जनता का मनोरंजन करना नही था। वे हिन्दी-भापा को राष्ट्र-भापा के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। साहित्यकारों ने एक ओर पाश्चात्य-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों को हिन्दी में अनूदित करना प्रारम्भ किया, दूसरी ओर सस्कृत और बङ्गला के अच्छे-अच्छे ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया और अन्य भापाओं की देखादेखी निबन्ध, आलोचना आदि का स्वरूप निश्चित किया। ऐसे वातावरण में काव्य का पूर्ण होना, जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से अधिक हृदय की संवेदना से है, कठिन था। द्विवेदी-युग की पत्रिकाओं के निवन्ध एव कविताओ की यदि गणना की जाय तो छोटी-छोटी तुकवन्दियो को छोड़कर कविताओ से निवन्धो की सख्या अधिक होगी। साहित्यकारो का झुकाव साहित्य की समृद्धि और भापा के विकास की ओर होने के कारण द्विवेदी-युग का काव्य भी छन्दमय गद्य से आगे न बढ़ सका।

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० १५।

प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतेन्दु अपने देश की दुर्दशा से इतने विक्षुब्ध थे कि उन्हें उस पर सबके साथ मिलकर आँसू बहाने के अतिरिक्त अपने हृदय का विषाद हलका करने का कोई मार्ग नही सूझता था, जब कि मैथिलीशरण गुप्त देश की संगठित शक्ति में विश्वास करते हैं और परिस्थितियो को पराजित करने की प्रेरणा देते हैं। उन्हे विश्वास है कि हम तीस कोटि भारतवासी मिलकर अपने दु:खों का अवश्य विनाश कर सकते हैं। आखिर अन्य मनुष्यो की भाँति हम भी मनुष्य हैं, हमारे भी हाथ-पैर हैं। हमारी राष्ट्रीय एकता मे इतनी शक्ति है कि सब मिलकर यदि अपने पराभव पर आँसू भी बहा उठें तो प्रलय हो जायगी। अत. हमें आलस्य का परित्याग करके राष्ट्रीय अभ्युत्थान में लग जाना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रथम उद्धरण विषम परिस्थितियो की कवि-हृदय पर स्वाभाविक प्रतिक्रियामात्र है, जबकि दूसरा परिस्थितियो पर विजय पाने की दृढ़ सम्भावना प्रकट करता है और संगठित शक्ति के द्वारा राष्ट्रीय उद्धार की आशावादी प्रेरणा देता है।

भारतेन्दु-युग का कवि अपने राष्ट्रीय पराभव से दु.खित और निराश होकर भगवान् की शरण में कातर पुकार किया करता था। यथा—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।[1]

जबकि द्विवेदी-युग का कवि प्रार्थना के साथ-साथ भगवान् के द्वारा भारत के उद्धार मे दृढ़-विश्वास भी रखता है। जैसे—

सौ-सौ निराशाएँ रहें विश्वास यह दृढ मूल है।
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है॥
अनुकूल अवसर पर दयानिधि फिर दया दिखलायँगे।
वह दिन यहाँ फिर आयँगे, फिर आयँगे फिर आयँगे॥[2]

राष्ट्रीय अभ्युत्थान का दृढ़ विश्वास ही द्विवेदी-युग को आशावादी युग बना देता है। परिस्थितियो की दृष्टि से देखा जाय तो अँगरेजी शासन जैसा भारतेन्दु-युग में था वैसा द्विवेदी-युग मे भी। सामाजिक व्यवस्था मे भी कोई विशेष परिवर्तन नही हो गया था। आर्थिक रूप से भी द्विवेदी-युग का भारतवर्ष भारतेन्दु-युग से अधिक सम्पन्न

१—प्रबोधिनी (सं० १६३१) भा० ग्रन्थावली, पृ० ६८३।
२—भारत-भारती, पृ० १७६।

उपर्युक्त कारणों से द्विवेदी-युग का काव्योत्कर्ष सीमित बना रहा है। उसमें हृदय की उस समवेदना का अभाव है जिसकी गहराई में पैठकर आशावाद या निराशावाद की विस्तृत समीक्षा की जा सके। फिर भी आधुनिक हिन्दी-काव्य की सूत्रबद्ध समीक्षा करने के उद्देश्य से द्विवेदी-युग के काव्य में निहित आशा-निराशा पर एक विहगम दृष्टि डाल लेना अपेक्षित है।

द्विवेदी-युग के निराशावाद की सीमा—

द्विवेदी-युग वस्तुत आशावाद का युग है। परिस्थितियाँ चाहे जितनी विषम हों कवियों की दृष्टि उनके प्रति पराजयवादी नहीं। प्रतिकूल परिस्थितियों का वर्णन करने के पश्चात् द्विवेदी-युग का कवि केवल हाय-हाय करके अथवा आँसू बहाकर मौन नहीं रह जाता; अपितु परिस्थितियों पर विजय पाने की भावात्मक प्रेरणा देता है और राष्ट्रीय उद्धार की दृढ़ आशा प्रकट करता है। आशावाद और निराशावाद का निर्णय परिस्थितियों के प्रति कवि के दृष्टिकोण के आधार पर ही किया जा सकता है और इस कसौटी पर द्विवेदी-युग के काव्य को परखने पर वह आशावाद के अधिक समीप दिखलाई पड़ता है।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों के कवियों के दृष्टि-भेद का एक-दो उद्धरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। विषम परिस्थितियों से निराश होकर भारतेन्दु ने सन् १८८० में लिखा था—

रोअहु अब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥[1]

राष्ट्रीय जागर्त्ति, एकता और तीस करोड़ भारतवासियों की सगठित शक्ति का अनुभव करके सन् १९११ में मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं—

अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं?
क्या हम सभी मानव नहीं? किंवा हमारे कर नहीं?
रोभी उठें हम तो बने क्या अन्य रत्नाकर नहीं?[2]

दोनों कवियों के उद्गार अपने-अपने युग की अनुभूतियों का सच्चा

१—भारत-दुर्दशा, (स० १९३७) भा० नाटकावली, पृ० ४५७।
२—भारत-भारती, पृ० १५५

प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतेन्दु अपने देश की दुर्दशा से इतने विक्षुब्ध थे कि उन्हे उस पर सबके साथ मिलकर आँसू बहाने के अतिरिक्त अपने हृदय का विषाद हलका करने का कोई मार्ग नहीं सूझता था, जब कि मैथिलीशरण गुप्त देश की संगठित शक्ति में विश्वास करते हैं और परिस्थितियों को पराजित करने की प्रेरणा देते है। उन्हे विश्वास है कि हम तीस कोटि भारतवासी मिलकर अपने दुःखो का अवश्य विनाश कर सकते हैं। आखिर अन्य मनुष्यो की भाँति हम भी मनुष्य हैं, हमारे भी हाथ-पैर हैं। हमारी राष्ट्रीय एकता मे इतनी शक्ति है कि सब मिलकर यदि अपने पराभव पर आँसू भी बहा उठे तो प्रलय हो जायगी। अत हमे आलस्य का परित्याग करके राष्ट्रीय अभ्युत्थान मे लग जाना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रथम उद्धरण विषम परिस्थितियो की कवि-हृदय पर स्वाभाविक प्रतिक्रियामात्र है, जबकि दूसरा परिस्थितियों पर विजय पाने की दृढ़ सम्भावना प्रकट करता है और सगठित शक्ति के द्वारा राष्ट्रीय उद्धार की आशावादी प्रेरणा देता है।

भारतेन्दु-युग का कवि अपने राष्ट्रीय पराभव से दुःखित और निराश होकर भगवान् की शरण मे कातर पुकार किया करता था। यथा—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।[1]

जबकि द्विवेदी-युग का कवि प्रार्थना के साथ-साथ भगवान् के द्वारा भारत के उद्धार मे दृढ़-विश्वास भी रखता है। जैसे—

सौ-सौ निराशाएँ रहें विश्वास यह दृढ मूल है।
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है॥
अनुकूल अवसर पर दयानिधि फिर दया दिखलायँगे।
वह दिन यहाँ फिर आयँगे, फिर आयँगे फिर आयँगे॥[2]

राष्ट्रीय अभ्युत्थान का दृढ़ विश्वास ही द्विवेदी-युग को आशावादी युग बना देता है। परिस्थितियो की दृष्टि से देखा जाय तो अँगरेजी शासन जैसा भारतेन्दु-युग में था वैसा द्विवेदी-युग मे भी। सामाजिक व्यवस्था मे भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो गया था। आर्थिक रूप से भी द्विवेदी-युग का भारतवर्ष भारतेन्दु-युग से अधिक सम्पन्न

१—प्रबोधिनी (सं० १९३१) भा० ग्रन्थावली, पृ० ६८३।
२—भारत-भारती, पृ० १७६।

नहीं बन गया था, फिर भी परिस्थितियों के प्रति द्विवेदी-युग का दृष्टिकोण बदल चुका है, जिसको सम्यक् रूप से समझने के लिए द्विवेदी-युग की राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उसकी काव्य-धारा की समीक्षा करनी पड़ेगी।

द्विवेदी-युग के काव्य में निराशावाद की अभिव्यक्ति चाहे न मिले किन्तु विदेशी शासन के प्रति असन्तोष, सामाजिक व्यवस्था पर क्षोभ और आधिभौतिक सकटो पर विषाद की अभिव्यजना अवश्य मिलती है, साथ ही विधवा, अछूत और किसान जैसे समाज द्वारा उत्पीड़ित, उपेक्षित और शोषित वर्गों के प्रति निष्क्रिय समवेदना की अभिव्यक्ति भी मिलती है। अत द्विवेदी-युग का निराशावाद केवल असन्तोष, क्षोभ, विषाद और निष्क्रिय समवेदना तक परिसीमित है।

द्विवेदी-युग की राजनीतिक परिस्थितियाँ और राष्ट्रीय असन्तोष

आशावादी विचारो को प्रोत्साहित करनेवाली परिस्थितियाँ—

परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में आशा और निराशा का आवर्त्तन अथवा विवर्तन हुआ करता है उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन मे भी। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के काव्य की आत्मा एक है। दोनो युगों में राष्ट्रीय विचारों का प्राधान्य है। किन्तु द्विवेदी-युग के काव्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह निराशावाद से आशावाद के अधिक समीप है। इस अन्तर का कारण राष्ट्रीय जागर्त्ति और राजनीतिक वातावरण है।

द्विवेदी-युग के आरम्भ होने तक सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम की विफलता को आधी शताब्दी व्यतीत हो चुकी थी। भारतेन्दु-युग की चेतना पर आतंक और हीनता के जो सस्कार पड़े हुए थे वे अब क्षीण हो चुके थे और राष्ट्र अब एकता और संगठित शक्ति का अनुभव करने लगा था। राष्ट्रीय कांग्रेस (सन् १८८५) जैसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था की स्थापना और कार्य-क्रम राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधाने लगा था। भारतेन्दु ने जिस समय देश की अवनति पर आँसू बहाए थे उस समय देश में किसी ऐसी राजनीतिक संस्था की स्थापना नहीं हुई थी।

भारतेन्दु-युग के समान द्विवेदी-युग में शासित और शासकों में घृणा का वह भाव भी कम हो गया था जो सन् १८५७ के रक्तपात का प्रत्यक्ष परिणाम था। पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार और प्रसार के कारण भारतेन्दु-युग के कवियों को अपनी सभ्यता और संस्कृति के विनाश की जो सम्भावना प्रतीत हो रही थी, द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय जागर्त्ति ने उसे झूठा सिद्ध कर दिया था। पाश्चात्य सभ्यता की शिक्षा ने भारतीय सस्कृति का विनाश करने के विपरीत उसका

प्रांजल रूप शिक्षित समाज के सम्मुख उपस्थित किया था। इसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने जातीय भावना का विस्मरण कराने के विपरीत नव शिक्षित समाज में राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त किया था। अत द्विवेदी-युग के कवियों के सम्मुख 'भारत के डूबने' की कोई आशका नही थी। इसीलिए द्विवेदी-युग के काव्य में भारत के सास्कृतिक पराभव की सम्भावना प्राय. नही व्यक्त की गई।

द्विवेदी-युग के प्रारम्भ (सन् १९०४) में पूर्वीय शक्ति जापान ने पाश्चात्य शक्ति रूस को पराजित किया था। इस घटना के परिणाम-स्वरूप समस्त पूर्वीय देशों में आत्म-निर्भरता की भावना का संचार हुआ था और पाश्चात्य शक्तियों की अजेयता की भावना नष्ट हो गई थी; साथ-ही-साथ पूर्वीय सस्कृति की श्रेष्ठता की भावना भी उत्पन्न होने लगी थी। अत द्विवेदी-युग के काव्य में आत्म-हीनता की भावनाएँ भी उतने सवेग के साथ अभिव्यक्त नही हुई।

सन् १९०५ में बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन ने वल पकड़ा। वग-निवासियों ने 'एक साथ सब जीवें, मरें'[1] की प्रतिज्ञा की। स्वदेशी आन्दोलन यद्यपि वगाल तक सीमित रहा किन्तु उसका प्रभाव राष्ट्रव्यापी था। विदेशी माल का वहिष्कार करके स्वदेशी वस्तुओ के व्यवहार और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की वलवती प्रेरणा इस आन्दोलन से मिली। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का समर्थन करते हुए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने लिखा—

मुसलमान हिन्दुओ वही है कौमी दुश्मन।
जुदा-जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन॥

× × ×

१—आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
चाहे वग होय सौ भाग, पर न छुटे अपना अनुराग।
भोग विलास सभी टो छोड़, वावूपन से मुँह लो मोड़।
अपनी चीजें आप वनाओ, उनसे अपना अग सजाओ।
भजो वग-माता का नाम जिससे भला होय अजाम।
—'स्वदेशी आन्दोलन' (३० सितम्बर, १९०५ ई०) बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, पृ० ७११।

गाढ़ा भीना जो मिले उसकी हो पोशाक।
कीजै अंगीकार जो रहे देश की नाक॥[1]

इस स्वदेशी आन्दोलन में वंकिम का 'वन्दे मातरम्' देश के कोने-कोने में गूँजने लगा। भारतेन्दु-युग की 'भग्न सकल कंपित कर धारी' भारत-माता 'द्वित्रिंश कोटि खर करवाल' धारण करनेवाली दुर्गा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। जनता को साहस मिला और निराशा एवं हीनता की भावनाएँ क्षीण हुईं। आन्दोलन चलता ही रहा जब तक सन् १९११ के दिल्ली दरबार में वंग-भंग की योजना में संशोधन न हो गया। जनता ने इसे अपनी जीत समझी। संगठित आन्दोलन में बल है—उसके द्वारा राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूरी की जा सकती हैं—इस आशावादी विचार को प्रोत्साहन मिला।

सन् १९१६ में श्रीमती ऐनी बेसैन्ट और लोकमान्य तिलक द्वारा आयोजित 'होमरूल' आन्दोलन की धूम मची। अहिंसात्मक आन्दोलन के द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी ने सफलता प्राप्त की। देश का मुख उज्ज्वल हुआ। महात्मा गांधी के भारत लौटने पर देश ने उनका भव्य स्वागत किया। स्वाधीनता-प्राप्ति की आशा और प्रयत्नों को बल मिला। सन् १९१६-१८ तक 'होमरूल' का समर्थन करनेवाली राशि-राशि कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं जिनमें से यहाँ एक-दो उद्धृत कर देने से इस समय के आशावाद का कुछ आभास लग सकेगा—

(१) अधिकारी कहते हैं हम से—'तुम स्वराज्य के योग्य नहीं,
बिना योग्यता के शासन क्या मिल सकता है कभी कहीं?
बन्द करो इस आन्दोलन को, वृथा न हमसे वैर करो,
प्रथम तैरना सीखो बाबा, फिर पानी में पैर धरो।'
किन्तु, बिना पानी में पैठे कैसे तैरा जाय भला?
अधिकारी ही रखते होंगे ऐसी कोई सिद्धि कला!
और नहीं तो भव-सागर भी हमें तैरना आता है,
'होमरूल' तो तुच्छ चीटियों तक में पाया जाता है।
× × ×
सावधान, हे देश-बन्धुओ! आसन अपना हिले नहीं,
फिर ऐसा क्या है जो तुम को तप के बल से मिले नहीं?[2]
—मैथिलीशरण गुप्त

१—'स्वदेशी कुण्डल' (१९०६ ई०), पूर्ण-संग्रह, पृ० २११।
२—'स्वराज्य की योग्यता'—स्वराज्य-वीणा, पृ० ८।

(२) करेंगे क्या लेकर अपवर्ग, हमारा भारत ही सुख-स्वर्ग।
नहीं है किसी लक्ष्य पर ध्यान, चाहिए केवल स्वत्व समान ॥
इसे तजकर क्या तरु निर्मूल, करेंगे लेकर किंशुक फूल।
प्रकृत पुरुषों का जीवन-मूल, चाहिए केवल घर का रूल ॥[1]

—रामनरेश त्रिपाठी

इसी बीच में यूरोप का प्रथम महासमर (सन् १९१४-१८ ई०) छिड़ चुका था। भारत अँगरेजों की सहायता करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हुआ। महायुद्ध मे भारतीय सैनिकों ने अदम्य साहस और वीरता का प्रदर्शन किया। भारत-भाग्य-विधाता अँगरेजों ने भारतीय सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की और युद्ध-समाप्ति के पश्चात् भारत की उचित माँगों को स्वीकार करने का वचन दिया। जनता बड़ी उत्सुकता से स्वाधीनता-प्राप्ति की शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करने लगी। सन् १९१४-१८ के बीच में लिखी गई राष्ट्रीय कविताओं में कवियों का आशावादी दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। कवि स्वय ही परिस्थितियों के प्रति आशावादी दृष्टि नही रखता, अपितु अपने देशवासियों को भी आशावादी बनने की प्रेरणा देता है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

पं० बदरीनाथ भट्ट 'हिन्द के सुतों' को कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए उद्बुद्ध करते हुए लिखते हैं—

उठो हिन्द के सुतो ! सुदृढ हो, कर्म क्षेत्र में बढे चलो।
तजो निराशाभाव विफलता वायु वेग से तुम न हिलो ॥
कभी रुकावट हो न मार्ग में, चले किसी की कभी न घात।
खिले कमलिनी हिन्द-देश की, होय पूर्व में शुभ प्रभात ॥
चलो, उठो बस हुआ, बनो अब कर्मवीर, छोड़ो संताप।
भू-मण्डल में सभी जातियाँ बनती हैं अपने ही आप ॥[2]

इसी प्रकार गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' जनता मे देशाभिमान जागरित करने के उद्देश्य से लिखते हैं—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है ॥[3]

१—'प्रतिज्ञा'—स्वराज्य-वीणा, पृ० १५।
२—'उद्बोधन' (मर्यादा, सितम्बर-अक्टूबर, १९१२)।
३—'स्वाभिमान और देशाभिमान'—राष्ट्रीय-वाणी, पृ० १९।

और मातादीन शुक्ल भारत माता को आश्वासन देते हैं—

मॉं ! तू विलख विलख क्यों रोती ?
उन्नति की गति ही है ऐसी, ठहर ठहर कर होती ॥
अब तक रहीं जातियाँ तुझ पर, संकट अरु विष बोतीं ।
देख समय वह भी आता है, जब न रहेगी रोती ॥
तेरी विगत कान्ति-माला के, टूट गए गो मोती ।
फिर बनते हैं प्रेम-स्वाति से, चमकेगी वह ज्योती ॥
सारी जाति मोह निद्रा में, पड़ी-पड़ी नहिं सोती ।
तव सपूत सब पीर हरेंगे, नाहक धीरज खोती ॥[1]

'आशावादी बनो' शीर्षक कविता में कवि 'त्रिशूल' निराशावादी दृष्टिकोण रखने वाले लोगों को समझते हैं—

सोचो न तुम जी में कि हम परतन्त्र है पर दास है ।
पद दलित होकर शोक चिन्ता दुःख के आवास हैं ॥
है समय ही विपरीत अपने, या कि होनी है यही ।
मक्खन उड़ालें दूसरे हमको मिले मट्ठा मही ॥
त्योंही करो मत ध्यान यह, हम दीन हैं, बलहीन हैं ।
भक्षक शिकारी दूसरे हैं, भक्ष्य हैं हम मीन हैं ॥
हो मनुज की सन्तान तुम भी, तो वही जो और हैं ।
हैं बहुत सी बातें कि जिनमें आप ही शिरमौर हैं ॥[2]

मैथिलीशरण गुप्त अपने भाइयो का 'नैराश्य-निवारण' करते हुए लिखते हैं—

क्यों तुम यों निराश होते हो ?
भारत हुआ श्मशान हाय ! यह कहकर क्यों रोते हो ?
यदि वह महाश्मशान बना है, तो भी शिव का श्मशान बना है ।
शिव है वहाँ शक्ति भी होगी, क्यों धीरज खोते हो ?[3]

सन् १९१४-१८ के बीच में राष्ट्र ऊँची-ऊँची आशाएँ बाँधने लगा था। उसे स्वाधीनता-प्राप्ति निकट भविष्य मे दिखलाई पड़ने लगी थी। देश की इस आशावादिता का अनुमान रामचरित उपाध्याय और 'सनेही' की कुछ पंक्तियों से लगाया जा सकता है—

१—स्वराज्य वीणा, पृ० २
२—'आशावादी बनो', (मर्यादा, जुलाई १९१७)
३—'नैराश्य-निवारण' स्वदेश-सगीत, पृ० ७२ ।

१—देखें कब भगवान हमें वह दिन दिखलायें।
सकल जातियाँ, देश, राष्ट्र की पदवी पायें॥[1]

—सनेही

२—ऋतु परिवर्तन सदा हुआ करता है जैसे,
या ले-लेकर जन्म जीव मरता है जैसे,
सूर शशी या जिस प्रकार हैं चक्कर खाते,
चक्र नेमि या जिस प्रकार हैं चक्कर खाते,
भारत तुम भी दु ख-सुख उसी भाँति पाते रहे।
अब फिर सुख होगा तुझे दुख के दिन जाते रहे॥[2]

—रामचरित उपाध्याय

द्विवेदी-युग का यह आशावाद अधिक दिनो तक न चल सका। देश के राजनीतिक वातावरण में एक तूफान उठा और विदेशी शासन के प्रति जनता का रोप और असतोप भड़क उठा। वास्तव में भारतवर्ष मे कुछ ऐसी विचारधारा के लोग भी थे जिन्होने अँगरेजों की सद्भावनाओ में कभी विश्वास किया ही नही। राजनीतिक शब्दावली में इन लोगों को उग्र विचार-धारा का समर्थक कहा जा सकता है। उग्र विचार-धारा का मनोवैज्ञानिक आधार समझने के लिए हमें द्विवेदी-युग के घटना-चक्र पर पुन एक दृष्टि डालनी पड़ेगी।

क्षोभ और असतोष को प्रेरणा देने वाली परिस्थितियाँ—

साम्राज्यवादी शासन की कूटनीतियों से क्षुब्ध होकर सन् १८८४ में बलिया के मेले में व्याख्यान देते हुए भारतेन्दु ने कहा था—"हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर मे कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड कर मारोगे और जहाँ तक शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति-पथ में काँटा हों उनकी जड खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ-दो-सो मनुष्य बदनाम न होंगे, दरिद्र न हो जायेंगे, कैद न होंगे, वरञ्च जान से न मार दिए जायेंगे तब तक देश भी न सुधरेगा"।[3]

१—'जातीयता (राष्ट्रीयता)' राष्ट्रीय-मन्त्र, पृ० २२।
२—'भारत का भविष्य' राष्ट्र-भारती, पृ० १०।
३—भारतेन्दु-युग, पृ० ४९—डॉ० रामविलास शर्मा।

१५ जून १८९७ ई० के 'केसरी' के अंक में लोकमान्य तिलक ने लिखा था—"यदि तस्कर हमारे घर में प्रविष्ट हो जाते हैं और हम उनको बाहर निकालने में असमर्थ हैं, तो हमें नि संकोच होकर घर का दरवाजा बन्द करके आग लगा देनी चाहिए। ब्रह्मा ने भारतवर्ष का राज्य म्लेच्छों के नाम ताम्र-पत्र पर लिखकर वसीयत नहीं कर दिया।"[1] इस प्रकार की उग्र विचारधारा को अँगरेजों की कूटनीति और दमन ने ही जन्म दिया था।

१८९२ ई० के कांउसिल ऐक्ट ने जनता को विचित्र असमंजस में डाल दिया था। सुधार और दमन साथ-साथ चल रहे थे। भारतवासी अपनी जन्म भूमि में ही गुलाम थे। नेटाल आदि विदेशों में भी भारतीय प्रवासियों के साथ मानवीय व्यवहार नहीं किया जा रहा था। उनको (भारतवासियों को) न देश में सम्मान प्राप्त था न विदेश में। १८५८ ई० के घोषणापत्र की केवल उपेक्षा की जा रही थी; भारतवासी उसके अनुकूल व्यवहार नहीं पा रहे थे। विद्याध्ययन के लिए विदेश गए हुए भारतीय विद्यार्थियों को एक हीन जाति के व्यक्तियों के रूप में देखा जा रहा था। भारतवर्ष में ही उनके नागरिक अधिकारों का धीरे-धीरे अपहरण किया जा रहा था।

इन परिस्थितियों में देश के युवक कांग्रेस के कठोर वैधानिक उपायों से असंतुष्ट थे। कांग्रेस की प्रस्ताव पास करने, प्रार्थना-पत्र भेजने, शिष्ट मंडल के वायसराय या भारत-मंत्री से भेंट करने आदि की वैधानिक पद्धति को वे राजनीतिक-भिक्षा के घृणित नाम से पुकारते थे। आखिर भारत जैसे परतन्त्र देश में वैधानिकता का क्या अर्थ है? कांग्रेस की वैधानिक नीति क्या प्राप्त कर सकी? केवल कुछ नहीं। उनका विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि स्वतन्त्रता-देवी बलिदान चाहती है। युवकों के सम्मुख विश्व का इतिहास मौजूद था। फ्रांस, अमेरिका और जर्मनी की जनता ने अपना रक्त बहाकर ही आजादी हासिल की थी। आयरलैंड के निवासी मूर्ख नहीं थे जो प्रार्थना-

1—"If thieves enter our home and we have not sufficient strength to drive them out, we should without hesitation, shoot them up and burn them alive. God has not conferred on 'Mlecchas' the grant inscribed on copper plate of the kingdom of Hindustan." A History of Modern India. p. 348.

पद्धति और वैधानिकता का परित्याग करके स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अपना रक्त बहाते। और इङ्गलैंड जब अपनी ही जाति के अपने ही पड़ौसी आयरलैण्ड के साथ न्याय न कर सका तो भारतवर्ष किस आधार पर उससे अपने प्रति न्याय की आशा कर सकता है।[1]

लॉर्ड कर्जन (१६००–१६०५ ई०) की अनुदार नीति, भारत-वासियो के प्रति अपमानजनक शब्द, तथा बग-भग की शरारत भरी योजना ने युवकों के विश्वास को और भी पक्का कर दिया था। स्वयं कांग्रेस के अन्दर दो दल बन गए थे। एक को गरम दल और दूसरे को नरम दल का नाम दिया गया है। नरम दल तथा गरम दल का साध्य तो एक ही था, केवल साधन में अन्तर था। नरम दल अपनी वैधानिक नीति का समर्थक था, जब कि गरम दल सीधी कार्यवाही करना चाहता था। दोनों दलों में मतभेद बढ़ रहा था। १६०६ के कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नारोजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण दोनों दलों की मुठभेड़ बच गयी, किन्तु एक वर्ष बाद सूरत-अधिवेशन में वह होकर ही रही। सन् १६०८ में लोकमान्य तिलक को छ वर्ष का निर्वासन मिलने के कारण कांग्रेस पर नरम दल वालों का ही अधिकार रहा किन्तु, कांग्रेस तथा जनता में जो सम्पर्क चला आ रहा था वह टूट गया और गाधी-युग के पूर्व पुन स्थापित न हो सका।[2]

ऐसे क्षुब्ध वातावरण में देश के युवक अत्यधिक विक्षुब्ध थे। उनका विश्वास प्रस्ताव पास करने से अधिक बम और पिस्तौल में बढ़ता जा रहा था। गुप्त सस्थाएँ बन रही थी। राजनीतिक हत्याएँ होने लगी थी। लाला लाजपतराय गिरफ्तार कर लिए गए थे। सरकार का दमन चक्र तेजी से चल रहा था। प्रेस पर कड़ा नियत्रण हो रहा था। सन् १६०८ में 'क्रिमिनल लॉ एमेण्डमैण्ट ऐक्ट' पर बहस करते हुए गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था, 'नवयुवक हाथ से निकले जा रहे हैं, यदि हम उन्हें वश से न रख सके तो हमें दोष न देना।[3]

१—देखिए—'ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया', अध्याय १६, 'रिप्रेशन एण्ड फ्रीडम' पृ० ३४२, ३४७–५१।

२—देखिए—'ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, अध्याय १६, 'राइज ऑफ एक्स्ट्रीमिस्ट पार्टी' पृ० ३४७–३५१।

३—कांग्रेस का इतिहास पृ० ६६।

अँगरेज अफसरों का खून करने का तॉता सन् १६०७-८ से लगा और १६११-१२ तक चलता ही रहा। ऐसे ही खून का समर्थन करने के परिणामस्वरूप लोकमान्य तिलक को १३ जुलाई १६०८ ई० को छ: वर्ष के लिए माण्डले को निर्वासन हुआ था।

सन् १६११ मे सम्राट पंचम जार्ज ने दिल्ली-दरवार मे वग-भंग योजना मे परिवर्तन किया। १६०६ के ऐक्ट ने कुछ नवीन शासन-सुधार किए। राजनीतिक वातावरण भी कुछ शांत हो जाता, यदि दमनकारी कानूनो मे कुछ सुधार हो गया होता। किन्तु, प्रेस पर कड़ा नियन्त्रण, सभा करने पर रोक आदि के कारण युवको का रोप घटा नही। १६१२ ई० मे कलकत्ते के जलूस मे लॉर्ड हार्डिङ्ग पर वम फेकना युवको की उग्र विचार-धारा का परिचय देता है।

इस प्रकार का वातावरण हिन्दी के कवियो को उग्र विचारो का प्रचार करने के लिए विवश कर रहा था। एक राजनीतिज्ञ के पास अपने विचारो को प्रच्छन्न करके प्रकट करने के साधन न हो, कवि के पास शब्द-शक्ति, अलंकार-विधान आदि अनेक ऐसे साधन हैं जिनके आवरण मे वह अपने उग्र से उग्र विचार पाठकों के पास तक पहुँचा सकता है। विहारी जैसे रीति कालीन कवि जव किसी राजकर्मचारी की अनीति की निन्दा करना चाहते थे तो अन्योक्ति का सहारा लेते थे। भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' मे वही साधन अपनाया था। द्विवेदी-युग के कवियो ने इसी चिर-परिचित प्रणाली का आश्रय लिया। १६१२-१३ ई० मे लिखी गई कुछ अन्योक्तियाँ साम्राज्यवाद के प्रति जातीय-घृणा को स्पष्ट कर सकेगी।

'मर्यादा' (मार्च, १६१२ ई०) के अंक मे सिंह का एक चित्र है जिसका अग्रभाग स्वतन्त्र तथा स्पष्ट है, और पीछे का भाग कटघरे मे है जो अस्पष्ट है। उसी अक मे रामचरित उपध्याय की 'पराधीन सिंह' शीर्षक एक लम्बी कविता है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"कैद मेरी देह ही है, जी नहीं परतंत्र है"
सिंह तेरी धर्म रक्षा का यही तो मन्त्र है।
कष्ट कितना ही तुझे हो भोजनादिक का सही
नेत्र की तेरी छटा तो भी मलिन होती नहीं।

उद्दीप्त होता गया। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण जो दमन-चक्र कुछ दिनों के लिए शिथिल हो गया था वह पुन तीव्र गति से घूमने लगा। किन्तु, राष्ट्र में निराशा की लहर न दौड़ सकी। भारतवर्ष इस समय सगठित था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापित हो चुका था। महात्मा गान्धी के नेतृत्व में देश साम्राज्यवाद से अहिंसात्मक सघर्ष करने के लिए तत्पर था। सघर्ष की तैयारियाँ होने लगी और कविगण अँगरेजी शासन के घातक प्रभाव के गीत गा-गा कर जनता के असन्तोष को उभाड़ने लगे।

भारतेन्दु-युग के कवि भी प्रतीक आदि पद्धति के द्वारा जनता का असतोष उसके सम्मुख अँगरेजी शासन की अनीतियों का चित्रण करके उभाड़ा करते थे। किन्तु, उनकी अभिव्यक्तियों में विषाद और निराशा छायी रहती थी, जबकि द्विवेदी-युग के कवि स्वत्व-प्राप्ति के दृढ़ निश्चय के गीत गाते हैं। इसी दृष्टि से भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय काव्य मे निराशावादी भावनाओ का प्राधान्य माना गया है और द्विवेदी-युग की अभिव्यक्तियों मे आशावाद का। परिस्थितियों के प्रति दोनों युगों के कवियो के दृष्टिकोण में भी अन्तर था। इस अन्तर को समझने के लिए केवल एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

हिन्द की हाय दौलत कहाँ वह गई,
और क्या इल्म का वह खजाना हुआ।
धीरता और साहस गए हैं किधर,
किस तरफ काफिला वह रवाना हुआ॥
लेगए बाजियाँ देश हमसे सभी,
खेल किस्मत का था हम फिसड्डी रहे।
हैं पड़ीं बेड़ियाँ दासता की यहाँ,
हमको दूभर कदम का उठाना हुआ॥
शस्य से श्यामला भूमि में इस तरह,
अन्न का, वस्त्र का, धन का टोटा पड़ा।
रत्न-गर्भा के लालों को परदेश में,
कौड़ियों में कुली बन के जाना पड़ा॥
घर में जो कुछ सहा उसका कुछ गम नहीं,
जिल्लतें हाय बाहर उठानी पड़ीं।
घोर अपमान वह वेहयापन हमें,
सभ्य ससार में मुँह दिखाना हुआ॥

हीन अपनी हुई यों दशा देख कर,
दीन बनकर दया भीख माँगा किए।
किन्तु होता न देखा गया कुछ असर,
जौंक पत्थर में मानों लगाना हुआ ॥
क्या कहें अन्त में पीछे पड़ ही गए,
स्वत्व ले लेंगे इस बात पर अड़ गए।
जब इधर शोर गुल का मचना हुआ,
तो उधर से गले का दबाना हुआ ॥
रुक गई जब नदी तो रवानी बढ़ी,
जोश दूना हुआ बेजुबानी बढी।
आग ऐसी लगी स्वत्व के प्रेम की,
छल के जल से असम्भव बुझाना हुआ ॥

× × ×

अपने खादिम हों खुद अपने मखदूम खुद,
अपने हाकिम हों खुद अपने महकूम खुद।
वह पुराना जमाना रवाना हुआ,
अब नया दिन नया कारखाना हुआ ॥[1]

कवि ने साम्राज्यवाद की घातक नीतियों और अत्याचारों का चित्रण किया है; अन्यायपूर्ण शासन के विनाशक प्रभाव को भी व्यक्त किया है; किन्तु अन्तिम पंक्तियों में स्वत्व-प्राप्ति का निश्चय प्रकट किया है, जो भारतेन्दु-युग का कवि प्रकट नहीं कर सका। इसी कारण द्विवेदी-युग का राष्ट्रीय काव्य आशावादी काव्य बन गया है।

जिन दिनों गांधीजी के नेतृत्व में देश साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की तैयारी कर रहा था, पंजाब में एक भीषण दुर्घटना हो गई जो जलियान वाले हत्याकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। देश क्षोभ और रोष से जल उठा। जलियान वाले बाग के हत्याकाण्ड की जाँच करने के लिए सरकार की ओर से जो जाँच कमेटी बैठाई गई थी, उसकी रिपोर्ट एकांगी और पक्षपातपूर्ण थी। सन् १८५७ के दमन के पश्चात् यह दूसरा काण्ड था जिसने अँगरेजों के प्रति जनता के रोष और घृणा को उद्दीप्त कर दिया था। किन्तु १८५७ के पश्चात् देश में जो

१—"क्या हुआ ?" त्रिशूल-तरंग, पृ० २२, २३, २४।

निराशा की ठण्डी लहर वही थी वह इस समय अनुपस्थित थी। देश सघर्ष के लिए पहले से प्रस्तुत था। जलियान वाले बाग के काण्ड और उस काण्ड की सरकारी लीपापोती ने रोष की अग्नि में केवल घृताहुति का काम किया था। देश को हिन्दू-मुसलिम एकता की आवश्यकता थी, सौभाग्य से यह भी इस समय सुलभ थी क्योंकि इस बीच में मुसलमानों को भी आन्दोलन करने की आवश्यकता आ पड़ी थी। तुर्किस्तान के विषय में 'मुसलमानों के साथ जो वायदे किए गए थे, अँगरेजी सरकार उनको पूरा नही कर रही थी। इस असन्तोष ने खिलाफत आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था। अत सन् १६२० में हिन्दू-मुसलिम ऐक्य स्थापित हो गया था और सम्पूर्ण देश स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में युद्ध करने को प्रस्तुत था। निराशा और पराजित मनोवृत्ति का देश के नैतिक स्तर मे कोई स्थान नही था।

पजाव के अत्याचार का प्रतिकार पाने के लिए, मुसलमानों को दिए गए वचनो की पूर्ति कराने के लिए और स्वराज्य की प्राप्ति करने के लिए ५ नवम्बर सन् १६२१ को राष्ट्रीय सघर्ष का श्रीगणेश हुआ। असहयोग, विदेशी माल का वहिष्कार और सविनय आज्ञा-भग इस युद्ध के मुख्य कार्यक्रम थे। सन् १६२० से १६२२ तक की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं से इस सग्राम के उत्साह का सम्यक् आभास मिल सकता है। एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे।

सत्याग्रह का समर्थन करते हुए रामचरित उपाध्याय ने लिखा—

न मारो किसी को मरो सत्य पर तुम,
सभी कुछ निछावर करो सत्य पर तुम ॥
अमर है वही नाम जिसका बना है।
कलेवर भला नित्य किसका बना है?
उठो भारतीयो मनुजता सिखादो।
सुखद सत्य आग्रह सभी को सिखादो ॥[1]

कवि त्रिशूल ने गीता के उपदेश को दोहराया—

आत्मा जब है अमर, नहीं मरने का डर है।
डर भी हो तो रहा जगत् में कौन अमर है?
× × ×

१—'जाग्रति', राष्ट्र-भारती, पृ० २२।

स्वत्व प्राण सम है सखे ! नहीं त्याज्य छोड़ी नहीं।
कातर होकर मोहवश यों स्वराज्य छोड़ो नहीं ॥[1]

संग्राम अदम्य उत्साह के साथ चलने लगा। झुण्ड के झुण्ड देश-भक्त कारागारो मे ठूँसे जाने लगे। वक्ता पुलपिट से और साहित्यकार अपनी लेखनी से स्वतन्त्रता-संग्राम मे भाग लेने के लिए देश-भक्तो को प्रोत्साहित करने लगे। कैदी और कारागार के गीत इस काल मे खूब गाए गए। जैसे—

हथकड़ी, बेड़ी, दिवाले जेल की ; दीर्घ पिंजड़े कठघरे भी हैं खड़े।
और जितनी रोक सम्भव थी हुई ; फाटकों पर शस्त्र-धर रक्षक अड़े ॥
अङ्ग काटे औ जलाए भी गए अन्न खाने को नहीं, हाँ मार है।
रात को सोने कभी देते नहीं ; जर्जरित ज्वर से पड़ा बीमार है ॥
देख जालिम को वहाँ आते हुए, शुष्क आनन पर हँसी कुछ आगई।
"सँभल कैदी" क्रुद्ध आगत ने कहा; कह उठा, "कैदी बताते हो किसे ?
मै नहीं हू, कैद, मैं हू आतमा ; कैद हो वह देह पर ममता जिसे ॥"[2]
(आदि)

इस समय की कविताओ का लक्ष्य जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाए रखना था। अतः कविगण स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक राष्ट्रीय सैनिको को संग्राम से 'पैर पीछे न उठाने' की हिम्मत बँधाते थे—

जितना हमारा मार्ग वे अवरुद्ध करते जायँगे,
मानो घृताहुति डालकर ज्वलिताग्नि-वेग बढायँगे।
हम कठिन कारागार को भी स्वर्ग सम अपनायँगे,
अपने अभीष्ट-स्थान से पीछे न पैर हटायँगे ॥[3]

देश-वासियो का रोष और प्रतिशोध की भावना जागरित करने के लिए कवि जलियान वाले बाग के हत्याकाण्ड का भी जनता को स्मरण दिलाते जाते थे। इस हत्याकाण्ड ने सन् १८५७ ई० के दमन को भी मात कर दिया था। रामचरित उपाध्याय ने जलियान वाले बाग का उल्लेख 'देव-सभा' नामक पुस्तक मे किया है जिसकी थोड़ी-सी पंक्तियाँ उद्धृत कर देने से अँगरेजो के प्रति रोष का कुछ आभास

१—त्रिशूल-तरंग, पृ० ३२।
२—'स्वाधीन कैदी'—रामानुज, राष्ट्रीय वीणा (१९२२ ई०) पृ० २५।
३—'दृढ़-पण'—जगन्नाथ जोशी, राष्ट्रीय वीणा, (१९२२ ई०) पृ० २४।

मिल सकेगा। एक भारतीय आत्मा देव-लोक में जाकर भारतवर्ष की दुर्दशा का वर्णन देवों की सभा में करती है—

अवलाओं को बल दिखलाकर हाय खलों ने नग्न किया।
भूपर उन्हें रिंगाकर भारत भर के उर को भग्न किया॥
मार न सहकर गर्भवती बालाओं ने तज प्राण दिया।
किन्तु सतीपन से न टली वे अपना धर्म प्रमाण दिया॥

× × × ×

कितने बालक बेतों से भी देवो! पीटे जाते हैं,
हो अचेत जब गिर जाते तब खूब घसीटे जाते हैं।
फिर सचेत करके उनको धिक् बेत लगाए जाते हैं,
क्या गोरे तन गोरे मन के नहीं बनाए जाते हैं॥[1]

भारत की दुर्दशा को सुनकर विष्णु ने अपने पारिषदों को आज्ञा दी—

भूपर कजे नेत्र दिखाई देवें जिनके,
कभी स्वप्न में भी न वचन हों पूरे जिनके,
उन्हें कपट आगार समझ कर डपटे रहना,
जब तक पूरा हो न कार्य में लपटे रहना॥[2] (आदि)

सत्याग्रह का कार्य-क्रम बड़े उत्साह के साथ चलता रहा। किन्तु बीच में एक दुर्घटना हो गई। ५ फरवरी १६२१ को गोरखपुर के समीप चौरी-चौरा नामक स्थान पर एक उत्तेजित जन-समूह ने पुलिस इंस्पैक्टर और १५ सिपाहियों को थाने में बन्द करके जला डाला। गाधी जी को इस दुर्घटना से दुःख हुआ और १२ फरवरी १६२२ ई० को उन्होंने आन्दोलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया। जनता ने इसे सग्राम की विफलता समझी। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सग्राम छिड़ा था उनमें से किसी की भी पूर्ति न हो सकी। जिस प्रकार सन् १८५७ की क्रान्ति की विफलता के पश्चात् भारतेन्दु-युग के काव्य मे निराशावाद की एक लहर दौड़ी थी उसी प्रकार सन् १६२१ के अहिंसात्मक युद्ध के पश्चात् भी; किन्तु यह लहर स्थायी नहीं थी। शीघ्र ही राजनीतिक वातावरण में शाति स्थापित हो गई। काग्रेस ने १६१६ के ऐक्ट के अनुसार धारा-

१—देव-सभा, पृ० २६, २७।
२—देव-सभा, पृ० ७१।

सभाओं में प्रवेश स्वीकार कर लिया। सन् १६२२ ई० तक वङ्गला और पाश्चात्य काव्य से प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी-काव्य-धारा व्यक्तिवादी गीतों की ओर मुड़ चुकी थी और द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक राष्ट्रीय भाव-धारा शिथिल पड़ चुकी थी। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन की विफलता का व्यापक प्रभाव व्यक्तिवादी गीतों पर परोक्षरूप से पड़ा। व्यक्तिवादी गीतों मे निराशावाद का अध्ययन आगे के अध्याय में किया जायगा। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक प्रणाली मे लिखी गईं कुछ रचनाओं में राष्ट्रीय संग्राम की विफलता से उत्पन्न निराशावाद की ओर संकेत कर देना आनुषंगिक होगा। द्विवेदी-युग की काव्य-प्रणाली में सन् १६२४-२५ तक थोड़ी-बहुत काव्य-रचना होती रही। इसके पश्चात् हिन्दी-काव्य मे आमूल क्रान्ति हो गई और व्यक्तिवादी गीतो ने काव्य-धारा पर अपना प्रभावपूर्ण अधिकार जमा लिया।

पराजयजन्य निराशावाद—

भारतेन्दु-युग की भाँति द्विवेदी-युग के कवियो ने सन् १६२२ के आन्दोलन की विफलता के पश्चात् अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाए हैं और निराशावादी भावनाएँ व्यक्त की हैं। यथा—

हम जीवित हैं पर नाथ! हमें इस जीवन में कुछ सार नहीं।
उठता जगदीश! न शीश कभी हिलता तक है दुख भार नहीं॥
अपने दिन ये किस भाँति कटे, अब आपस में कुछ प्यार नहीं।
हम रोक रहे, फिर भी दृग से रुकती तक हैं दृग-धार नहीं॥[1]

कवि के शब्दों से आत्महीनता, विषाद और निराशा की स्पष्ट व्यंजना हुई है। अपनी पराधीनता और निर्धनता पर आत्म-ग्लानि और पराजित-भावना व्यक्त करते हुए ठा० गोपालशरणसिंह लिखते हैं—

क्या लड़ें दुर्भाग्य से हम हैं विकल उर-पीर से,
हैं बहाना चाहते पर्वत नयन के नीर से।
उन करों में तनिक भी किस भाँति हो कूवत भला?
रह गए सब काल जो जकड़े हुए जंजीर से॥[2]

१—'विनय'—(सरस्वती, मार्च १६२४)।
२—'अशक्त'—(अप्रैल, १६२५) कविता, पृ० १८६।

भारतवासियों के अन्तर्राष्ट्रीय अपमान पर निराशा की तीव्र अनुभूति अधोलिखित पंक्तियाँ अभिव्यंजित करती हैं—

अहो ! आज क्यों सभ्य-सभा में, हम असभ्य कहलाते हैं ?
कुछ न समझ पड़ता है क्यों हम कहीं न आदर पाते है ?
हमने मन में इसका कारण यही एक ठहराया है;
हुआ मतिभ्रम है लोगों को, सब में मोह समाया है ॥[1]

राष्ट्रीय निराशावाद के जिस वातावरण मे भारतेन्दु ने सर्वनाश की कामना की थी, उसी प्रकार के वातावरण मे ठा० गोपालशरण सिंह भी वैसी ही कामना करते है। भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि में जिस प्रकार पराजयजन्य आत्महीनता और राष्ट्रीय पराभव पर शोक निहित था उसी प्रकार गोपालशरण सिंह के सम्मुख भी। भारतेन्दु ने राष्ट्रीय पराभव से क्षुब्ध होकर भारत-भूमि के जलमग्न होने की कामना की थी और गोपालशरण सिंह लिखते हैं—

वही देश है और वही अब भी है काशी;
वही पुनीत प्रयाग वही मथुरा अविनाशी,
वही भूमि है और वही हम भारतवासी;
किन्तु देखिए जहाँ, वहाँ छा रही उदासी।
हम उन कमलों-से हो रहे, है विकास जिनमें नहीं;
हम उन नक्षत्र-समान है, है प्रकाश जिनमे नहीं ॥

× × ×

क्यों तू अपना शीश हिमालय ! नहीं नवाता ?
क्यों तू गिरकर नहीं हमारा नाम मिटाता ?
अथवा क्यों तू नहीं धरातल ! है फट जाता ?
क्यों तू हमें न शीघ्र रसातल को पहुँचाता ?
क्या उचित कलंकित है हमें निज जीवन करना भला ?
अपयशपूर्वक क्या है नहीं जीने से मरना भला ?[2] (आदि)

देश के विनाश की आवेशमयी कामना राष्ट्रीय निराशावाद का उग्रतम रूप है। किन्तु इस राष्ट्रीय निराशावाद को द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति न मानकर द्विवेदी-युग और छायावादी युग के सक्रान्तिकाल

१—'विचित्र-विचार' (अप्रेल, १६२५) सचिता, पृ० १५६।
२—'विधि-विडम्बना', (दिसम्बर, १६२५) सचिता, पृ० १५३, १५७।

की मनोवृत्ति मान लेना अधिक युक्तियुक्त होगा ; क्योंकि द्विवेदी-युग की चेतना निराशावादी चेतना नहीं है। देशवासियों को अपने देश का उद्धार करने के लिए कर्मण्यता, सेवा और आत्म-बलिदान की प्रेरणा देने वाला कोई कवि ठा० गोपालशरण सिंह की भाँति हीनता और निराशाभरी भावनाएँ व्यक्त नहीं करता। द्विवेदी-युग के कवि राष्ट्रीय-संग्राम की असफलता के पश्चात् केवल मौन हो जाते हैं, पराजय पर पश्चात्ताप व्यक्त नहीं करते। अत राष्ट्रीय संग्राम की विफलता से उत्पन्न निराशावाद द्विवेदी-युग के माथे नहीं मढ़ा जा सकता। द्विवेदी-युग तो राष्ट्रीय-संग्राम की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि राष्ट्रीय संग्राम के समय जो कवि अपने पाठको को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का दृढ़ विश्वास दिला रहे थे और देश-वासियो को देश की बलि-वेदी पर आत्मबलिदान की प्रेरणा दे रहे थे, वे राष्ट्रीय-संग्राम के स्थगित होने के पश्चात् कुछ भी नहीं लिखते—और लिखते भी तो क्या ?

अहिंसात्मक आन्दोलन की विफलता से उत्पन्न राष्ट्रीय निराशा-वाद की अभिव्यक्तियो को छायावादी-युग की मनोवृत्ति भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राष्ट्रीय भावनाओं के विपरीत छायावादी युग व्यक्तिवादी भावनाओ का युग है। अत. हम केवल इतना मान सकते हैं कि राष्ट्रीय संग्राम की विफलता से उत्पन्न निराशा और क्षोभ छायावादी युग को उत्तराधिकार के रूप में मिला और छायावादी युग के नवोदित कवियो ने युग-व्याप्त निराशा और वेदना को अपनी कल्पना का आधार बनाकर गीत-रचना प्रारम्भ की। छायावादी-युग के काव्य की समीक्षा करते समय हम देखेंगे कि इस युग की समस्त रचनाओ की पृष्ठभूमि मे निराशा, क्षोभ, विषाद और आत्मपराजय का सघन कोहरा छाया हुआ है। और यह कोहरा नवयुग का प्रभात अपने साथ लेकर आया था।

सामाजिक व्यवस्था पर क्षोभ—

सामाजिक व्यवस्था, रूढ़ियो, अन्धविश्वासो आदि पर जितना विषाद भारतेन्दु-युग के कवियो ने व्यक्त किया है उतना द्विवेदी-युग के कवियों ने नहीं, यद्यपि भारतेन्दु-युग के समाज से द्विवेदी-युग के

समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो जाता। इस भाव-परिवर्तन के अनेक कारण अनुमानित किए जा सकते हैं। सबसे मुख्य कारण तो यही है कि राष्ट्रीय पराभव पर जो निराशावादी भावनाएँ भारतेन्दु-युग के कवियों के हृदय में उठ रही थी, वे राष्ट्रीय जागत्ति के कारण द्विवेदी-युग के कवियों के हृदय में नहीं उत्पन्न होती, अत द्विवेदी-युग का कवि अपने समाज की ओर उतनी निराशावादी धारणाएँ नहीं बनाता जितनी निराशावादी धारणाएँ भारतेन्दु-युग के कवियों ने बना ली थी। द्विवेदी-युग के कवियों ने सामाजिक अध पतन पर जहाँ-कही आँसू बहाए हैं, वहाँ बहुत अशो में भारतेन्दु-युग की काव्य-परम्परा का प्रतिपादनमात्र किया गया है।

विद्रोह की विफलता, आर्थिक शोषण और अँगरेजों द्वारा किये गये जातीय अपमान के द्वारा जो क्षोभ भारतेन्दु-युग के कवियो के मानस मे सचित हो रहा था, वह आतक के कारण विदेशी शासन के प्रति व्यक्त न होकर अपने ही समाज की दुर्बलताओं पर बरस जाया करता था, जबकि द्विवेदी-युग के कवियों के हृदय मे उतना क्षोभ संचित नही था; अत वे समाज के उतने कटु आलोचक भी न बन सके। द्विवेदी-युग की राजनीतिक घटनाएँ जनता का क्षोभ विदेशी शासन के विरुद्ध भड़का रही थी। राजनीतिक आन्दोलन भी चल रहे थे। ऐसी परिस्थिति में द्विवेदी-युग के कवि समाज की निराशावादी आलोचना करके उसमें हीनता के भाव जागरित नही करना चाहते थे। इसके विपरीत वे जनता—विशेपकर युवक-समाज—को साहसी बनाकर राष्ट्रीय सघर्प में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। युवकों को साहसी, कर्मण्य, त्यागी और देश-भक्त बनाने की आशावादी प्रेरणा देना द्विवेदी-युग के कवियों का एक प्रमुख लक्ष्य रहता था। कवियो की आशावादी प्रेरणा देने की प्रवृत्ति कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट हो सकेगी। सन् १९१४–१५ में कवि 'एक भारतीय आत्मा' अपने शत्रु (साम्राज्यवाद) को 'चेतावनी' देता हुआ और भारत के उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करता हुआ समाज को उन्नति-मार्ग प्रशस्त करने का प्रोत्साहन देता है—

जातीयता का भाव देखो! है यहाँ जगने लगा,
प्रान्तीयता का पाप इनको छोड़कर भगने लगा।
"टूटे हुए, वे प्रेम-बन्धन" प्रेम से जुड़ने लगे,
भूले हुए, सीधे पथों की ओर भी मुड़ने लगे।

हों नेत्र तो देखो, न देना दोष तुम पीछे हमें,
प्रेमी हमारे हो, इसी से हम चिताते हैं तुम्हें ॥
है दीन भारत को जगाने आचुकी अब भारती,
बढकर किया ही चाहते हैं कार्य विद्यार्थी व्रती।
ये ब्रह्मचारी, धीर-धारी, आत्म-त्यागी देख लो,
ये वीर नेता, शीघ्र चेता, गुण विजेता देखलो।
रुद्ध उन्नति-मार्ग मिलकर शीघ्र अपना खोलदो।
होकर हमारे साथ 'भारतवर्ष की जय बोलदो ॥'[1]

सन् १९१७-१८ में जगन्नाथ जोशी भारत 'माँ!' को सम्बोधित करके राष्ट्रीय शक्ति का परिचय देते हुए देशोद्धार के लिए भारत-पुत्रों का आह्वान करते हैं—

करेगा कौन तुम्हारी होड़!
जननि! नहीं है जग मण्डल में कहीं तुम्हारा जोड़।
तीस करोड़ पुत्र हैं जिसके कर हैं साठ करोड़॥
साहस, शौर्य, बुद्धि, विद्या बल आते हैं सब दोड़।
कायरता की विकट बेड़ियाँ दी हैं हमने तोड़॥
सब वर्णों के बन्धु-बन्धु अब वैर-भाव को छोड़।
माता के हित उतर पड़े हैं कार्य क्षेत्र में दोड़॥
आओ, आओ, डटे रहेंगे सबसे नाता तोड़।
देश-भक्त सन्यासी हो बस माता से मन जोड़॥[2]

और सन् १९२०-२१ में 'साम्राज्य-युद्ध-गीत' गाता हुआ 'राम' शक्ति, साहस और देश के लिए आत्म-बलिदान का प्रोत्साहन देता है—

करे तेरा अपमान कोई हमसे सुत जिसके!
आँख उठा तुझ को देखे दीदे हैं किसके!!
× × ×
हल को छोड़ किसान हाथ किरपान गहेगा;
बनिया छोड़ दुकान शत्रु से लोहा लेगा।
× × ×

१—'चेतावनी'—'एक भारतीय आत्मा', राष्ट्रीय वीणा
प्रकाशन—नवजीवन सभा, कानपुर (१९१६ ई०) पृ० ५-६।
२—'माँ!'—जगन्नाथ जोशी, स्वराज्य वीणा (१९१८ ई०)
पृ० ७०-७१।

समाज में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हो जाता। इस भाव-परिवर्तन के अनेक कारण अनुमानित किए जा सकते हैं। सबसे मुख्य कारण तो यही है कि राष्ट्रीय पराभव पर जो निराशावादी भावनाएँ भारतेन्दु-युग के कवियों के हृदय में उठ रही थी, वे राष्ट्रीय जागर्त्ति के कारण द्विवेदी-युग के कवियों के हृदय में नहीं उत्पन्न होती, अत द्विवेदी-युग का कवि अपने समाज की ओर उतनी निराशावादी धारणाएँ नही बनाता जितनी निराशावादी धारणाएँ भारतेन्दु-युग के कवियों ने बना ली थी। द्विवेदी-युग के कवियों ने सामाजिक अध पतन पर जहाँ-कही आँसू बहाए हैं, वहाँ बहुत अशों में भारतेन्दु-युग की काव्य-परम्परा का प्रतिपादनमात्र किया गया है।

विद्रोह की विफलता, आर्थिक शोषण और अँगरेजों द्वारा किये गये जातीय अपमान के द्वारा जो क्षोभ भारतेन्दु-युग के कवियो के मानस मे सचित हो रहा था, वह आतक के कारण विदेशी शासन के प्रति व्यक्त न होकर अपने ही समाज की दुर्बलताओं पर बरस जाया करता था, जबकि द्विवेदी-युग के कवियों के हृदय में उतना क्षोभ संचित नही था; अत वे समाज के उतने कटु आलोचक भी न बन सके। द्विवेदी-युग की राजनीतिक घटनाएँ जनता का क्षोभ विदेशी शासन के विरुद्ध भड़का रही थीं। राजनीतिक आन्दोलन भी चल रहे थे। ऐसी परिस्थिति में द्विवेदी-युग के कवि समाज की निराशावादी आलोचना करके उसमें हीनता के भाव जागरित नहीं करना चाहते थे। इसके विपरीत वे जनता—विशेपकर युवक-समाज—को साहसी बनाकर राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। युवको को साहसी, कर्मण्य, त्यागी और देश-भक्त बनाने की आशावादी प्रेरणा देना द्विवेदी-युग के कवियो का एक प्रमुख लक्ष्य रहता था। कवियों की आशावादी प्रेरणा देने की प्रवृत्ति कतिपय उद्धरणो से स्पष्ट हो सकेगी। सन् १६१४–१५ में कवि 'एक भारतीय आत्मा' अपने शत्रु (साम्राज्यवाद) को 'चेतावनी' देता हुआ और भारत के उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करता हुआ समाज को उन्नति-मार्ग प्रशस्त करने का प्रोत्साहन देता है—

जातीयता का भाव देखो ! है यहाँ जगने लगा,
प्रान्तीयता का पाप इनको छोड़कर भगने लगा।
"टूटे हुए, वे प्रेम-बन्धन" प्रेम से जुड़ने लगे,
भूले हुए, सीधे पथों की ओर भी मुड़ने लगे।

हों नेत्र तो देखो, न देना दोष तुम पीछे हमें,
प्रेमी हमारे हो, इसी से हम चिताते हैं तुम्हें ॥
है दीन भारत को जगाने आचुकी अब भारती,
बढ़कर किया ही चाहते हैं कार्य विद्यार्थी व्रती ।
ये ब्रह्मचारी, धीर-धारी, आत्म-त्यागी देख लो,
ये वीर नेता, शीघ्र चेता, गुण विजेता देखलो ।
रुद्ध उन्नति-मार्ग मिलकर शीघ्र अपना खोलदो ।
होकर हमारे साथ 'भारतवर्ष की जय बोलदो ॥'[1]

सन् १९१७-१८ में जगन्नाथ जोशी भारत 'माँ !' को सम्बोधित करके राष्ट्रीय शक्ति का परिचय देते हुए देशोद्धार के लिए भारत-पुत्रों का आह्वान करते हैं—

करेगा कौन तुम्हारी होड़ !
जननि ! नहीं है जग मण्डल में कहीं तुम्हारा जोड़ ।
तीस करोड़ पुत्र हैं जिसके कर हैं साठ करोड़ ॥
साहस, शौर्य, बुद्धि, विद्या बल आते हैं सब दौड़ ।
कायरता की विकट बेड़ियाँ दी है हमने तोड़ ॥
सब वर्णों के बन्धु-बन्धु अब वैर-भाव को छोड़ ।
माता के हित उतर पड़े हैं कार्य क्षेत्र में दौड़ ॥
आओ, आओ, डटे रहेंगे सबसे नाता तोड ।
देश-भक्त सन्यासी हो बस माता से मन जोड़ ॥[2]

और सन् १९२०-२१ में 'साम्राज्य-युद्ध-गीत' गाता हुआ 'राम' शक्ति, साहस और देश के लिए आत्म-बलिदान का प्रोत्साहन देता है—

करे तेरा अपमान कोई हमसे सुत जिसके !
आँख उठा तुझ को देखे दीदे हैं किसके !!
× × ×
हल को छोड़ किसान हाथ किरपान गहेगा ;
बनिया छोड़ दुकान शत्रु से लोहा लेगा ।
× × ×

१—'चेतावनी'—'एक भारतीय आत्मा', राष्ट्रीय वीणा
प्रकाशक—नवजीवन सभा, कानपुर (१९१६ ई०) पृ० ५-६ ।
२—'माँ !'—जगन्नाथ जोशी, स्वराज्य वीणा (१९१८ ई०)
पृ० ७०-७१ ।

हाँ नेत्र तो देखो, न देना दोष तुम पीछे हमें,
प्रेमी हमारे हो, इसी से हम चिताते है तुम्हें ॥
है दीन भारत को जगाने आचुकी अब भारती,
बढ़कर किया ही चाहते है कार्य विद्यार्थी व्रती।
ये ब्रह्मचारी, धीर-धारी, आत्म-त्यागी देख लो,
ये वीर नेता, शीघ्र चेता, गुण विजेता देखलो।
रुद्ध उन्नति-मार्ग मिलकर शीघ्र अपना खोलदो।
होकर हमारे साथ 'भारतवर्ष की जय बोलदो ॥[1]

सन् १९१७-१८ में जगन्नाथ जोशी भारत 'माँ !' को सम्बोधित करके राष्ट्रीय शक्ति का परिचय देते हुए देशोद्धार के लिए भारत-पुत्रो का आह्वान करते हैं—

करेगा कौन तुम्हारी होड़ !
जननि ! नहीं है जग मण्डल में कहीं तुम्हारा जोड़।
तीस करोड़ पुत्र हैं जिसके कर हैं साठ करोड़ ॥
साहस, शौर्य्य, बुद्धि, विद्या बल आते हैं सब दौड़।
कायरता की विकट बेड़ियाँ दी है हमने तोड़ ॥
सब वर्णों के बन्धु-बन्धु अब वैर-भाव को छोड।
माता के हित उतर पड़े हैं कार्य क्षेत्र में दौड़ ॥
आओ, आओ, डटे रहेंगे सबसे नाता तोड़।
देश-भक्त सन्यासी हो बस माता से मन जोड़ ॥[2]

और सन् १९२०-२१ मे 'साम्राज्य-युद्ध-गीत' गाता हुआ 'राम' शक्ति, साहस और देश के लिए आत्म-बलिदान का प्रोत्साहन देता है—

करे तेरा अपमान कोई हमसे सुत जिसके !
आँख उठा तुझ को देखे दीदे हैं किसके !!
× × ×
हल को छोड़ किसान हाथ किरपान गहेगा ;
बनिया छोड़ दुकान शत्रु से लोहा लेगा।
× × ×

१—'चेतावनी'—'एक भारतीय आत्मा', राष्ट्रीय वीणा
प्रकाशक—नवजीवन सभा, कानपुर (१९१६ ई०) पृ० ५-६।
२—'माँ !'—जगन्नाथ जोशी, स्वराज्य वीणा (१९१८ ई०)
पृ० ७०-७१।

लड़ेंगे बालक बल के पुंज कुमार सरीखे,
देवि कालिका सरिस बालिका के शर तीखे।
वार करेंगे, बैरी के उर पार करेंगे,
दुर्गा-कर-सम नारी-कर तरवार गहेंगे॥
× × ×
उठो-उठो सब वीर कमर को कस कर बाँधो!
चलो-चलो रन-धीर समर को सुख से साधो!!
बढ़ो-बढ़ो बलवीर पैर पीछे न हटाओ!
लड़ो-लड़ो प्रिय सामराज पर तुम बर जाओ!
हैं देव पितर जो स्वर्ग में सब की तुम परहि निगाह है,
सन्तान तुम्हारी विलपती क्या तुम्हे न उसकी चाह है?[1]

यह है द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध की मनोवृत्ति। द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध (सन् १९१०-११) तक भारतेन्दु-युग की परम्पराओं का प्रतिपादन विशेष रूप से होता रहता है। किन्तु, समाज की दुर्दशा पर भारतेन्दु-युग के समान द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में भी आँसू नहीं बहाए गए। समाज की कटु आलोचना सन् १९१०-११ तक केवल सुधारवादी, विशेषत आर्यसमाजी, कवियो द्वारा ही होती है। इसके पश्चात् जनता का ध्यान राजनीतिक घटनाएँ अपनी ओर आकर्षित करने लगती हैं और समाज को धिक्कारने और फटकारने की परम्परा शिथिल पड़ जाती है। सामाजिक दुर्व्यवस्था पर निराशावाद की अधिक अभिव्यक्ति न हो सकने का एक कारण यह भी है कि द्विवेदी-युग के प्रथम दशक में दुर्भिक्ष और महामारियो का उसी प्रकार ताँता बँधा रहा था जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षो में। प्राण-सकट के समय समाज की आलोचना किसे सुहा सकती थी।

प० नाथूराम शकर शर्मा आदि कवियो ने समाज की तत्कालीन अध पतित व्यवस्था के निराशावादी चित्र खींचे हैं। कवियो की अभिव्यक्ति की प्रणाली और भाव-धारा भारतेन्दु-युग की शैली और भाव-धारा से अधिक भिन्न नहीं। मौलिकता न होने के कारण इन कवियों के सामाजिक विचारो की विस्तारपूर्वक समीक्षा करना केवल पुनरुक्ति होगी। नमूने के तौर पर शर्मा जी की 'हमारा अध पतन' शीर्षक लम्बी कविता का एक अंश देखिए—

१—साम्राज्य-युद्ध-गीत—राष्ट्रीय वीणा (१९२२ ई०), द्वितीय भाग, पृ० ४२-४४।

आया कलिकाल-कोप जब से, उत्पात उठे अनेक तब से।
उद्यम के प्राण ले रहा है, दुर्दैव दरिद्र दे रहा है॥
याचक रहे न सिद्धि योगी, सम्राट रहे न राज भोगी।
व्यापार विशेष कम रहे हैं, कोरे कंगाल हो रहे हैं॥[1]

(आदि)

कवि शंकर ने उक्त कविता में समाज की चतुर्दिक अधोगति पर प्रकाश डाला है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि किसी भी दुर्व्यवस्था की ओर संकेत बिना किए वह नहीं रहा। सामाजिक अधःपतन का इतिवृत्तात्मक चित्रण करने की अनेक कविताएँ द्विवेदी-युग में मिल सकेंगी।[2] किन्तु उनमें न तो विचारों की मौलिकता है और न अनुभूतियों की तीव्रता। कभी-कभी तो वे सुधारवादी खण्डन-मण्डन का केवल उत्साह प्रदर्शित कर सकी हैं। अत इस प्रकार की रचनाओं को हम भारतेन्दु-युग की परम्परा का प्रतिपादन मान सकते हैं।

सामाजिक दुर्व्यवस्था और लोगों के नैतिक अध पतन पर प्रभावपूर्ण प्रकाश डालने वाली पुस्तकाकार कविता सन् १९११ में प्रकाशित

१—'हमारा अध.पतन' (सरस्वती, मई, १९०६)।
२—देखिए—
(*i*) नाथूरामशंकर शर्मा द्वारा लिखित—
(क) 'कजली-कलाप' (सरस्वती, अगस्त, १९०७)।
(ख) 'अविद्यानन्द का व्याख्यान' (सरस्वती, फरवरी १९०७)।
(ग) 'पंच-पुकार' (सरस्वती, मई, १९०८)।
(*ii*) रामचरित उपाध्याय द्वारा लिखित—
'अद्भुत आक्षेप' (सरस्वती, मार्च, १९०७)।
(*iii*) सनेही द्वारा लिखित—
(अ) 'मनुष्यत्व' (सरस्वती, फरवरी, १९१७)।
(आ) 'हृदय' (सरस्वती, अक्टूबर, १९१७)।
(*iv*) हरिऔध द्वारा लिखित—
(अ) 'कोर-कसर' (सरस्वती, अप्रैल, १९२२)।
(आ) 'अपने दुखड़े' (सरस्वती सितम्बर, १९२२)।

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' थी, जो द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय-काव्य की अत्यन्त सफल रचना प्रमाणित हुई। 'भारत-भारती' भारतेन्दु-युग से विकासशील राष्ट्रीय काव्य की परम्परा का चरम विकास है। भारतेन्दु-युग के कवि जिस प्रकार अतीत-वैभव का स्मरण करने के पश्चात् वर्तमान अधोगति पर आँसू वहाया करते थे, उसी प्रकार गुप्तजी ने पुस्तक के 'अतीत खण्ड' में भारत की अतीतकालीन सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक-व्यवस्था, धन, वैभव, पराक्रम आदि का पूर्ण आशावादी चित्र खींचा है। अतीत-वैभव का उज्ज्वल चित्र खींचकर कवि अपने समाज में आत्म-गौरव की भावना जागरित करना चाहता है, जैसा कि भारतेन्दु-युग के कवि किया करते थे। अतीत-गौरव का यह स्मरण वर्तमान अधोगति का चित्र अंकित करने की पीठिका भी है। अतीत गौरव और वर्तमान अधोगति का साथ-साथ चित्रण होने के कारण भारतीय समाज की 'वर्तमान' अवस्था का चित्र और भी स्याह हो गया है। 'भारत-भारती' के 'वर्तमान खण्ड' में गुप्तजी ने समाज की केवल दुर्बलताओं और अधःपतित अवस्था का ही वर्णन किया। यहाँ तक भारतेन्दु-युग की विचार-धारा और मैथिलीशरण गुप्त की विचार-धारा मे कोई मौलिक अन्तर नही। किन्तु, भारतेन्दु-युग के कवि अतीत-वैभव के विनाश और वर्तमान पराभव पर विषाद प्रकट करके मौन हो जाते थे जब कि गुप्तजी एक पग आगे बढ़कर समाज के विभिन्न अङ्गों (ब्राह्मण, क्षत्री आदि) को राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उज्ज्वल भविष्य का दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं। उन्नति का प्रोत्साहन और आशापूर्ण भविष्य का चित्रण ही गुप्तजी की 'भारत-भारती' को आशावादी रचना बना देता है। यह आशावादिता ही भारतेन्दु और द्विवेदी युगों को एक-दूसरे से पृथक् कर देती है।

'भारत-भारती' की दूसरी विशेषता, जिसने उसको और अधिक आशावादी और सौम्य बना दिया है, यह है कि गुप्तजी को सामाजिक व्यवस्था पर उतना क्षोभ नही जितना लोगों के नैतिक अधःपतन पर। उनको समाज मे तीर्थ और तीर्थ के पण्डे, मन्दिर और मन्दिर के महन्त सभी मान्य हैं। समाज की व्यवस्था मे वे कोई मौलिक परिवर्तन नही करना चाहते। उनको खेद केवल इस बात का है कि

समाज के विभिन्न अङ्ग अपने कर्तव्य से च्युत हो गये हैं। समाज की व्यवस्था बुरी नहीं, अपितु समाज के सदस्य अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे। और समाज के प्रत्येक सदस्य को कर्मण्य एवं सदाचारी बनाने की प्रेरणा 'भारत-भारती' प्रभावपूर्ण शब्दों में देती है। अस्तु।

जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है गुप्तजी की दृष्टि समाज के दोषों पर ही पड़ी है, अत. वर्तमान के प्रति कवि की दृष्टि निराशावादी मानी जा सकती है, किन्तु कवि वर्तमान अधोगति का चित्रण करके ही वह मौन नहीं रह जाता अपितु उन्नति करने की प्रेरणा देता है इसलिए हम उसे निराशावादी नहीं मान सकते। राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर अपने विचार प्रकट करने के अतिरिक्त द्विवेदी-युग के कवियों ने समाज के दुर्बल अङ्गों के प्रति समवेदना भी व्यक्त की है। यह समवेदना आशावादी है या निराशावादी, इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

समवेदनात्मक काव्य-धारा—

समवेदना एक दुःखात्मक अनुभूति है, जिसका निराशावाद से प्रत्यक्ष सम्बन्ध अधिक नहीं है। किन्तु, द्विवेदी-युग के कवियों ने विधवा, अछूत और कृषक-समाज के प्रति जो समवेदना प्रकट की है और उन पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों को जिस शैली में व्यक्त किया है, उसमें निराशावाद के तत्वों का प्राधान्य है। कवियों ने समाज द्वारा किए गए अत्याचारों का तो वर्णन किया है, किन्तु अत्याचारों का प्रतिशोध लेने का साहस व्यक्त नहीं किया और न अत्याचारों से मुक्ति पाने की सम्भावना ही प्रकट की है। वे केवल सामाजिक अत्याचारजन्य दुःखपूर्ण अवस्था का चित्रण करके मौन रह गए हैं। कोई कवि किसी विषम अथवा दुःखद स्थिति का चित्रण करने के पश्चात् यदि केवल आँसू बहाकर ही मौन रह जाता है, उस स्थिति से त्राण पाने की बलवती आशा प्रकट नहीं करता अथवा परिस्थिति से संघर्ष करने का प्रोत्साहन नहीं देता तो हम उसके काव्य को आशावादी नहीं मान सकते। द्विवेदी-युग के कवियों की समवेदनात्मक रचनाओं का यदि इस दृष्टि से समीक्षण किया जाय तो वे निराशावादी काव्य के ही अन्तर्गत

मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' थी, जो द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय-काव्य की अत्यन्त सफल रचना प्रमाणित हुई। 'भारत-भारती' भारतेन्दु-युग से विकासशील राष्ट्रीय काव्य की परम्परा का चरम विकास है। भारतेन्दु-युग के कवि जिस प्रकार अतीत-वैभव का स्मरण करने के पश्चात् वर्तमान अधोगति पर आँसू बहाया करते थे, उसी प्रकार गुप्तजी ने पुस्तक के 'अतीत खण्ड' में भारत की अतीतकालीन सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक-व्यवस्था, धन, वैभव, पराक्रम आदि का पूर्ण आशावादी चित्र खीचा है। अतीत-वैभव का उज्ज्वल चित्र खीचकर कवि अपने समाज मे आत्म-गौरव की भावना जागरित करना चाहता है, जैसा कि भारतेन्दु-युग के कवि किया करते थे। अतीत-गौरव का यह स्मरण वर्तमान अधोगति का चित्र अंकित करने की पीठिका भी है। अतीत गौरव और वर्तमान अधोगति का साथ-साथ चित्रण होने के कारण भारतीय समाज की 'वर्तमान' अवस्था का चित्र और भी स्याह हो गया है। 'भारत-भारती' के 'वर्तमान खण्ड' में गुप्तजी ने समाज की केवल दुर्बलताओं और अध पतित अवस्था का ही वर्णन किया। यहाँ तक भारतेन्दु-युग की विचार-धारा और मैथिलीशरण गुप्त की विचार-धारा में कोई मौलिक अन्तर नही। किन्तु, भारतेन्दु-युग के कवि अतीत-वैभव के विनाश और वर्तमान पराभव पर विषाद प्रकट करके मौन हो जाते थे जब कि गुप्तजी एक पग आगे बढ़कर समाज के विभिन्न अङ्गों (ब्राह्मण, क्षत्री आदि) को राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उज्ज्वल भविष्य का दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं। उन्नति का प्रोत्साहन और आशापूर्ण भविष्य का चित्रण ही गुप्तजी की 'भारत-भारती' को आशावादी रचना बना देता है। यह आशावादिता ही भारतेन्दु और द्विवेदी युगो को एक-दूसरे से पृथक् कर देती है।

'भारत-भारती' की दूसरी विशेषता, जिसने उसको और अधिक आशावादी और सौम्य बना दिया है, यह है कि गुप्तजी को सामाजिक व्यवस्था पर उतना क्षोभ नहीं जितना लोगों के नैतिक अध पतन पर। उनको समाज में तीर्थ और तीर्थ के पण्डे, मन्दिर और मन्दिर के महन्त सभी मान्य हैं। समाज की व्यवस्था में वे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करना चाहते। उनको खेद केवल इस बात का है कि

समाज के विभिन्न अङ्ग अपने कर्तव्य से च्युत हो गये हैं। समाज की व्यवस्था बुरी नहीं, अपितु समाज के सदस्य अपने कर्तव्य का पालन नही कर रहे। और समाज के प्रत्येक सदस्य को कर्मण्य एवं सदाचारी बनाने की प्रेरणा 'भारत-भारती' प्रभावपूर्ण शब्दों में देती है। अस्तु।

जहाँ तक वर्तमान का सम्बन्ध है गुप्तजी की दृष्टि समाज के दोषों पर ही पड़ी है, अत वर्तमान के प्रति कवि की दृष्टि निराशावादी मानी जा सकती है, किन्तु कवि वर्तमान अधोगति का चित्रण करके ही वह मौन नहीं रह जाता अपितु उन्नति करने की प्रेरणा देता है इसलिए हम उसे निराशावादी नहीं मान सकते। राजनीतिक और सामाजिक विषयो पर अपने विचार प्रकट करने के अतिरिक्त द्विवेदी-युग के कवियो ने समाज के दुर्बल अङ्गो के प्रति समवेदना भी व्यक्त की है। यह समवेदना आशावादी है या निराशावादी, इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

समवेदनात्मक काव्य-धारा—

समवेदना एक दुःखात्मक अनुभूति है, जिसका निराशावाद से प्रत्यक्ष सम्बन्ध अधिक नहीं है। किन्तु, द्विवेदी-युग के कवियों ने विधवा, अछूत और कृषक-समाज के प्रति जो समवेदना प्रकट की है और उन पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों को जिस शैली में व्यक्त किया है, उसमें निराशावाद के तत्वों का प्राधान्य है। कवियों ने समाज द्वारा किए गए अत्याचारों का तो वर्णन किया है, किन्तु अत्याचारो का प्रतिशोध लेने का साहस व्यक्त नहीं किया और न अत्याचारों से मुक्ति पाने की सम्भावना ही प्रकट की है। वे केवल सामाजिक अत्याचारजन्य दुःखपूर्ण अवस्था का चित्रण करके मौन रह गए हैं। कोई कवि किसी विषम अथवा दुःखद स्थिति का चित्रण करने के पश्चात् यदि केवल आँसू बहाकर ही मौन रह जाता है, उस स्थिति से त्राण पाने की बलवती आशा प्रकट नहीं करता अथवा परिस्थिति से संघर्ष करने का प्रोत्साहन नहीं देता तो हम उसके काव्य को आशावादी नहीं मान सकते। द्विवेदी-युग के कवियों की समवेदनात्मक रचनाओं का यदि इस दृष्टि से समीक्षण किया जाय तो वे निराशावादी काव्य के ही अन्तर्गत

संकलित की जायँगी। किन्तु, इतनी शीघ्रता से किया गया निर्णय द्विवेदी-युग की भाव-धारा के साथ न्याय नही कर सकेगा। यह ठीक है कि इस युग के कवियों ने विधवा, अछूत, किसान आदि की दुर्दशा और उन पर होने वाले अत्याचारो को ही व्यक्त किया है, उनकी कविताओं में केवल करुणा है, क्रान्ति का सन्देश नहीं। किन्तु हमे कवियो के उद्देश्य को भी ध्यान में रखना होगा। द्विवेदी-युग का कवि जब दीन विधवा अथवा दुखिया किसान की कष्ट-कथाओं को रो-रो कर समाज को सुनाता है तो उसका उस रोने में भी एक उद्देश्य है—निष्क्रिय रुदन नहीं है। वह सोचता है कि यदि समाज के दुर्बल अङ्गो का करुण चित्र समाज के सम्मुख उपस्थित किया जायगा तो समाज उस करुण चित्रण से पसीज कर उनके प्रति अच्छा बर्ताव करने लगेगा। दूसरे शब्दो में, स्थिति का करुण चित्रण ही द्विवेदी-युग के कवि की दृष्टि में स्थिति पर विजय पाने का साधन है। अत द्विवेदी-युग के समवेदनात्मक काव्य को कवियो के उद्देश्य की दृष्टि से आशावादी ही मानना पड़ेगा। सक्षेप में इस समवेदनात्मक काव्य की एक झाँकी ले लेनी चाहिए।

विधवा—

भारतेन्दु ने 'विधवा-ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो'[1] लिखकर विधवाओं पर होने वाले सामाजिक अत्याचार एव उसके दुष्परिणामो की ओर सकेत किया था। नाथूराम शकर शर्मा ने विधवा-समस्या पर भारतेन्दु-युग में ही लेखनी चलानी प्रारम्भ कर दी थी। सन् १८८० में शर्मा जी ने 'विधवा-विलाप' लिखकर विधवा-विवाह-निषेध के दुष्परिणामो, को व्यक्त किया।[2] द्विवेदी-युग मे कवि शकर ने 'गर्भ-रडा-रहस्य' (स० १९७६) लिखकर विधवाओं पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई। श्रीधर पाठक ने 'मनोविनोद' (सन् १९१७) मे विधवाओं

१—देखिए—भारतेन्दु-नाटकावली, पृ० ४६५।

२—सारी सहे सोक-सन्ताप व्याकुल विधवा करे विलाप।
एक ठौर मिल बैठी पॉच उर में बार बिरह की आंच॥
बोली एक गह्यो किन हाथ भामर परीं कौन के साथ।
कैसे ब्याह भयो सुधि नाहिं बसे वासना-सी मन माहिं॥
शकर-सर्वस्व, पृ० २६८।

के कष्टों का मार्मिक वर्णन किया।[1] पाठक जी भारतवर्ष के अध पतन का कारण बाल-विधवाओं का अभिशाप मानते हैं।[2] मिश्रबन्धु 'भारत-विनय' (सन् १६१६) में विधवाओं के विषय में लिखते हैं—

विधवाओं से जो असह्य व्यौहार किया है।
आपापथी का प्रचंड परिचय सु दिया है॥
वह निन्दित करतूत सुतों की जब सुधि आती।
आहों से उस काल तुरत छाती भर जाती॥
कर सके व्याह दस भी कुपति निज तिय के जीवित रहे।
पर वाम दुतिय पति नहिं वरै पति के शव तक के दहे॥[3] (आदि)

इस प्रकार से द्विवेदी-युग के कवियों ने विधवाओं पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों को तो व्यक्त किया है, उनकी दयनीय दशा पर आँसू भी बहाये हैं, किन्तु विधवाओं के कल्याण के आशावादी स्वप्न नहीं देखे। द्विवेदी-युग के प्राय सभी कवियों ने इसी प्रणाली को अपनाया है।

अछूत—

अछूतोद्धार की ओर द्विवेदी-युग के कवियों का ध्यान ही सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। अन्त कलह के भय से कविगण अछूतों पर होनेवाले सामाजिक अत्याचारों को बड़ी अनुनय-विनय के साथ समाज के सम्मुख उपस्थित करते है। अतः शुक्ल जी की पदावली ने

१—दुखी बाल-विधवाओं की जो है गती,
कौन सके बतला किसकी इतनी मती।
जिन्हें जगत की सब बातों से ग्लान है,
दुख-सुख मरना जीना एक समान है॥
जिनको जीते जी दी गई तिलाञ्जली,
उनकी कुछ हो दशा किसी को क्या पड़ी॥
मनोविनोद (सन् १६१७) पृ० ७६।

२—बाल विधवा-श्राप बस यह भूमि है पातक मई।
होत दुःख अपार सजनी निरखि जन की निठुरई॥
मनोविनोद (सन् १६१७), पृ० ७६।

३—भारत-विनय, पृ० ६०।

अछूत विषयक कविताओं में 'न न्याय का आग्रह है और न उलट फेर कर डालने की कामना का आवेश।' कवियों की वाणी में दीनता, करुणा, याचना आदि दुःखात्मक भावनाओं का ही प्राधान्य है। विस्तार-भय से केवल एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

निशि-दिन हम क्या यों दुःख पाते रहेंगे ?
हत दिवस हमारे क्या कभी भी फिरेंगे ?
यह दुख हमसे तो यों सहा है न जाता,
अहह ! यह हमारा है कलेजा जलाता।
क्षण-क्षण कटता है आपदा में हमारा।
अतिशय बहती है नेत्र से वारि-धारा॥
लघुतर हमसे है दृष्टि कोई न आता,
बढ़कर हमसे है स्वान भी मान पाता।
मनुज तन मिला हमें हा क्या वृथा ही ?
गति पलट गई है काल की सर्वथा ही॥
विनय उन कुलीनों से यही है हमारी।
अतिशय उनकी है नीति अन्याय कारी॥[1]

इस प्रकार की कविताएँ सवर्ण हिन्दुओं का हृदय-परिवर्तन करने के लिए लिखी गई थी, न कि अछूतों के हृदय में 'कुलीनों' के विरुद्ध प्रतिशोध की भावनाओं को जागरित करके समाज में आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न करने के लिए। अतएव उपरिचित्रित अछूत केवल अपनी दुर्दशा का वर्णन करके मौन रह जाता है। रामचन्द्र शुक्ल 'अछूत की आह' में अछूतों के प्रति प्रेम का व्यवहार करने की प्रेरणा देने के लिए उसकी 'कीट से भी तुच्छ' सामाजिक स्थिति का करुण चित्रण करते हैं—

हाय हमने भी कुलीनों की तरह,
जन्म पाया प्यार से पाले गए,
जी बचे फूले फले तो क्या हुआ,
कीट से भी तुच्छतर माने गए॥
जो दयानिधि को तनिक आवे दया,
तो अछूतों की उमड़ती आह का,

१—'पतितों की पुकार'—मोतीलाल, (सरस्वती, जनवरी, १९१७)।

यह असर होवे कि हिन्दुस्तान में,
पाँव जम जावे परस्पर प्यार का ॥[1]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अछूत अपनी दुर्दशा पर हाय-हाय करके ही शान्त हो जाता है अथवा अपनी दशा सुधारने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। उसकी 'आह' एक निराशावादी व्यक्ति की आह समझी जा सकती है, जो अधिकारों की प्राप्ति स्वयं नहीं कर सकने के कारण ईश्वर का सहारा पकड़ती है। किन्तु, अभिव्यक्ति की शैली पर ध्यान न देकर कवि के उद्देश्य को लक्ष्य किया जाय तो इस प्रकार की कविताएँ निराशावादी नहीं कहला सकतीं। कवि की कोई पराजित मनोवृत्ति उनकी पृष्ठभूमि मे नहीं छिपी हुई।

कृषक—

द्विवेदी-युग मे भारतीय समाज का सबसे अधिक शोषित, उत्पीड़ित और दुखी अङ्ग किसान था। लगातार पड़नेवाले दुर्भिक्षो का विनाशक प्रभाव कृषकों पर ही पड़ा था। अँगरेजी राज्य मे किसानो पर ही सबसे अधिक कर बढ़ाया गया था और जमीन्दारो के जुल्मो का यही निरीह समाज शिकार बना हुआ था। जमीन्दारों के गुर्गे, तहसील के चपरासी, लाल पगड़ीवाली पुलिस, पटवारी, सूदखोर महाजन आदि किसानो के रक्त-शोषण को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझे हुए थे। गोरे शासक कृषकों पर होनेवाले अत्याचारों से उदासीन थे। किसानों का जीवन दिन-प्रति-दिन दुर्वह होता जा रहा था। ऐसी दशा मे राष्ट्र-प्रेमी कवियो का ध्यान किसानो की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। कांग्रेस का पक्ष लेकर सर सैयद अहमद खाँ को खरी-खोटी सुनानेवाले बालमुकुन्द गुप्त ने भारतेन्दु-युग मे ही कृषकों की दयनीय दशा की ओर शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट किया था। बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था—

जेठ की दुपहर में करते हैं एकत्र अन्न का ढेर,
जिस में हरिन होंय काले, चीलें देती हैं अंडा गेर।
उस अवसर पर मर-खप कर दुखिया अन्न उपजाते हैं,
हाय विधाता उसको भी सुख से नहिं खाने पाते है।

१—'अछूत की आह'—जातीय-कविता, पृ० ५५, ५६।

जम के दूत उसे खेतों से ही उठवा ले जाते हैं,
यह बेचारे उनके मुँह को तकते ही रह जाते हैं।
यह लगान पापी सारा ही अन्न हड़प कर जाता है,
कभी-कभी सबका सब भक्षण कर भी नहीं अघाता है।
जिन बेचारों के तन पर कपड़ा, छप्पर पर फूँस नहीं,
खाने को दो सेर अन्न नहिं बैलों को तृण तूस नहीं।
नग्न शरीरों पर उन बेचारों के कोड़े पड़ते हैं,
माल-माल कहकर चपरासी बाघ की भाँति बिगड़ते हैं॥[1]

कृषकों की दुर्दशा का वर्णन करने के अतिरिक्त ग्राम्य वैभव के विनाश पर भी बालमुकुन्द गुप्त ने ही सर्वप्रथम आँसू बहाये थे।[2]

द्विवेदी-युग के द्वितीय दशक में कृषक-समुदाय कवियों की समवेदना का प्रधान विषय रहा है। मैथिलीशरण गुप्त और सनेही कृषकों की दुर्दशा के करुण चित्र शिक्षित नागरिक जनता के सम्मुख उपस्थित करने में अग्रणी रहे। 'भारत-भारती' (सं० १९६९ वि०) में 'कृषि और कृषक'[3] प्रसंग में गुप्तजी ने कृषकों की हीन अवस्था और उस हीन अवस्था के कारणों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'सनेही' द्वारा लिखित 'दुखिया किसान' (सरस्वती, जनवरी, १९१२ ई०)

१—जातीय—'राष्ट्रीय-भावना' (१८९० ई०), बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, पृ० ६२६–२७।

२—देखिए—'वसन्तोत्सव' (१८९० ई०) बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, पृ० ६३३–४१।

३— कृषि और कृषक

सौ में पचासी जन यहाँ निर्वाह कृषि पर कर रहे,
पाकर करोड़ों अर्द्ध भोजन सर्द आहें भर रहे।
जब पेट की ही पड़ रही फिर और की क्या बात है,
होती नहीं है भक्ति भूखे उक्ति यह विख्यात है॥

कृषि-कर्म की उत्कर्षता सर्वत्र विश्रुत है सही,
पर देख अपने कर्षकों को चित्त में आता यही—
हा देव! क्या जीते हुए आजन्म मरना था इन्हें?
भिक्षुक बनाते, पर विधे! कर्षक न करना था इन्हें॥

'आर्त कृषक' (सरस्वती, अप्रेल, १९१४) मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित 'कृषक-कथा' (सरस्वती, जनवरी, १९१५) और 'भारतीय-कृषक' (सरस्वती, मई, १९१६) आदि कविताएँ कृषकों की दुर्दशा का करुण चित्र उपस्थित करती है। इस युग मे कृषक-समस्या पर दो प्रबन्ध काव्य भी लिखे गए जिनमे कवियो ने निराशावादी शैली मे ही कृषको के प्रति जनता की समवेदना को जागरित करने की चेष्टा की है। प्रबन्ध काव्य 'कृषक-क्रन्दन' और 'कृषक' के अनुशीलन से किसानो के प्रति व्यक्त की गई समवेदना का सम्यक् आभास मिल सकेगा।

कृषक-क्रन्दन (सन् १९१६), लेखक—सनेही।

कृषक-क्रन्दन का कथानक निराशावादी है। उसका नायक मानव-समाज से किसी भी प्रकार की समवेदना की आशा नहीं रखता। अत अपनी रामकहानी भगवान् को सुनाता है। यह कहानी सूदखोर महाजन, अत्याचारी राजा साहब और उनके सिपाहियो के निर्मम जुल्मों से भरी हुई है। नायक का भरा-पूरा परिवार एक-एक करके भूख की ज्वाला मे तड़प-तड़प कर मर जाता है। अंत मे अपने परिवार के विनाश पर आँसू बहाता हुआ और अपनी दयनीय दशा मे भी समाज के अत्याचार सहता हुआ नायक भी भूख की ज्वाला से तड़प-तड़प कर स्वयं दम तोड़ देता है। दम तोड़ते समय वह भगवान् से प्रार्थना करता है—

हे प्रभु ! अब इस क्रूर देश का मुँह न दिखाना।
मेरी विनती यही यहाँ मत अब जन्माना॥

कृषि में अपेक्षा वृष्टि की रहती हमें अब है सदा,
होता जहाँ वैषम्य उसमें क्या कहें फिर आपदा।
रहता अवर्षण से अहा ! अब जो हमारा हाल है,
दृष्टान्त उसका इन दिनों गुजरात का दुष्काल है॥

हो जाय अच्छी भी फसल, पर लाभ कृषकों को कहाँ?
खाते-खवाई, बीज-ऋण से हैं रँगे रक्खे यहाँ।
आवा महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अन्त में,
अधपेट रहकर फिर उन्हे है काँपना हेमन्त में॥

भारत-भारती, पृ० ९१, ९२, ९३।

यदि स्वकर्म अनुसार यहाँ मुझको हो आना।
कुछ भी रचना और, किन्तु मत कृषक बनाना ॥[1]

कवि ने मृत्यु के जिस वातावरण में किसान के मुख से उक्त पंक्तियों को कहलाया है, उस वातावरण में उनको पढ़कर क्रूर से क्रूर जमीन्दार का हृदय बिना पसीजे नहीं रह सकता। और यदि काव्य में हृदय को झकझोर देने की शक्ति है तो कवि अपने उद्देश्य में सफल है। कवि किसान और जमीन्दारों में संघर्ष उत्पन्न नहीं करना चाहता, अपितु जमीन्दारों का हृदय-परिवर्तन करके किसानों के प्रति अच्छा व्यवहार करने की प्रेरणा देना चाहता है। साथ ही कृषकों की दुर्दशा की ओर शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है।

(२) 'किसान'—(फाल्गुन-पूर्णिमा, १९७६ वि०) लेखक—मैथिलीशरण गुप्त।

'कृषक-क्रन्दन' को ही भाँति 'किसान' का नायक भी अपनी दीन दशा का निवेदन भगवान् से करता है जो कुछ इस प्रकार है—

कृषक-वंश में जन्म यहाँ जो हम पाते हैं।
तो खाने के नाम नित्य हा हा खाते हैं॥
मरने के ही लिए यहाँ क्या हम आते हैं?
जीवन के सब दिवस दुःख में ही जाते हैं॥

× × ×

प्रभुवर! हम क्या कहें कि कैसे दिन भरते हैं?
अपराधी की भाँति सदा सब से डरते हैं॥

× × ×

बनता है दिन-रात हमारा रुधिर पसीना।
जाता है सर्वस्व ब्याज में हमसे छीना॥
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना।
नहीं चाहिए नाथ! हमें अब ऐसा जीना॥[2]

१—कृषक-क्रन्दन, पृ० ८, ९।
२—किसान, छन्द-संख्या, १८, २२, २३।

'कृषक-क्रन्दन' के नायक के समान 'किसान' के नायक की रामकहानी महाजन, जमीन्दार, पुलिस, पटवारी आदि के अत्याचारो से भरी हुई है। खेत, घरबार आदि सर्वस्व स्वाहा हो जाने के पश्चात् नायक अपनी पत्नी कुलवन्ती को लेकर घर से निकल पड़ता है और फिजी द्वीप मे रोजी कमाने के लिए पहुँचता है। फिजी मे भारतीय प्रवासियो के साथ अमानुषिक व्यवहार होता है। स्त्रियो के अभाव के कारण वहाँ पर बलात्कार आये दिन की घटना है। कुलवन्ती ऐसे ही एक बलात्कार के विरुद्ध आत्मरक्षा करती हुई प्राण त्याग देती है। नायक सन् १९१४–१८ के युद्ध मे भर्ती होकर अँगरेज सरकार के लिए युद्ध-क्षेत्र मे प्राण त्याग देता है।

'कृषक-क्रन्दन' और 'किसान' दोनो प्रबन्ध काव्यो की विशेषता यह है कि दोनो के नायको के हृदय मे अत्याचारियो से प्रतिशोध लेने की भावना पहले तो जागरित ही नहीं होती और जागरित भी होती है तो शीघ्र शान्त हो जाती है। इसलिए दोनो प्रबन्धो मे निराशावादी भावनाओ की ही अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु इस निराशावादी अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि मे कृषको की दशा के सुधार की प्रेरणा छिपी है, अत हम उसे निराशावाद के अन्तर्गत नहीं मान सकते। अस्तु।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग मे विधवा अछूत और किसानो की समवेदना मे जो कुछ लिखा गया है उसमे दु खात्मक भावनाओ का ही चित्रण किया गया है। परिस्थितियो से उद्धार का उनमें कोई मार्ग प्रदर्शित नहीं किया गया। किन्तु कवियों ने इन समवेदनात्मक रचनाओ को हृदय का भार हलका करने के लिए नहीं लिखा था, उनका एक निश्चित उद्देश्य था और वह यह कि समाज के उत्पीड़ित वर्गों की दुर्दशा का अत्योक्तिपूर्ण चित्रण करके उनके प्रति समाज की समवेदना उद्बुद्ध की जाय। अत. हम इस समवेदनात्मक काव्य को निराशावादी काव्य नहीं मान सकते।

...—

...ो भाँति द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में आधिभौतिक ... प्रकोप होता रहा था। आधिभौतिक संकट ...थो, जिस पर मनुष्य का वश अधिक नहीं चल ... कवि दुर्भिक्ष और महामारियो के प्रकोप पर केवल ...है, अथवा आतंकित होकर ईश्वर की शरण-याचना ... भारतेन्दु-युग ने आधिभौतिक सकटो पर जो चिन्ता, ... कातरता व्यक्त की थी, वही द्विवेदी-युग के कवियों ... अत द्विवेदी-युग के आधिभौतिक सकटो पर व्यक्त ...ावादी भावनाओ की समीक्षा के लिए विशेष विस्तार की ...वश्यक नही है।

दुर्भिक्ष—

दुर्भिक्षो का विनाशकारी प्रभाव देश की आर्थिक और नैतिक अवस्था पर पड़ रहा था। उसके भीषण प्रकोप के कारण किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय बन गई थी। आधिभौतिक सकटो से व्याकुल होकर मैथिलीशरण गुप्त दुर्गा की शरण में जाते हैं—

वर्षा वैषम्य से है विधि-वश पड़ता नित्य दुर्भिक्ष घोर।
हे कल्याणी सदा ही तिस पर रहता रोग का जोर-शोर॥
हैं लाखों लोग देखो प्रतिदिन मरते क्लेश पाके विशेष।
जीते हैं जो अहो वे अधिकतर सभी अस्थिचर्मावशेष॥
सोचो तो हे भगवति! बहुत दिन हुए कष्ट पाते कठोर।
हा हा! जाती सही हैं हम पर अब यातनाएँ न घोर॥

× × × ×

लाखों आँखें हमारी अवि... ...ारिधारा बहातीं।
...ा ध्यान तो भी तव... ...हैं नेक खातीं॥
...काट है ... फुल... नीर-प्रवाह।
! ... न ... आह॥[1]

... से व्यथित ...

इसी प्रकार की कातर प्रार्थनाएं लिखा करते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में दुर्भिक्षों का करुण चित्रण किया है।[1]

महामारी—

दुर्भिक्षों के समान ही महामारियों का भीषण प्रकोप द्विवेदी-युग के प्रथम दशक तक होता रहा। कवियों ने महामारी की भीषणता का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। यथा—

१—लाखों घर ऊजड़ कर डाले, घटे घने परिवार।
तो भी हाय महामारी का, हुआ न कुछ प्रतिकार॥
खाते-खाते कुटिल काल का भरे न पेट पिटार।
दैव-कोप ने हाय हमारे लूट लिए घरबार॥[2]

—नाथूराम शंकर शर्मा

२—बेमौत अपने आप यों ही हम अभागे मर रहे,
हा! प्लेग जैसे रोग तिस पर हैं चढ़ाई कर रहे।
उच्छिन्न होकर अर्ध मृत-सा छटपटाता देश है,
सब ओर क्रन्दन हो रहा है क्लेश को भी क्लेश है॥

१— दुर्भिक्ष

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूँजता घनघोर है।
उड़ते प्रभंजन से यथा तप-मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं॥

आवास या विश्राम उनका एक तरुतल मात्र है,
बहु कष्ट सहने से सदा काला तथा कृश गात्र है।
हेमन्त इनको है कँपाता, तप तपाता है तथा—
है झेलनी पड़ती उन्हें सिर पर विषम वर्षा-व्यथा॥

वह पेट उनका पीठ से मिल कर हुआ क्या एक है?
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है।
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे;
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे॥

भारत-भारती, पृ० ८७—८८।

२—'कजली-कजार' (सरस्वती, अगस्त, १९०७ ई०)।

भारत न ऐसा है कि अब वह और भी दुख सह सके।
उसकी बुरी गति भारती ही कह सके तो कह सके ॥[1]

—मैथिलीशरण गुप्त

दुर्भिक्ष और महामारियो के प्रकोप के शान्त हो जाने के पश्चात् ही कवियों का ध्यान राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ पर जाता है। हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग का प्रथम दशक काव्य-क्षेत्र मे विशेप उत्कर्ष नहीं दिखलाता। सन् १६१० के पश्चात् जब आधिभौतिक सकटों का समय समाप्त हो जाता है, द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय काव्य में उत्कर्प आता है। इससे दुर्भिक्ष और महामारियो के विनाशक प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तु।

द्विवेदी-युग वस्तुत राष्ट्रीय जागरण और सामाजिक अभ्युत्थान का आशावादी युग है। देशोद्धार, सेवा, कर्मण्यता, त्याग, आत्म-बलिदान, विदेशी-शासन के विरुद्ध सघर्प करने का प्रोत्साहन देना आदि आशावादी भावनाएँ इस युग में विशेपरूप से अभिव्यक्ति हुई हैं।

इस युग के काव्य की दु खात्मक अनुभूतियाँ शासन के प्रति असन्तोप, सामाजिक दुर्व्यवस्था पर क्षोभ, समाज के दुर्बल अङ्गों के प्रति समवेदना और आधिभौतिक सकटों द्वारा किए गए विनाश पर खेद तक सीमित हैं।

द्विवेदी-युग के काव्य का मूल्यांकन—

भारतेन्दु-युग की ही भाँति द्विवेदी-युग सुधार और राष्ट्रीय जागर्त्ति का युग है। द्विवेदी-युग मे देश की मुक्ति-कामना सक्रिय हो जाती है। बगाल का 'स्वदेशी-आन्दोलन', बग-भंग की योजना मे सुधार, गांधी जी की दक्षिणी अफ्रीका मे विजय, तिलक एव गोखले का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, ऐनी बेसेन्ट का राष्ट्रीय आन्दोलन मे सहयोग और सन् १६२१ का असहयोग और सत्याग्रह का कार्य-क्रम जनता को आशावादी बनने की प्रेरणा देता है। अत द्विवेदी-युग की भाव-

१—भारत-भारती, पृ० १०२।

धारा अतीत गौरव के विनाश और वर्तमान अध.पतन पर आँसू बहाने तक ही सीमित नहीं रहती। वह अध:पतन की चेतना प्राप्त कराके अभ्युत्थान के लिए चेष्टा करने की प्रेरणा देती है।

उपादेयता की दृष्टि से द्विवेदी-युग के काव्य की चाहे जितनी सराहना की जाय, कवि-कर्म की दृष्टि से कुछ ही कविताएँ तुकवन्दियों से ऊँची उठ सकी है। कवियो ने निराशावादी शैली के माध्यम से अपने मस्तिष्क के राजनीतिक और सामाजिक विचारो को व्यक्त किया है; हृदय का रक्त उनमें नहीं उँडेला। इसलिए वे पाठको के मस्तिष्क को भले ही थोड़ा-बहुत प्रभावित कर सकें, हृदय को आन्दोलित करने की सामर्थ्य उनमें नहीं है।

बहुत से कवियो ने निराशावाद (दोप-दर्शन) की परिपाटी को जिस रूप मे भारतेन्दु-युग से पाया था, उसका उसी रूप में प्रतिपादन किया है, जिसमें मौलिकता और सरसता दोनो का अभाव है। सामाजिक मतवादो (आर्य-समाज, सनातन धर्मादि) के फेर मे पड़कर कुछ कवियों ने दोप-दर्शन केवल खण्डन-मण्डन के लिए किया है जिसमे न उनका राष्ट्र-प्रेम व्यक्त हुआ है न जाति-प्रेम। बार-बार समाज का दोप-दर्शन करना एक ऐसा विपय था जो इस इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली से विरक्ति उत्पन्न कर सकता था। छायावादी युग मे हम द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक काव्य की तीव्र प्रतिक्रिया पाते हैं। छायावादी कवि सौन्दर्योपासना, कोमल कल्पना और मार्मिक अनुभूतियो को अपने गीतो का लक्ष्य बनाता है, जिसका अध्ययन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

छायावादी युग के निराशावाद की सीमा--

आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छायावादी युग वस्तुत निराशावाद का युग है। इस युग के काव्य में जितनी भी भावधाराएँ अभिव्यक्त हुई है, सबमे निराशावादी अनुभूतियों का प्रावल्य है। निराशा और दुःख की दृष्टि से यदि छायावादी युग के निराशावाद की गहराई का अनुमान लगाया जाय तो वह सामान्य व्यथा, वेदना, क्षोभ, उदासीनता आदि निषेधात्मक अनुभूतियो से लेकर जीवन का अन्त कर देनेवाली कामना तक व्याप्त है, जो निराशावाद का उग्रतम रूप है।

छायावादी काव्य आधुनिक युग का सबसे अधिक समृद्ध काव्य है। कल्पना की उन्मुक्त उड़ान, संवेदनशीलता, लाक्षणिकता, भावो की गहराई, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, ध्वनि, गेयता, प्रवाह, भाषा-माधुर्य आदि चाहे जिस दृष्टि से समीक्षा की जाय, छायावादी काव्य प्रत्येक दृष्टि से अन्य युगो के काव्य से श्रेष्ठतर सिद्ध होगा। इस युग के काव्य में अनेक भाव और विचार-धाराओं ने अभिव्यक्ति पायी है और उन सब मे किसी न किसी रूप मे निराशावादी भावनाओं की अभिव्यंजना हुई है। कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें निराशावादी भावनाओ की दार्शनिक रूप में अभिव्यक्ति हुई है और कहीं व्यक्तिगत जीवन की दुखात्मक अनुभूतियो का स्वतन्त्र रूप से चित्रण किया गया है। छायावादी काव्य के निराशावाद का अध्ययन हम अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

(१) रहस्यवादी गीतों में सन्निहित निराशावादी तत्व।
(२) प्रकृति-चित्रण के माध्यम से निराशावाद की अभिव्यक्ति।
(३) प्रणय-निराशा।
(४) खैयामवादी निराशा
(५) स्वतन्त्ररूप से निराशावाद की अभिव्यक्ति।

अनुभूतिप्रधान होने के कारण छायावादी काव्य निराशावादी अनुभूतियों को ही विशेषत व्यक्त कर सका है; दार्शनिक गाम्भीर्य उसमें अधिक नही है।

छायावादी युग का निर्माण करनेवाले तत्व—

२० वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का अन्त होने के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा राष्ट्रीय आशा-निराशा के उपकूलों का परित्याग करके व्यक्तिगत हर्ष-विषाद की ओर प्रवाहित होने लगती है। काव्य के अन्तरग और वहिरग दोनो रूपो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगता है। प्रारम्भ मे नवीन लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त अध्यात्मवादी भावनाओं को छायावाद का नाम दिया गया था। आगे चलकर यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि क्या अध्यात्मवादी क्या यथार्थवादी सभी भावो की लाक्षणिक अभिव्यक्ति छायावाद कहलाने लगी और छायावाद के नाम से एक युग का बोध होने लगा। आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा पर सन् १६४० ई० तक व्यक्तिवादी भावनाओं का प्रभावपूर्ण अधिकार रहता है, इसलिए छायावादी युग का विस्तार असदिग्ध रूप से उक्त समय तक माना जा सकता है। सन् १६४० ई० के पश्चात् आधुनिक काव्य-धारा व्यक्तिवाद का परित्याग करके पुन सामाजिक सुख-दु ख की ओर मुड़ती है और एक नवीन युग का श्रीगणेश होता है।

छायावादी-युग के निर्माण में व्यक्तिगत निराशावाद एक महत्वपूर्ण तत्व है। अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जो दु खात्मक अनुभूतियाँ कवियों के मानस में घुमड़ रही थीं, अपनी अभिव्यक्ति का अनुकूल अवसर पाकर वे छायावादी गीतो मे प्रस्फुटित होने लगीं। द्विवेदी-युग तक कविगण समाज की व्यथा-वेदना के गीत तो गाया करते थे, किन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन मे जो आँसू और उच्छवास हलचल मचाये हुए थे, राष्ट्रीय काव्य-धारा मे उनकी अभिव्यक्ति का कोई अवसर नहीं था। व्यक्तिगत निराशावाद के प्राबल्य के कारण चार-पाँच वर्षों के अन्दर (१६२०-२५ ई०) आधुनिक हिन्दी-काव्य मे एक युगान्तर उपस्थित होगया और आधुनिक काव्य-धारा राष्ट्रीय चेतना का परित्याग करके व्यक्तिगत

निराशावाद के गीत गाने लगी। इस तथ्य का अनुमान केवल इसी बात से लग सकता है कि छायावादी युग की प्रारम्भिक और महत्व-पूर्ण रचनाएँ सुमित्रानन्दन पंत की 'वीणा' और 'ग्रन्थि' एवं जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' हैं, जो व्यक्तिगत दुःख और निराशा को ही व्यक्त करती हैं।]

[राष्ट्रीय काव्य-धारा की क्षीणता का एक कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता भी थी। सन् १९२०-२२ के अहिंसात्मक आन्दोलन के समय देश-प्रेम की वेदी पर बलिदान होने के गीतों और सत्याग्रह और असहयोग के नारो से वायु-मंडल गूँज रहा था। किन्तु, जब आन्दोलन स्थगित कर दिया गया तब राष्ट्रीय प्रेम को उद्दीप्त करने-वाली वाणी भी मौन हो गई।] जिस असहयोग और सत्याग्रह के गीत गा-गाकर कविगण जनता को स्वाधीनता-प्राप्ति का विश्वास दिला रहे थे, उसकी विफलता के पश्चात् वे क्या गाते? इसलिये राष्ट्रीय आन्दोलन की विफलता से उत्पन्न क्षोभ और निराशा व्यक्तिगत वेदना और पीड़ा के रूप मे अभिव्यक्त होने लगी।

[मुकुटधर पाण्डेय, राय कृष्णदास, मैथिलीशरण गुप्त, जयशकर 'प्रसाद', रामनरेश त्रिपाठी, 'निराला' और पंत नवीन क्षेत्र मे अग्रगामी रहे। सन १९२८-३० के लगभग महादेवी वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', 'दिनकर', नरेन्द्र आदि व्यक्तिवादी कवियो की कुमुक आ पहुँचने पर द्विवेदी-युग की काव्य-धारा को कोसो पीछे धकेल दिया गया था।]

[छायावाद के पहले खेवे के कवियो की चेतना व्यक्तिप्रधान होते हुए भी समाज के दुःख-सुख से सर्वथा निरपेक्ष नहीं थी, परन्तु बच्चन, नरेन्द्र आदि दूसरे खेवे के कवियों में वैयक्तिकता चरम सीमा को स्पर्श करती हुई पाई जाती है।] जो कवि जिस समय मे सामाजिक सुख-दुःख से उदासीन होकर व्यक्तिगत आशा-निराशा में जितने गहरे पैठते गए हैं, उनकी रचनाओं मे निराशावाद उतना ही उग्र रूप धारण करता गया है। जिन कवियों ने व्यक्तिवादी चेतना को प्रधानता देते हुए सामाजिक चेतना का परित्याग नहीं किया, उनकी रचनाओं मे निराशावाद भीषण रूप धारण नहीं कर सका।

इस तथ्य से केवल यही परिणाम निकलता है कि व्यक्ति जब-तक अपने सुख-दुःख का उपभोग समाज के साथ मिलकर करता है, उसको दुःख की उतनी तीव्र अनुभूति नही होती जितनी उस समय होती है जब दुःख का भार वहन करने के लिए वह विश्व में अपने आपको अकेला पाता है।]

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय विचार-धारा के स्थान पर व्यक्तिवादी भावनाओं की ओर आधुनिक काव्य-धारा को मोड़ने मे पाश्चात्य काव्य का प्रभाव एक महत्वपूर्ण तत्व था। सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में "द्विवेदी-युग के काव्य की तुलना में ✓ छायावाद इसलिए नया था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना पर पाश्चात्य साहित्य का रंग चढ़ चुका था।"[1] यद्यपि यूरोप और भारतवर्ष की सामाजिक परिस्थितियों मे बहुत अधिक साम्य नही था फिर भी पाश्चात्य काव्य के निराशावाद का थोड़ा-बहुत प्रभाव छाया-वादी युग के कवियों पर भी पड़ा है। इस प्रसंग में खैयामवाद के नाम का उल्लेखमात्र कर देना पर्याप्त होगा। उमर खैयाम की रुबाइयों ने छायावादी युग में निराशावाद का जो प्रचार किया उसका श्रेय अँगरेजी काव्य को ही है। इसी प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता को कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान की ओर मोड़ने मे भी पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का महत्वपूर्ण हाथ है।[स्वच्छन्दतावाद अनुभूतियो की तीव्रता एव मर्मस्पर्शिता और सवेगो की गहराई को काव्य की आत्मा मानता है। जीवन के दुःखद पक्ष का चित्रण करने के प्रसग मे उक्त गुणो का समावेश सफलता-पूर्वक हो सकता है, अतः छायावादी काव्य स्वच्छन्दतावादी होने के नाते स्वतः ही निराशावादी भावनाप्रधान काव्य बन जाता है।]

छायावादी युग के निर्माण मे बगला-काव्य का प्रभाव भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् १९१३ मे रवीन्द्र को 'गीताजलि' पर नोबुल पुर-स्कार प्राप्त हुआ। 'गीताजलि' की धूम पाश्चात्य देशो में खूब मची। हिन्दी-कवियो का ध्यान भी बगला-काव्य की ओर आकृष्ट हुआ। 'गीताजलि' मे राम-कृष्ण आदि की साम्प्रदायिक भक्ति-भावना के स्थान पर औपनिषद् रहस्यात्मक भावनाओ को प्रतीकात्मक शैली

१—पृ० ११-१२, 'आधुनिक कवि'—सुमित्रानन्दन पंत

मे व्यक्त किया गया था; साथ ही ससीम आत्मा का असीम प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन भी किया गया था। अत. छायावादी-युग मे रहस्यवादी गीतो का जो प्रचलन हुआ उसका बहुत कुछ श्रेय 'गीतांजलि' को ही है। 'गीतांजलि' की भाव-धारा और छायावादी युग के रहस्यवाद मे एक अन्तर है। उपनिषद् के दर्शन से प्रत्यक्ष अनुप्राणित होने के कारण 'गीतांजलि' मे जहाँ दु खवाद का प्राय अभाव है; हिन्दी के रहस्यवादी गीतों मे उसका प्राधान्य है।

द्विवेदी-युग मे राष्ट्रीय चेतना का प्राधान्य होने के कारण उस पर 'गीतांजलि' अपना व्यापक प्रभाव न डाल सकी, किन्तु सन् १९२२ के पश्चात् जैसे ही राष्ट्रीय विचार-धारा क्षीण पड़ने लगी, अध्यात्मवादी विचार काव्य-धारा को प्रभावित करने लगे। 'गीतांजलि' का व्यापक प्रभाव हिन्दी-काव्य पर राष्ट्रीय पराभव और पराजय के समय मे पड़ा था। फलत हिन्दी-काव्य-धारा 'गीतांजलि' की दु:खात्मक अनुभूतियो को तो अपना सकी किन्तु आध्यात्मिक आनन्द और उल्लास के गीत अधिक न गा सकी। अस्तु। छायावादी युग का निर्माण अनेक तत्वो ने मिलकर किया था जिन सब मे निराशावाद प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्याप्त था। युग-व्यापी निराशा का अनुशीलन करने के लिए एक दृष्टि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो पर भी डाल लेना अपेक्षित है।

छायावादी युग की सामाजिक परिस्थितियाँ--

राजनीतिक परिस्थिति--

डॉ० नगेन्द्र के इस कथन में बहुत कुछ सत्य निहित है कि--"आज से (१९४६ ई० से) २०-२५ वर्ष पूर्व युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य मे छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्ही ने मनोवृत्ति को छायावाद की ओर।"[1] छायावाद के प्रारम्भिक वर्षों मे देश का वातावरण कुछ इसी प्रकार का था। महात्मा

१--पृ० ५३, 'विचार और अनुभूति'--नगेन्द्र।

गान्धी ने देश की वलिवेदी पर प्राण निछावर करने का आह्वान किया था। युवकों ने आह्वान को स्वीकार किया और संघर्ष में कूद पड़े। महात्मा गान्धी ने देश को आश्वासन दिया था कि यदि उनके कार्य-क्रम को स्वीकार किया गया तो देश को एक वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा, किन्तु सत्याग्रह की असफलता ने राष्ट्रीय आकांक्षाओं को छिन्नतार कर दिया, अत राष्ट्र का असतोष और अवसाद वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर 'आँसू' और 'उच्छ्वास' के रूप में कवियों की लेखनी से व्यक्त होने लगा।7

८ गान्धी जी की अहिंसा और आत्मनिषेध की नीति ने जनता का ध्यान बौद्ध दर्शन की ओर आकृष्ट किया। गान्धी जी की अहिंसात्मक कष्ट-सहिष्णुता हिन्दी-काव्य में आत्मवेदना और दुःखवाद के रूप में प्रकट हुई। गान्धी जी की आध्यात्मिक नीति ने अप्रत्यक्ष रूप से अध्यात्म-चिन्तन की प्रेरणा दी। १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध का, विवेकानन्द आदि वेदान्तियों का, अद्वैतवादी आन्दोलन राष्ट्रीय काव्य की चेतना के अनुकूल नहीं था, इसलिए भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों के कवि भक्ति-भावना को ही अपनाते रहे। लेकिन जैसे ही राष्ट्रीय काव्य-परम्परा क्षीण होने लगी आध्यात्मिक चिन्तन नवीन प्रतीकों का सहारा लेकर रहस्यवाद अथवा छायावाद के रूप में व्यक्त होने लगा।

जैसे-जैसे राजनीतिक परिस्थितियाँ विषम होती गई, छायावादी काव्य मे निराशावादी भावनाएँ अधिक उग्र होती गई। यही कारण है कि पत, प्रसाद, निराला, मुकुटधर पाण्डेय, रायकृष्णदास आदि छायावादी युग का निर्माण करनेवाले कवियों मे निराशावाद और दुःखवाद को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो महादेवी वर्मा, दिनकर, रामकुमार वर्मा, वच्चन आदि वाद के कवियों के गीतों मे पाया जाता है।7

१९२२ ई० के पश्चात् हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य वढ़ने लगा था। १९२३-२४ ई० मे राष्ट्रीय कांग्रेस ने ठुकराए हुए १९२१ ई० के सविधान को पुन स्वीकार कर लिया था। विधान-सभाओं मे पहुँच कर 'अड़गा-नीति' पूर्ण सहयोग की नीति वन गई थी। १९२८ ई० के पश्चात् राजनीतिक वातावरण ने पुन उभार खाया। विधान-

सभाओं से त्याग-पत्र देकर कांग्रेस ने संघर्ष का कार्यक्रम अपनाया। १६२६ ई० में गान्धी-इरविन समझौता हुआ, गोलमेज परिषदें हुईं; किन्तु परिणाम कुछ न निकला। असहयोग और सत्याग्रह का कार्यक्रम एक बार फिर दुहराया गया। राष्ट्रीय वलिवेदी पर प्राण-निछावर करने के गीत पुनः गाए जाने लगे।[1] क्रान्ति के स्वर मुखरित हुए।[2] किन्तु भारत का भाग्य जैसे पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार चल रहा हो। राष्ट्रीय संग्राम पुनः असफल हुआ। महात्मा गान्धी के पास उनकी असफलता के तार देश-विदेश से आने लगे।[3] राष्ट्रीय कवियों ने 'पराजय के गीत' गाए।[4] और व्यक्तिवादी गीतों में निराशावाद, पराजयवाद और नियतिवाद के भावों का प्रावल्य होने लगा। सन् १६३५-३६ से लेकर १६४० ई० तक एक ओर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ घोर निराशावादी रूप धारण करने लगीं और दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना जन-जागर्त्ति के नवीन आदर्शों को ग्रहण कर अपना मार्ग बनाने लगी।

द्वितीय महायुद्ध की विकरालता ने जैसे व्यक्तिवादियों की आँख में उँगली डालकर जता दिया हो कि कठोर पृथ्वी की वास्तविकता

१—क्रान्ति-कामना

रहेंगे क्या यों ही भगवान
चित्त के चित में सब अरमान,
क्या न मचेगा महा क्रान्ति का
यहाँ कभी घमसान ?

—राष्ट्रीय पथिक (विशाल भारत, जनवरी, १६२८)।

२—जल उठ जल उठ अरी भभक उठ,
महा नाश की मेरी आग।

—भगवतीचरण वर्मा (विशाल भारत, जनवरी, १६३२)।

३—देखिए—ईश्वरीप्रसाद एण्ड सूबेदार—'ए हिस्ट्री ऑफ मोडर्न इण्डिया', अध्याय २०, 'गान्धियन एरा' पृ० ४१६-३४।

४—आज खग की धार कुंठिता,
है खाली तूणीर हुआ,
झुकी हुई है विजय-पताका,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ ॥

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

से पलायन करके कल्पना की अलका में जीवन की परिस्थितियों का हल नहीं मिल सकता। पंत जी ने लिखा—"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जडित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जडों को अपने पोषण की सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[1] धीरे-धीरे छायावाद की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का स्थान सामाजिक आदर्श लेने लगे और निष्क्रियता, पलायन, वेदना, पीड़ा, असीम का आकर्षण आदि के स्थान पर जन-संघर्ष के आशावादी गीतों का प्रचलन होने लगा।

इस प्रकार सन् १६२२ ई० से १६४० ई० तक की राजनीतिक परिस्थितियों और छायावादी गीतों का साथ-साथ अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और छायावादी काव्य की निराशा राजनीतिक-चक्र से परोक्षत किन्तु अत्यधिक प्रभावित है।

आर्थिक स्थिति—

पूँजीवादी शोषण और निकृष्ट अँगरेजी शिक्षा भारतेन्दु-युग से ही एक ऐसे शिक्षित वर्ग को जन्म दे रही थी, जिसको न तो वर्तमान में ही सुख-संतोष प्राप्त था और न भविष्य में ही उसकी स्थिति में कोई सुधार होने जा रहा था। भारतेन्दु के सामने ही 'ग्रैजुएट' की दशा शोचनीय बन गई थी।[2] कवि शंकर ने सन् १६०६ में अँगरेजी शिक्षा का उद्देश्य और नव शिक्षित युवकों की

१—रूपाभ (वर्ष १, संख्या १) जुलाई, १६३८।

२—तीन बुलाए तेरह आवें।
निज निज विपता रोइ सुनावें॥
आखौ फूटे भरा न पेट।
क्यों सखि सज्जन नहि ग्रेजुएट॥
'नये जमाने की मुकरी' (सं० १६४१) भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ८१०।

आर्थिक दुर्व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया था।[1] छायावादी युग तक आते-आते नवशिक्षित युवकों की संख्या जितनी अधिक बढ़ती जा रही थी उतनी ही अधिक उनमें बेकारी और भुखमरी भी बढ़ती जा रही थी।

हमारे छायावादी कवि प्रायः नव शिक्षित समाज के सदस्य थे। अँगरेजी शिक्षा ने जहाँ आत्म-सम्मान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और पाश्चात्य विलासिता के भावों को सौगुना बढ़ा दिया था वहाँ उसने युवकों को शारीरिक परिश्रम से विमुख करके केवल बाबूगीरी के योग्य बना दिया था। विश्वविद्यालय में धन और समय का अपव्यय करके नवयुवक महत्वाकांक्षाएँ, नवीन उमंगें और भविष्य के सजीले स्वप्न लेकर आजीविका की खोज में निकलता था, लेकिन जब उसको कई महीनों तक जूती चटकाने पर भी किसी दफ्तर में बाबूगीरी तक नहीं मिलती थी, उसके रंगीन स्वप्न विदा हो जाते थे। जीवन को अवसाद और निराशा घेर लेती थी। उसका आहत और पराजित अहङ्कार अत्यन्त निष्करुण रूप धारण कर लेता था। जीवन-संघर्ष में बार-बार पराजित होने के पश्चात् मनुष्य समाज की ओर से स्वभावतः निराशावादी बन जाता है। उसका व्यथित हृदय सहानुभूति का इच्छुक होता है जो सामान्यतः समाज से नहीं मिलती, अतः उसकी चेतना अपने व्यक्तित्व पर केन्द्रित होकर समाज से उदासीन बनती जाती है। एक सामान्य मध्यम वर्ग का युवक महत्वाकांक्षी होने के कारण उच्च मध्यम वर्ग का सम्मानित सदस्य बनने के लिए लालायित रहता था, किन्तु आर्थिक कठिनाई के कारण वह उस वर्ग में सम्मानपूर्ण स्थान नहीं पा सकता था। समाज से असंतुष्ट और निराश होकर वह या तो

१—सीखे हम अंक, बीज, रेखा।
फल भिन्न सिलेट से न देखा॥
खाई विज्ञान की दुलत्ती।
रह चला न पाव रत्ती॥
विद्या की कर चुके कमाई।
रोते हैं, नौकरी न पाई॥

'हमारा अधःपतन' (सरस्वती, मई, १९०६)

समाज से उदासीन बन जाता था या फिर अपनी असफलताओं और निराशाओं का आरोप समाज पर करके उसको खरी-खोटी सुनाकर संतोष धारण कर लेता था।

छायावादी काव्य सूक्ष्म भावनाओ की अभिव्यक्ति करनेवाला काव्य था अत वह अन्न-वस्त्र की स्थूल समस्याओं को अपने विषय-क्षेत्र में समाहित नही कर सकता था, किन्तु उसके वातावरण पर निराशा, असतोष, पराजय और विषाद का जो गहरा रग चढ़ा हुआ है उसके मूल मे मध्यम वर्ग के बेकार अथवा आर्थिक दुर्दशा से पीड़ित युवको की मानसिक दशा छिपी हुई है। सन् १९३०-३४ का समय भीषण वेकारी का समय था। हम देखते हैं, इसी समय से छायावादी युग के निराशावाद का रग अधिक प्रगाढ होने लगता है। छायावादी युग के उत्तरार्द्ध के कवियो में बच्चन इसलिये सर्वाधिक लोकप्रिय हो सके कि उनके गीतों में मध्यम वर्ग के आश्रयविहीन तथा निराश युवको की मानसिक स्थिति को वाणी मिली थी।

सामाजिक स्थिति—

भारतीय सामाजिक व्यवस्था अँगरेजी राज्य के आगमन के पश्चात् ही विशृंखलित हो उठी थी। सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था पर आश्रित भारतीय जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव उत्तरदायित्व पर आश्रित पाश्चात्य जीवन में कोई मेल नहीं था। आर्थिक दशा के बिगड जाने पर सामाजिक स्थिति और भी विषम तथा असतोषजनक हो गई थी। नवीन शिक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक बंधनो के प्रति विद्रोह के भावों को जन्म दे रही थी। नवयुवक समाज-व्यवस्था के प्रति विद्रोही होता जा रहा था। छायावादी युवक हिन्दू-समाज से कितना क्षुब्ध था इसका आभास भगवतीचरण वर्मा की 'हिन्दू' शीर्षक कविता से मिल सकता है।[1] द्विवेदी-युग तक साहित्य का नेतृत्व भारतीय सभ्यता

१—तुम विनाश के लक्ष्य, पतन के कलुषित जीवन;
तुम कलक के अक, अवनि के पाप पुरातन!
तुम जड़ता के दास, रुदन है सारा साहस!
अरे भूमि पर पड़े हुए हो कायर परबस!

के समर्थकों के हाथ में होने के कारण युवकों का असंतोष और विद्रोह की भावना दबी रही। अँगरेजी शिक्षा पाया हुआ नवयुवक समुदाय भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों के साहित्यकारों के व्यंग्य और परिहास का लक्ष्य बनता रहा।

छायावादी युग में साहित्य का नेतृत्व नवशिक्षित युवकों के हाथ में आजाता है। इसलिए सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न क्षोभ भी व्यक्तिवादी गीतों में व्यंजित होने लगता है। पाश्चात्य शिक्षा ने जिस नवशिक्षित वर्ग को जन्म दिया था वह आर्थिक रूप से ही शोषित नहीं था. सामाजिक जीवन मे भी उसे कोई सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नही था। श्रद्धा और विश्वास के क्षेत्र में यह वर्ग सन्देहवादी था। आध्यात्मिक और धार्मिक विश्वासों को अँगरेजी शिक्षा नष्ट कर चुकी थी। सामाजिक सुधार भी इस वर्ग की रुचि के अनुकूल नहीं थे। उदाहरणत नवशिक्षित वर्ग वैवाहिक बंधन के लिए जहाँ स्वतन्त्र प्रेम का समर्थक था वहाँ समाज में उसके लिए ग्रह-योग, गोत्र और भारी-भरकम दहेज ही उसकी सच्ची कसौटियाँ मानी जा रही थीं।

नवशिक्षित वर्ग का लालन-पालन परस्पर विरोधी दो वातावरणों के बीच में हुआ था। एक ओर उसका घरेलू वातावरण था जिसमें जाति-पाँति, छुआछूत और देवी-देवताओं की पूजा थी तथा दूसरा- शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण था जहाँ उसे मानवता और विचार-स्वातन्त्र्य की शिक्षा मिलती थी। एक मे आज्ञाकारिता,,

---

ऐ जीवन के व्यंग कहा है वह गौरव वह मान ?
मिटने वाले मिटना ही है क्या दर्शन क्या ज्ञान ?

× × ×

तुम ममत्व की मूर्ति, ब्रह्म के सदा उपासक ;
निज इच्छा की पूर्ति, वासना के तुम पातक ;
भेद-भाव के दास, धर्म के अविकल साधक ;
विधवाओं के काल और गायों के पालक—
पशुओं पर है दया, मनुष्यों पर है अत्याचार !
व्यंगमात्र है अरे पतित ! यह सब तेरा आचार !

—मधुकण (२८-२-१९३२ ई०) में संकलित।

परम्परा-प्रियता और अन्ध श्रद्धा का प्राधान्य था तो दूसरे में व्यक्तित्व के गौरव का, जो परम्परा के पालन को कूप-मण्डूकता समझता था। दोनों वातावरणों में कोई सामञ्जस्य न होने के कारण युवकों के मानसिक विकास में भी सतुलन नहीं था। [राजनीतिक पराधीनता के वातावरण में श्वास लेने के कारण आत्म-हीनता के संस्कार वैसे ही प्रबल हो रहे थे। अपने विचारों और आदर्शों के अनुकूल समाज को भी न पाकर युवक-समुदाय मानसिक द्वन्द्व, क्षोभ और असंतोष का अनुभव कर रहा था। मानसिक द्वन्द्व सदैव भावुकता, विषाद और निराशावाद को जन्म देता है। छायावादी युग में यह विषाद तीव्रतर होता गया है। युवक का विद्रोही स्वर धीरे-धीरे दबता गया है और निराशा, अवसाद, आत्म-हीनता, पराजय, नियतिवाद, वैयक्तिकता आदि निराशावादी मनोवृत्तियों का प्राबल्य होता गया है। छायावाद के अन्तिम वर्षों में व्यक्तिगत निराशा ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया है कि युवक कवि अति व्यक्तिवादी बनकर अपने अस्तित्व के विनाश की कामना करने लगा है।]

सन् १९३६ के आसपास युवकों पर मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। पंतजी ने छायावाद के मोह का परित्याग कर 'युगान्त' (१९३६ ई०), 'युगवाणी' (१९३९ ई०) और 'ग्राम्या' (१९४० ई०) में समाजवादी विचारों को कविता के माध्यम से व्यक्त किया। छायावादी युग की विभिन्न उपधाराओं पर चारों ओर से आक्रमण प्रारम्भ हो गए और १९४० ई० के पश्चात् आधुनिक काव्य-धारा व्यक्तिवाद से सामाजिक चेतना की ओर मुड़ गई। निराशावाद का युग भी प्रायः समाप्त हो गया। अस्तु। [छायावादी कवियों ने अपने गीतों में सामाजिक स्थिति का प्रायः चित्रण नहीं किया किन्तु उनके गीतों में निराशावाद की जो चीत्कार सुन पड़ती है, सामाजिक परिस्थितियाँ और उनके प्रति युवकों के असन्तोष की भावना उसका महत्त्वपूर्ण कारण हैं। तत्कालीन समाज-व्यवस्था यदि युवकों के आदर्शों के अनुकूल होती तो कदाचित् उनके गीतों में निराशा और क्षोभ उतनी उग्रता से व्यक्त न होता।]

व्यक्तिगत निराशावाद का मनोवैज्ञानिक आधार—

छायावादी युग आत्माभिव्यक्तिप्रधान युग है। आत्मवादी गीतों में निहित दार्शनिक निराशावाद—दुःखवाद, मिथ्यावाद, नियतिवाद आदि और व्यक्तिगत निराशावाद—वेदना, विषाद, आत्म-पराजय, आत्म-ग्लानि, आत्मघात आदि एक ही निराशावादी मनोवृत्ति के विभिन्न रूप हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से छायावादी युग की निराशावादी भावनाओं के लिए डॉ॰ राधाकृष्णन का अधोलिखित मत बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है।

"संसार भर के लोग, जिनका मानस रोगग्रस्त, जीवन-शक्ति क्षीण और स्नायु दुर्बल होते हैं, अपनी व्यथा का उपचार कला, ज्ञान और नैतिकता के द्वारा उपलब्ध शान्ति, मोक्ष अथवा निर्वाण में पाते हैं या फिर (उक्त उपायों से सुख-सन्तोष न मिलने पर) मदिरा, मस्ती और विक्षिप्तता की शरण लेते हैं।"[1]

रहस्यवाद, दुःखवाद, शून्यवाद, निर्वाणवाद आदि की अभिव्यंजना करनेवाले छायावादी गीतों में या तो दुःखातिरेक के कारण निर्वाण की प्रार्थना की गई है या फिर दुःख, पीड़ा आदि को साधना के रूप में स्वीकार करके दुःखात्मक अनुभूतियों के प्रति एक प्रकार की आसक्ति प्रकट की गई है।[2] यह आसक्ति पीड़ा को दुलराने के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं रखती। आध्यात्मिक विरह से व्याकुल होकर महादेवी वर्मा लिखती है—

1—'The sickly minded and the suffering of the reduced vitality and weak nerves of the world over try to heal thei sickness by either seeking repose and calm deliverance and Nirvan through art, knowledge and morality or else intox cation, ecsatasy and bewilderness'

Indian Philosophy, Vol I, Page 277,.

२—(अ) उसमें मर्म छिपा जीवन का,

एक तार अगणित कम्पन का। (आदि)

—महादेवी वर्मा—'दुःख' (रश्मि, पृ॰ ८)।

(आ) 'अमरता है जीवन का ह्रास,

मृत्यु जीवन का चरम विकास!'

—महादेवी वर्मा—'जीवन' (रश्मि, पृ॰ १६।)

परम्परा-प्रियता और अन्ध श्रद्धा का प्राधान्य था तो दूसरे मे व्यक्तित्व के गौरव का, जो परम्परा के पालन को कूप-मंडूकता समझता था। दोनो वातावरणो मे कोई सामञ्जस्य न होने के कारण युवकों के मानसिक विकास में भी सतुलन नहीं था। [राजनीतिक पराधीनता के वातावरण मे श्वास लेने के कारण आत्म-हीनता के सस्कार वैसे ही प्रवल हो रहे थे। अपने विचारो और आदर्शों के अनुकूल समाज को भी न पाकर युवक-समुदाय मानसिक द्वन्द्व, क्षोभ और असतोष का अनुभव कर रहा था। मानसिक द्वन्द्व सदैव भावुकता, विषाद और निराशावाद को जन्म देता है। छायावादी युग मे यह विषाद तीव्रतर होता गया है। युवक का विद्रोही स्वर धीरे-धीरे दवता गया है और निराशा, अवसाद, आत्म-हीनता, पराजय, नियतिवाद, वैयक्तिकता आदि निराशावादी मनोवृत्तियों का प्रावल्य होता गया है। छायावाद के अन्तिम वर्षों में व्यक्तिगत निराशा ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया है कि युवक कवि अति व्यक्तिवादी बनकर अपने अस्तित्व के विनाश की कामना करने लगा है।]

सन् १९३६ के आसपास युवको पर मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। पतजी ने छायावाद के मोह का परित्याग कर 'युगान्त' (१९३६ ई०), 'युगवाणी' (१९३९ ई०) और 'ग्राम्या' (१९४० ई०) में समाजवादी विचारो को कविता के माध्यम से व्यक्त किया। छायावादी युग की विभिन्न उपधाराओ पर चारो ओर से आक्रमण प्रारम्भ होगए और १९४० ई० के पश्चात् आधुनिक काव्य-धारा व्यक्तिवाद से सामाजिक चेतना की ओर मुड़ गई। निराशावाद का युग भी प्राय समाप्त हो गया। अस्तु। [छायावादी कवियो ने अपने गीतो मे सामाजिक स्थिति का प्राय चित्रण नही किया किन्तु उनके गीतो मे निराशावाद की जो चीत्कार सुन पड़ती है, सामाजिक परिस्थितियाँ और उनके प्रति युवको के असन्तोष की भावना उसका महत्वपूर्ण कारण है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था यदि युवको के आदर्शों के अनुकूल होती तो कदाचित् उनके गीतो मे निराशा और क्षोभ उतनी उग्रता से व्यक्त न होता।]

व्यक्तिगत निराशावाद का मनोवैज्ञानिक आधार—

[छायावादी युग आत्माभिव्यक्तिप्रधान युग है। आत्मवादी गीतो मे निहित दार्शनिक निराशावाद—दु खवाद, मिथ्यावाद, नियतिवाद आदि और व्यक्तिगत निराशावाद—वेदना, विषाद, आत्म-पराजय, आत्म-ग्लानि, आत्मघात आदि एक ही निराशावादी मनोवृत्ति के विभिन्न रूप हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से छायावादी युग की निराशावादी भावनाओं के लिए डॉ० राधाकृष्णन का अधोलिखित मत बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है।

"ससार भर के लोग, जिनका मानस रोगग्रस्त, जीवन-शक्ति क्षीण और स्नायु दुर्बल होते है, अपनी व्यथा का उपचार कला, ज्ञान और नैतिकता के द्वारा उपलब्ध शान्ति, मोक्ष अथवा निर्वाण मे पाते हैं या फिर (उक्त उपायो से सुख-सन्तोष न मिलने पर) मदिरा, मस्ती और विक्षिप्तता की शरण लेते हैं।"[1]

रहस्यवाद, दु खवाद, शून्यवाद, निर्वाणवाद आदि की अभिव्यंजना करनेवाले छायावादी गीतो मे या तो दु खातिरेक के कारण निर्वाण की प्रार्थना की गई है या फिर दु ख,पीड़ा आदि को साधना के रूप मे स्वीकार करके दु खात्मक अनुभूतियो के प्रति एक प्रकार की आसक्ति प्रकट की गई है।[2] यह आसक्ति पीड़ा को दुलराने के अतिरिक्त और कोई महत्व नहा रखती। आध्यात्मिक विरह से व्याकुल होकर महादेवी वर्मा लिखती है—

1—'The sickly minded and the suffering of the reduced vitality and weak nerves of the world over try to heal their sickness by either seeking repose and calm deliverance and Nirvan through art, knowledge and morality or else intox cation, ecsatasy and bewilderness'.

Indian Philosophy, Vol. I, Page 277.

२—(अ) उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का। (आदि)
—महादेवी वर्मा—'दुःख' (रश्मि, पृ० ८)।

(आ) 'अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास!'
—महादेवी वर्मा—'जीवन' (रश्मि, पृ० १९।)

इस असीम तम में मिलकर
मुझको पलभर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव ! आज
मेरा दीपक बुझ जाने दो ![1]

इस आत्म-निर्वाण की भावना की पृष्ठभूमि में बौद्ध-दर्शन की निर्वाण-प्राप्ति की भावना छिपी हुई प्रतीत नहीं होती। कवि अपने जीवन के भार से इतना दबा हुआ प्रतीत होता है कि वह अपने जीवन-दीपक के बुझ जाने की कामना करने लगा है। आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखने से उक्त प्रकार के गीतों में व्यक्तिगत जीवन की असफलता के अनेक तत्व सन्निहित मिलेंगे।

जिन कवियों को अध्यात्मवाद (असीमोपासना और दु:खोपासना) और कलावाद (सौन्दर्योपासना) संतोष प्रदान न कर सके, वे मदिरावाद की ओर झुके। 'चिन्ताओं का भार' भुलाने के लिए प्याले पर प्याले ढाले जाने लगे।[2] किन्तु मदिरा का प्रयोग अस्थायी मृत्यु की जड़ता प्रदान करने के अतिरिक्त इन रुग्ण हृदय के कवियों की अधिक सहायता नहीं कर सकता था। मदिरा के खुमार और स्नायु की दुर्बलता के कारण उत्पन्न विषाद को जब 'जीवन का भार' ढोनेवाले कवि अधिक देर तक वहन न कर सके तब 'धूल उड़ाकर' चलने वाले दीवाने बन गए।[3] और जब दीवानापन भी

१—'निर्वाण' (१६२६ मई), नीहार, पृ० २२।

२—अब चिन्ताओं का भार कहाँ,
अब क्रूर कुटिल संसार कहाँ।
अब कुसमय का अधिकार कहाँ,
भय-शोक भुलाने आया हूँ। (आदि)
—बच्चन—'मालिक मधुशाला'—मधुबाला, पृ० ११।

३—हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।
आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी। (आदि)
—भगवतीचरण वर्मा—प्रेम-संगीत, पृ० ७६।

हृदय का विषाद न मिटा सका तब वे चारों ओर से निराश होकर आत्म-विध्वंस की कामना करने लगे।[1] इस प्रकार से विचार करने पर छायावादी काव्य के निराशावाद को जीवन-शक्ति की क्षीणता एवं मन की अस्वस्थ अवस्था से उद्भूत माना जा सकता है। ४

आधुनिक युग में पाश्चात्य मनोविज्ञान ने साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया है। [छायावादी युग के काव्य को यदि पाश्चात्य मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा जाय तो उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ अतृप्त वासना का प्रतिफलन प्रतीत होंगी। अतृप्त वासना हृदय में दुःखात्मक अनुभूतियों—क्षोभ, उद्वेग, असंतोष, विषाद आदि—को जन्म देती है। मनुष्य जब अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों का जीवन में परितोष नहीं कर पाता तब भावुक और कल्पनाशील बन जाता है। उसकी अतृप्त वासना विभिन्न रूप धारण करके व्यक्त होने लगती है। किन्तु उन अभिव्यक्तियों में असंतोष, क्षोभ और अतृप्ति स्पष्ट झलकती रहती है। छायावादी युग की सभी मुख्य प्रवृत्तियों—अध्यात्म-वाद, प्रणय-गीत, प्रकृति-चित्रण, मदिरावाद आदि—में दुःखात्मक अनुभूतियों की ही व्यंजना हुई है। मैगडूगल आदि मनोवैज्ञानिकों के विचार से दुःखात्मक संवेग की अनुभूति मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की अतृप्ति के द्वारा उत्पन्न होती है। यह मूल प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं जिनका पूर्ण दमन किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। प्राण-रक्षा, काम, जिज्ञासा, और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ अन्य प्रवृत्तियों से

१—चलो चलें!

जीवन-पट की धुँधली लिपि को,
व्यथा-नीर से धो चलें!
इच्छा का है इधर रजत-पथ,
उधर हमारा कंटक-पथ!
जीवन की बिखरी विभूति पर,
दो आँसू हम रो चलें!
हो ही चुके पराजित तो अब,
अपनापन भी खो चलें!
स्नेही! हम भी थके हुए हैं,
चिर निद्रा में सो चलें!—अज्ञेय।

'चलो-चलें'—विशाल-भारत, (नवम्बर, १९३१ ई०)।

अधिक शक्तिशाली हैं। मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति मनुष्य के दृष्टिकोण को आशावादी बनाती है, चित्त को प्रसन्न रखती है, और उसके व्यक्तित्व का विकास करती है। किन्तु यदि मूलप्रवृत्तियाँ अपना स्वाभाविक परितोष नही कर पाती तो मनुष्य का मानस रुग्ण, जीवन-शक्ति क्षीण और चित्तवृत्ति असतुलित हो जाती है। वह अपने अन्दर एक प्रकार के असतोष का अनुभव करने लगता है जिससे मन की प्रसादात्मक स्थिति नष्ट हो जाती है। ज्यो-ज्यो यह असतोष बढता जाता है मनुष्य का स्वभाव ऐकान्तिक और काल्पनिक, चित्त चचल, असतुलित एव अर्द्ध-विक्षिप्त-सा—कभी-कभी पूर्ण विक्षिप्त भी—हो जाता है और जीवन की वास्तविकताओं की ओर उसकी दृष्टि निराशावादी बन जाती है। उसके मन में अनेक प्रकार की भावना-ग्रन्थियाँ[1] निर्मित हो जाती हैं।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इन्हीं भावना-ग्रन्थियों के द्वारा मनुष्य के अचेतन मन[2] का निर्माण होता है। भावना-ग्रन्थियो के अतिरिक्त अवचेतन मन मे अन्य अतृप्त वासनाएँ भी छिपी रहती हैं जो मनुष्य के स्वभाव मे अनेक विचित्रताएँ उत्पन्न करती हैं। मनुष्य का चेतन मन इन विचित्रता उत्पन्न करनेवाली भावना-ग्रन्थियो से अनभिज्ञ रहता है किन्तु उनके द्वारा उत्पन्न क्षोभ, असन्तोप, विपाद आदि का प्रत्यक्ष अनुभव करता रहता है। मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं के अवदमन से उत्पन्न क्षोभ मे यदि सवेग की तीव्रता अत्यधिक होती है तो मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। वह एक प्रकार की मानसिक पीड़ा[3] से बेचैन रहने लगता है और उसकी जीवन-शक्ति[4] क्षीण होकर प्राणेच्छा को धक्का पहुँचाने लगती है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु-भय से पीडित रहने लगता है। छायावादी कवियो की मानसिक अवस्था निराशावाद की इस सीमा तक बढी हुई है। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, श्रीमती तारा पाण्डेय आदि कवियो के गीतो मे कहीं-कहीं हम मृत्यु-भय का सकेत

१—भावना-ग्रन्थियाँ—इमॉशनल कमप्लेक्सेज।

२—अवचेतन मन—सबकाशस माइण्ड।

३—मानसिक पीड़ा—साइको-न्यूरोसिस।

४—जीवन-शक्ति—वाइटेलिटी।

पाते हैं। नरेन्द्र शर्मा का एक गीत इस प्रसंग में उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

उड़ा उड़ा-सा जी रहता है,
चूर चूर विश्रान्त शरीर,
दूर देश जाने को आतुर,
अकुलाए-से प्राण अधीर!

जाने क्यों मुझको घर बाहर,
सब कुछ हुआ पराया आज?
छिन जिसका आधार गया हो,
हूँ मैं ऐसी छाया आज!

खोया खोया मन रहता है,
सोया-सा सूना संसार!
कभी-कभी ऐसा लगता है,
अब टूटा जीवन का तार![1]

कवि स्वयं चाहे अपनी अधीरता का कारण न जान सके किन्तु एक मनोवैज्ञानिक उसकी मानसिक व्याधि का अनुमान लगा सकता है। कवि के अन्तःकरण में काम-वृत्ति जैसी किसी मूल प्रवृत्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित होने से क्षोभ इतना अधिक बढ़ गया है कि उसने एक ओर तो सुखात्मक अनुभूतियों को नष्ट करके जीवन को व्यर्थ बना दिया है, दूसरी ओर जीवन-शक्ति को क्षीण करके मृत्यु-भय समुपस्थित कर दिया है। अतः कवि ऐसी अवस्था को पहुँच गया है जहाँ उसे सब कुछ सूना प्रतीत होने लगा है और मृत्यु समुपस्थित दिखलाई पड़ने लगी है। नरेन्द्र का उक्त गीत काम-कुण्ठाओं के द्वारा उत्पन्न उदासीनता और भय को व्यक्त करता है अथवा उसकी मृत्यून्मुख स्थिति का कोई अन्य कारण है इस बात को निश्चयपूर्वक कहना और सिद्ध करना कठिन है। हम केवल उसका एक अनुमानित मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत कर सकते हैं, निश्चयपूर्वक कोई बात कहना तो मनोविश्लेपण-शास्त्री का ही काम है।

मानसिक जीवन में घोर निराशावादी मनःस्थिति एकाएक उत्पन्न

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ४२ (दिसम्बर, १९३८) पृ० ६५।

नहीं हो जाती, क्योंकि मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाएँ जीवन में जब अपनी तृप्ति नहीं कर पातीं तो अन्तःकरण के पास उनकी अतृप्ति से उत्पन्न क्षोभ को शान्त करने के अन्य उपाय हैं। कुछ उपायों का सम्बन्ध काव्य, कला और ज्ञान से है जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आनुषंगिक होगा।

काम-वासना, जिज्ञासा, आत्म-प्रदर्शन आदि मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न इच्छाएँ जब वास्तविक जगत् में अपनी पूर्ति नहीं कर पातीं तो मनुष्य के सामने कल्पना की एक अलकापुरी बसाती हैं। जीवन की वास्तविकता का सामना न कर सकने वाला व्यक्ति दिवा-स्वप्नवादी[1] बन जाता है। वह अपने लिए 'अनोखा एक नया संसार' चाहने लगता है जिसमें विश्राम करके वह जीवन की कटु वास्तविकता से बच सके।[1] छायावादी कवियों में जीवन से पलायन करके कल्पना के जगत् का निर्माण करने की जो भावना है वह उनकी अतृप्त वासनाओं की 'क्षतिपूर्ति[2] का ही परिणाम है।[3] अन्य साहित्यों में भी कल्पना की अतिरंजना का सम्बन्ध निराशावादी मनःस्थिति से माना गया है। उदाहरण के लिए यूनानी पौराणिक कथाओं में काव्य की अधिष्ठातृ देवी मिनर्वा का वाहन उलूक माना गया है। उलूक अपनी उन्मुक्त उड़ान अन्धकाराच्छन्न आकाश में ही भर सकता है। मिनर्वा के वाहन को यदि कल्पना का प्रतीक मान लिया जाय तो मिनर्वा को उलूकवाहिनी मानने का यही अर्थ होगा कि कवि कल्पना के आकाश में तभी उड़ सकता है जब उसका हृदय

१—दिवा-स्वप्नवादी—डे-ड्रीमिस्ट।

२—क्षतिपूर्ति—कम्पेनसेशन।

३—संघर्ष पूर्ण जीवन से कल्पना-जगत् में पलायन करने की भावना को कवि बच्चन की निम्नाङ्कित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

✓ है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ।

× × ×

मैं और, और, जग और, कहाँ का नाता,
मैं बना-बना कितने जग रोज मिटाता। (आदि)

'आत्म-परिचय'—मधुशाला, पृष्ठ ९९, १००।

निराशा के अन्धकार से आच्छादित हो। भवभूति ने कदाचित् अतृप्ति और निराशा के धुंधले क्षणों में ही "एको रस करुण एव" की घोषणा की होगी और क्या पता महादेवी के 'करुणामय' को भी 'तम के परदे में आना' इसी दृष्टि से 'भाता' हो। छायावादी युग में यह एक सामान्य विश्वास-सा बन गया है कि कविता का प्रवाह सदा व्यथित हृदय से ही निकलता है।

क्षति-पूर्ति का उपाय रोग का स्थायी उपचार नहीं। जीवन के अभावों को कल्पना के लोक में अधिक समय तक नहीं टुलराया जा सकता। कल्पना का छायालोक कुछ क्षणों के लिए ही वेदना का विस्मरण करा सकता है, स्थायी शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। क्षुब्ध मनोवृत्ति को शान्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक परिष्कार[1] का उपाय बतलाते हैं। मनोवृत्तियों का परिष्कार करने के लिए मनुष्य को अपनी विवेक बुद्धि का संस्कार करना पड़ता है। उसे अपनी दुर्बलताओं, अभावों और असफलताओं की बुद्धिपूर्वक विवेचना करके उनके मूल में विद्यमान निराशा और क्षोभ आदि संवेगों को इस प्रकार उदात्त रूप में परितृप्त करना पड़ता है कि वे अपने तथा अपने समाज के लिए लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति करा सकें। अतृप्त वासना और अवदमित इच्छाओं का परिष्कार कला, ज्ञान और आध्यात्मिक विचारों में प्रवृत्त होने से हो सकता है। छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा में काव्य, चित्रकला और संगीत की जो उज्ज्वल प्रतिभा है, व्यक्तिगत वेदना को समष्टिगत करुणा में परिवर्तित करने की जो भावना है और चिर वियुक्ता आत्मा को (ससीम व्यक्तित्व को) निस्सीम प्रियतम में लय कर देने की जो व्याकुलता है उसमें हम परिष्कार का भव्य रूप देख सकते हैं। छायावाद के सामान्य कवि अपने निराशावाद से प्रायः ऊँचे नहीं उठ पाये हैं क्योंकि वे अपनी अतृप्त वासनाओं का परिष्कार करने के लिए जीवन के किसी श्रेष्ठ आदर्श को नहीं अपना सके।

छायावादी काव्य के निराशावाद की व्याख्या फ्रायड, युग और आडलर के मनोविश्लेषण शास्त्र के आधार पर भी की जा सकती है। फ्रायड अन्य प्रवृत्तियों से काम को अधिक महत्व देता है। स्वप्न

१—परिष्कार—सब्लीमेशन।

पर किए गए अनुसधान के आधार पर उसने सिद्ध किया है कि मनुष्य की अतृप्त काम-वासनाएँ अचेतन मन में एकत्र होती रहती हैं। सुप्तावस्था मे, अर्थात् जब चेतन मन का प्रहरी जाग्रत नही रहता, दमित इच्छाएँ अचेतन मन की अन्धकारपूर्ण कोठरियो से निकलकर अपनी तृप्ति का अवसर खोजती हैं, अत स्वप्न-व्यापार अतृप्त काम-इच्छाओ की पूर्ति के प्रयत्न का ही परिणाम है। ये इच्छाएँ अपने नग्न रूप मे अपनी पूर्ति प्राय नही करती क्योंकि उन्हें चेतन मन रूपी प्रहरी का सदा भय रहता है, इसलिए स्वप्नों का रहस्य प्राय समझ मे नही आता।

छायावादी कवियों का कहना है कि वे अपने गीतों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं कर सकते क्योंकि जब उन्होंने गीत-रचना की थी तब उनकी अवस्था अर्धसुषुप्त जैसी थी।[1] उन्होंने अपने गीतो की रचना किसी विचार की अभिव्यक्ति या उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही की थी, अपितु हृदय की प्रेरणा से विवश होकर की थी।[2] कही-कही उनके गीतो की प्रतीक शैली इतनी दुरूह और दुर्बोध हो गई है कि बुद्धिपूर्वक उसका कोई अर्थ लगा सकना कठिन हो जाता है। स्वप्न जैसी विस्मृत या अर्धविस्मृत अवस्था में गीतो की रचना करना, अन्तरात्मा की आवाज से लेखनी चलाना एव दुरूह प्रतीक-पद्धति मे भावो की अभिव्यक्ति करना यही प्रकट करता है कि छायावादी

१—मै अपने ही बेसुधपन में,
लिखती हू, कुछ, कुछ लिख जाती।
—महादेवी वर्मा—यामा, पृ० १५६।

२—"जब कवि, खुली या मुँदी आँख से, वस्तु को स्पर्श करता है तब उसे एक कराह, एक आवाज सुनाई देती है। घायल-सा वह अपने उस आत्म-दर्शन पर अपना सर्वस्व चढा देता है।"—दिनकर
—रेणुका (१९३५), भूमिका पृ० १।

टिप्पणी—दिनकर के वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे गीत की रचना को हृदय की प्रेरणा से अथवा अन्तरात्मा की आवाज सुनकर करते है। हम इस आवाज को अवचेतन मन की उत्तेजना मान सकते है। अवचेतन मन का निर्माण अवदमित इच्छाओं के द्वारा ही होता है। अतः छायावादी गीतों मे यदि अतृप्त काम-वासना का प्रतिफलन माना जाय तो वह मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुचित न होगा।

कवियों के गीतों में अतृप्त वासनाओं और विषम वासना-ग्रन्थियों का प्रतिफलन हुआ है। बच्चन अपनी निराशावादी मन:स्थिति का चित्रण करते हुए स्वीकार करते हैं—

रात-रात भर श्वान भूकते।
× × ×
इस रव से निशि कितनी विह्वल,
बतला सकता हूँ मैं केवल,
इसी तरह मेरे उर में भी असंतुष्ट अरमान भूखते।[1]

कवि यदि 'असंतुष्ट अरमानों' को लिए हुए सो जाता है तो स्वप्न में देखता है—

रात का-सा था अँधेरा,
बादलों का था न डेरा,
किन्तु फिर भी चन्द्र तारों से हुआ था हीन अम्बर!
क्षीण सरिता बह रही थी,
कूल से यह कह रही थी—
शीघ्र ही मैं सूखने को भेंट ले मुझको हृदय भर!
धार के कुछ फासले पर,
सित कफन की ओढ चादर,
एक मुर्दा गा रहा था बैठ कर जलती चिता पर!
स्वप्न मेरा था भयंकर।[2]

(फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त के अनुसार सरिता संभोगेच्छा का प्रतीक है। तट का आलिंगन करना उसकी पूर्ति का प्रतीक है। नदी के सूखने का दृश्य यह सिद्ध करता है कि द्रष्टा की जीवन-शक्ति क्षीण हो गई है—उसे मृत्यु की आशंका होने लगी है। एक ओर अतृप्त काम-वासना अपनी पूर्ति के लिए व्याकुल हो रही है, दूसरी ओर प्राण-रक्षा की मूलप्रवृत्ति का आघात अचेतन मन में भय के संवेग को उत्पन्न किए हुए है। इन दोनों मूल प्रवृत्यात्मक संवेगों के संघर्ष से अचेतन मन में भीषण और विचित्र अन्तर्द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। यही अन्तर्द्वन्द्व सम्पूर्ण वातावरण को भयंकर और विचित्र बनाए हुए है, जिसकी सूचना हमको गीत की शेष पंक्तियों से मिलती है।)

१—निशा-निमन्त्रण, (१९३७—३८ ई०) पृ० ६८।
२—निशा-निमन्त्रण (१९३७-३८ ई०) गीत-संख्या, ८२, पृ० १०६।

यहाँ एक प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित होता है कि कवि की भोगेच्छाएँ, जो इतना भयकर रूप धारण किए हुए हैं, तृप्ति क्यों नही पा सकीं ? फ्रायड का मत है कि मनुष्य का चेतन मन सामाजिक और नैतिक आदर्शों से प्रभावित रहता है। मूल प्रवृत्तियो द्वारा उत्पन्न वह किसी ऐसी इच्छा की पूर्ति नही करना चाहता है जिसको वह नैतिक दृष्टि से कुत्सित और गर्हित समझता है अथवा जिसकी पूर्ति में सामाजिक आचार और नैतिक आदर्श व्यवधान उपस्थित करते हैं। सामाजिक आचार और नैतिक आदर्शों से बाधित इच्छाएँ ही अचेतन मन में प्रविष्ट होकर अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित करती हैं और सुप्तावस्था में अपनी पूर्ति का अवसर खोजती हैं। 'निशा-निमन्त्रण' (१९३७-३८ ई०) के लगभग दो वर्ष पहले बच्चन ने अपनी विवशता को व्यक्त किया था—

वेद लोकाचार प्रहरी
ताकते हर चाल मेरी,
बद्ध इस वातावरण में
क्या करे अभिलाष यौवन !
अल्पतम इच्छा यहाँ
मेरी बनी बंदी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ा-स्थल नहीं रे,
विश्व कारागार मेरा ![1]

हम देखते हैं कि इस गीत की रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात् बच्चन का हृदय अतृप्ति की वेदना से अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता है। बन्दिनी इच्छाएँ उनके मानस में एक भीषण विद्रोह उपस्थित कर देती हैं और कवि घोर निराशावाद से पीड़ित होकर करुण चीत्कार कर उठता है।

स्थान-भय से छायावादी युग के प्रत्येक कवि की रचनाओं को मनोविश्लेषण शास्त्र की कसौटी पर परखना सम्भव नही, किन्तु इतना निश्चित है कि वैसा करने से अधिकांश गीत अतृप्त वासना और अपूर्ण आकांक्षाओं का प्रतिफलन ही सिद्ध होंगे। छायावादी गीतों में विषाद, असंतोष, उदासीनता, पराजय-भावना आदि निराशावादी अनुभूतियों का जो आधिक्य है वह मूल प्रवृत्यात्मक

१—मधुकलश (१९३५-३६ ई०) पृ० ३।

इच्छाओं के दमन और अपूर्ति का परिणाम है। प्रकृति के रमणीय दृश्यों पर नारी के विभिन्न अंगों का आरोप—जैसे 'अरुणोदय की सुवर्ण आभा पर कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई लज्जा की लालिमा का, राका-रजनी की सुषमा पर सुन्दरी के उज्ज्वल हास का, सघन घन-पटल पर उन्मुक्त कुन्तल-राशि का' आदि—भी यही सिद्ध करता है कि छायावादी कवियों की निराश काम-वृत्ति, अपनी तृप्ति का साधन अशरीरी सौन्दर्य में खोज रही है। अस्तु। छायावादी गीतों के व्यक्तिगत निराशावाद का मनोवैज्ञानिक आधार राष्ट्रीय पराभव ही न होकर व्यक्तिगत जीवन की मूलप्रवृत्तियों की अतृप्ति एवं इच्छाओं का अवदमन भी है जिसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति निराशावादी भावनाओं में हुई है और जिसका परिष्कृत रूप समष्टिगत करुणा और रहस्यवादी गीतों में प्रकट हुआ है।[1]

१—व्यक्तिगत निराशावाद के मनोवैज्ञानिक आधार के लिए देखिए—

(१) मेकडूगल—एनर्जीज ऑफ मैन—अध्याय १६, 'फंकशनल डिसऑर्डर ऑफ दी रिग्रेसिव टाइप'। अध्याय २०, 'कंपलशन एण्ड ऑबसेशन'।

(२) एडलर—इनडिविजुअल साइकोलोजी, अध्याय १८, 'ड्रीम्स एण्ड ड्रीम इण्टरप्रिटेशन'। अध्याय १६, 'ऑन दी रोल ऑफ दी अनकाशस इन न्यूरोसिस'।

(३) जुंग—परसनेलिटी एण्ड प्रोबलम्स ऑफ एडजस्टमेण्ट, अध्याय २६, 'इनटीग्रेशन एण्ड बैलेन्स थ्रू रिलीजन, आर्ट एण्ड एवोकेशन'। अध्याय ३०, 'परसनेलिटी, सोसाइटी एण्ड कलचर'।

(१) रहस्यवादी गीतों में सन्निहित निराशावादी तत्व—

रहस्यवाद—

सर्वातीत परोक्ष सत्ता की आध्यात्मिक अनुभूति रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है। भारतीय अध्यात्म चिन्तन में रहस्य-भावना कोई नवीन चीज नही। भारतीय दर्शन एव अध्यात्म चिन्तन के मूलस्रोत उपनिषदो मे ऐसी अनेक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो बुद्धिवादियों के लिए रहस्य प्रतीत होंगी। आध्यात्मिक अनुभूतियो का सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूति (Intuition) से है। उसे बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता, इस बात को उपनिषदों में बार-बार दोहराया गया है। यथा—

(i) नैषा तर्केण मतिरापनेया।[1]

(ii) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।[2]

(iii) नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।[3]

(iv) यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।[4]

वह केवल मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि का ही अविषय नहीं, भौतिक शक्तियाँ भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकती—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।[5]

अध्यात्म अनुभूति के विषय में कुछ ऐसी उक्तियाँ भी कही गई हैं जो बुद्धि को असमजस में डालने वाली हैं। जैसे—

(i) यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद सः।[6]

१—कठोपनिषद् १।२।६।

२—कठोपनिषद्, १।२।२३।

३—कठोपनिषद्, २।३।१२।

४—तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, ४।१।

५—कठोपनिषद्, २।२।१५, मुण्डकोपनिषद्, २।२।१०, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।१४।

६—केनोपनिषद्, २।३।

(ii) आसीनो दूर व्रजति, शयानो याति सर्वतः ।[1]

(iii) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥[2]

ऋषियों की इस अध्यात्म चिन्ता में दुःख और निराशा को कोई स्थान नहीं। उनके लिए अध्यात्म अनुभूति अलौकिक आनन्द और शान्ति प्रदायिनी है। किन्तु मध्यकाल में यह रहस्य-भावना सूफियों की 'प्रेम की पीर' से भीग उठी और कबीर जैसे ज्ञानी सतों में अध्यात्म विरह की वेदना प्रचुरता से अभिव्यक्त होने लगी। जैसे—

(i) विरह भुवगम तन वसै, मत्र न लागै कोइ ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥[3]

(ii) इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यू जीव ।
लोही सींचो तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥[4]

(iii) कै विरहनि कूं मींच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझणं मोपैं सह्या न जाइ ॥[5]

—कबीर

(iv) अन्दर पीड़ न ऊभरै, बाहर करै पुकार ।
दादू सो क्यों करि लहै, साहिब का दीदार ॥

—दादू

(v) हे री मैं तो दरद दिवानी मेरा दरद न जानै कोइ ।

—मीरा

भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों में वैष्णव भक्ति-भावना में कवियों की आस्था अधिक थी अतः दोनों युगों में अध्यात्म विरह के रहस्यवादी गीत अधिक नहीं गाए जा सके। सन् १९१२ में 'गीताञ्जलि' के प्रकाशन ने कवियों को एक नवीन प्रेरणा दी, और वैष्णव भक्ति-भावना के स्थान पर अज्ञात और असीम प्रियतम के सयोग-वियोग के गीत गाए जाने लगे। उपनिषद् का अध्यात्मवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद,

१—कठोपनिषद्, १।२।२१।
२—ईशावास्योपनिषद्, ५।
३—कबीर-ग्रन्थावली, 'विरह को अग' साखी-संख्या, १८, पृ० ६।
४—कबीर-ग्रन्थावली, 'विरह को अग' साखी-संख्या, २३, पृ० ६।
५—कबीर-ग्रन्थावली, 'विरह को अग' साखी-संख्या, ३५, पृ० १०।

बौद्ध दर्शन का दुखवाद और सूफियों के प्रणय की मादकता को लेकर लाक्षणिक शैली और प्रतीकात्मक शब्द-विधान के द्वारा जिस गीति-काव्य की रचना हुई आधुनिक युग में उसे रहस्यवाद का नाम दिया गया।

आधुनिक रहस्यवाद का जन्म राष्ट्रीय पराभव, और प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियो के युग में हुआ था इसलिए उसमे निराशावादी विचारों और दुखात्मक अनुभूतियो का प्राधान्य है। आधुनिक कवियो के चित्त को अध्यात्मवाद की ओर प्रेरित करने में किसी रहस्यात्मक अनुभूति का हाथ उतना नही है जितना उनके व्यक्तिगत जीवन की निराशाओं, असफलताओं और असतोष का। इसलिए आधुनिक काव्य का रहस्यवाद केवल दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक साधना तक सीमित नही है, उसके माध्यम से कवियो के हृदय की वेदना को भी वाणी मिली है।

अध्यात्मवाद और भौतिक समृद्धि का विरोध शाश्वत् है। अतः रहस्यवादी कवि का जीवन और जगत् के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। जीवन और जगत् के सुखात्मक पक्ष का निषेध करना, उसके प्रति अशुभ दृष्टि रखना, प्रत्यक्ष जगत् का निषेध करके किसी परोक्ष जगत् मे पहुँचने की कामना करना, जीवन और जगत् की परिवर्तनशीलता, क्षण-भगुरता, दुखात्मकता आदि मे ही उनका (जीवन और जगत् का) सत्य निहित मानना ऐसे दार्शनिक विचार हैं, जिनको रहस्यवादी कवियो ने अपने गीतो मे प्राय व्यक्त किया है। इन्ही विचारों की अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी हुई है जिसका अध्ययन दार्शनिक निराशावाद के प्रसग में किया जायगा।

दार्शनिक निराशावाद के अतिरिक्त रहस्यवादी गीतो मे व्यक्तिगत निराशा, दुख, विषाद आदि दुखात्मक अनुभूतियों का भी चित्रण हुआ है। आत्मा को प्रेयसी और परोक्ष सत्ता को प्रियतम मानकर आत्मा का परमात्मा के प्रति उसी रूप मे प्रणय-निवेदन किया गया है जिस रूप में लौकिक प्रेयसी और प्रियतम के सयोग-वियोग का हुआ करता है। यह प्रणय-भावना आध्यात्मिक होते हुए भी काव्य मे उसी प्रकार से व्यक्त हुई है जैसे लौकिक प्रणय व्यक्त हुआ

करता है। अत व्यक्तिगत प्रणय-निराशा की विभिन्न अनुभूतियों और मनःस्थितियों को रहस्यवादी गीतों में स्थान मिला है। आध्यात्मिक प्रणय-निराशा में वेदना, पीड़ा, अश्रु-प्रवाह, आत्मविसर्जन आदि दुःखात्मक अनुभूतियों का विशेष रूप से चित्रण किया गया है।

छायावादी काव्य में रहस्यवाद प्रमुख भाव-धारा है। और इतने अधिक कवियों ने रहस्यवादी भावों की अभिव्यक्ति की है कि सब कवियों की समस्त रहस्यवादी रचनाओं की समीक्षा करना कठिन है। प्रसाद, पंत, निराला, रामनाथलाल 'सुमन', महादेवी वर्मा, और तारा पाण्डेय को रहस्यवादी गीतों का प्रतिनिधि कवि मानकर केवल इन्हीं कवियों की रचनाओं में निराशावाद का अनुशीलन कर लेना पर्याप्त होगा। प्रत्येक कवि की अभिव्यक्तियों में अपनी-अपनी विशेषताएं हैं और प्रत्येक कवि का जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण एवं जीवन की परिस्थितियाँ भी भिन्न है, इसलिए रहस्यवाद की आलोचना को निराशावादी विचारों अथवा दुःखात्मक अनुभूतियों पर आधारित न करके कवियों के अनुसार अनुशीलन करना अधिक समीचीन होगा। कुछ कवियों की रहस्यवादी रचनाओं में शेष कवियों की रचनाओं से निराशावादी विचारों को अधिक स्थान मिला है, कविक्रम से रहस्यवाद का अनुशीलन करने से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

जयशंकर 'प्रसाद'—

संघर्षपूर्ण जीवन और परिवर्तनशील जगत् के प्रति जो उपेक्षात्मक दृष्टि सामान्य अध्यात्मवादी कवियों में मिलती है वह जयशंकर 'प्रसाद' की रचनाओं में मिल सकती है। किन्तु, आध्यात्मिक चिन्तन में प्रसाद जी आनन्दवाद के उपासक थे इसलिए विरह-वेदना, निराशा, पीड़ा आदि दुःखात्मक अनुभूतियों को उन्होंने अपनी रहस्यवादी रचनाओं में प्रमुख स्थान नहीं दिया। अध्यात्म-प्रणय की अभिव्यक्ति पहले-पहल हमें 'झरना' (१९१८ ई०) में मिलती है किन्तु उसमें अध्यात्म विरह की वेदना व्यंजित नहीं हुई। 'झरना' में कवि ने अध्यात्म संयोग के गीत गाए हैं। जैसे—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी में मिल रहा;

× × ×

हृदय वीणा कर रही प्रस्तार अब
तीव्र पचम तान की उल्लास से।
वेसुरा पिक पा नहीं सकता कभी,
इस रसीली मूर्च्छना की मत्तता।[1]

कवि का हृदय अध्यात्म सयोग से आत्मविभोर हो रहा है। उसकी हृत्तन्त्री से उल्लास की मीठी रागिनी झकृत हो रही है। स्पष्ट है कि निराशावादी भावनाओं को उसके हृदय मे कोई स्थान नही। 'आँसू' (१६२५ ई०) को यदि रहस्यवादी काव्य माना जाय तो उसमें प्रणय-निराशाजन्य दु ख और वेदना की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। जैसे—

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छायी,
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज वरसने आयी।
मेरे क्रन्दन में वजती क्या वीणा ?—जो सुनते हो,
धागों से इन आँसू के निज करुणा-पट बुनते हो।
रो-रो कर सिसक-सिसक कर, कहता मैं करुण-कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते, करते जानी अनजानी॥[2] आदि।

सम्पूर्ण रचना विरह-वेदना की व्यंजना करने वाली है, अत अधिक उद्धरण देना व्यर्थ होगा। 'आँसू' मे प्रणय का जो रूप उपस्थित किया गया है उसमे उर्दू काव्य के प्रणय की तीव्रता अधिक परिलक्षित होती है। प्रसाद के 'आँसू' एक असफल प्रेमी के आँसू हैं, जिनमे पुनर्मिलन की सम्भावना का सर्वथा अभाव है। अत उनमे विरह-व्यथा अपने सम्पूर्ण वेग से व्यजित हुई है। फिर भी यह निश्चय करना कठिन है कि 'आँसू' लौकिक प्रणय की असफलता को व्यक्त करता है या अध्यात्म वियोग को।

'आँसू' की रचना के १० वर्ष पश्चात् 'लहर' (सन् १६३५) प्रकाशित होती है जिसमें कवि की स्फुट कविताएँ सकलित हैं और

१—'मिलन'—झरना, (१६१८ ई०), पृ० ३२–३३।
२—'आसू', पृ० १४–१५।

ऐतिहासिक आख्यानक भी। ऐतिहासिक आख्यानकों में 'अशोक की चिन्ता' और 'प्रलय की छाया' जीवन के दुःखात्मक पक्ष—उदासीनता, पश्चात्ताप, क्षोभ आदि—की सुन्दर व्यंजना करती हैं किन्तु उनमें रहस्यात्मक संकेतों का अभाव है अतः रहस्यवाद की समीक्षा में उनको सन्निहित नहीं किया जा सकता। स्फुट कविताओं में कवि का 'आत्म-परिचय' भी संग्रहीत है जो किसी समय 'हंस' के सम्पादक ने उससे माँगा था।

आत्मपरिचय देते समय कवि के हृदय में विगत जीवन की व्यथा-पूर्ण स्मृतियाँ आन्दोलित हो उठती हैं अतः वह अपनी 'थकी सोई हुई मौन व्यथा' को उद्बुद्ध नहीं करना चाहता। इस आत्मपरिचय में जीवन के अभाव और असफलता की कराह स्पष्ट है। अस्तु। 'लहर' के जिन गीतों में कवि ने आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है उनमें उसका झुकाव प्रणय के सुखद पक्ष की ओर विशेष रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'आँसू' का विषाद इस दश वर्ष की लम्बी अवधि में शान्त हो गया है और आनन्द की एक 'लहर' उसके हृदय में तरंगित हो उठी है। अपने सूने मानस में इस 'लहर' को उद्बुद्ध करता हुआ कवि लिखता है—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर!
करुणा की नव अँगड़ाई-सी,
मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।

× × ×

तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक!
आ चूम पुलिन के विरस अधर![1]

आनन्द की भिक्षा में निकले हुए याचक को एक दिन अपनी अन्तरात्मा में आनन्द-स्रोत बहता हुआ मिल गया और वह आश्चर्य एवं आनन्द-विभोर होकर गाने लगा—

१—लहर, पृ० १–२।

छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित-सा समझ न पाता
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन![1]

अध्यात्म अनुभूति की जहाँ प्रणय के माध्यम से अभिव्यंजना हुई है वहाँ भी दुःख और निराशा को कोई स्थान नहीं मिल सका है। जैसे—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज! उदार बनो।[2]

अथवा

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे!
जिसके कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो—
वह जीवन गीत सुना जा रे!

खिंच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे![3]

छायावादी युग में अध्यात्म प्रणय के इतने उल्लासमय गीत कवियों ने बहुत कम गाए हैं—वियोग-पीड़ाजन्य विषाद, निराशा, आत्मविसर्जन की कामना आदि दुःखात्मक अनुभूतियों को ही रहस्यवादी गीतों में प्रायः अभिव्यक्त किया गया है। इस आनन्दोल्लास का एक कारण यह हो सकता है कि 'लहर' के प्रकाशन के समय तक प्रसाद जी आनन्दवाद की ओर झुक चुके थे। 'लहर' के एक वर्ष पश्चात् प्रकाशित होनेवाले महाकाव्य 'कामायनी' (१६३६ ई०) का अवसान कवि ने शैव आनन्दवाद में ही किया है।

१—लहर, पृ० १५। २—लहर, पृ० ४।
३—लहर, पृ० २७।

आनन्द का स्रोत आत्मा को ही मान लेने पर, जैसा कि 'लहर' के कुछ रहस्यवादी गीतों से व्यक्त होता है, द्वैतजन्य विरह-व्यथा की दुःखानुभूति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इस कारण भी कदाचित् 'लहर' में संग्रहीत रहस्यवादी गीतों में दुःखात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं हुई। कवि ने प्रियतम और प्रेयसी के माध्यम से भी जहाँ-कहीं रहस्यात्मक भावनाओं को व्यक्त किया है वहाँ भी उसका मन वियोग-व्यथा में उतना नहीं रमा जितना सयोग-सुख में। पीड़ा, वेदना आदि दुःखात्मक अनुभूतियों से प्रसाद ने अपने 'प्रियतम' को खोजने की चेष्टा नहीं की।

रहस्यवादी भावनाओं की प्रशस्त अभिव्यंजना करनेवाली रचना प्रसाद की 'कामायनी' (१९३६ ई०) है। 'कामायनी' के रहस्यवाद के मूल में शैव सामरस्यवाद—इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों के समन्वय के द्वारा अद्वैत आनन्द की प्राप्ति—की दार्शनिक विचार-धारा का प्रतिपादन किया गया है अतः रहस्यवादी उद्भावना में निराशावादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं हुई। मनु जबतक 'अपूर्ण अहंता' के उपासक बने रहते हैं तबतक उन्हें संघर्ष और पराजय का सामना करना पड़ता है। श्रद्धारहित निर्बन्ध कामोपासना, अहं-केन्द्रित चेतना एवं बुद्धिवाद (इड़ा के प्रतीक द्वारा व्यंजित) उनको शान्ति प्रदान नहीं कर पाते क्योंकि वे जीवन के अपूर्ण आदर्श हैं। सामंजस्यहीन दृष्टि के कारण मनु को पग-पग पर असफलता और अशान्ति का सामना करना पड़ता है। मनु अपने अहं-भाव और काम-वासना से प्रेरित होकर, श्रद्धा (सात्विक वृत्ति) का परित्याग करके जीवन में शान्ति और आनन्द की खोज में निकल पड़ते हैं तो उनको जीवन अन्धकारपूर्ण एवं लक्ष्यविहीन-सा प्रतीत होता है—

१— किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
× × ×
अस्तित्व चिरंतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर ?

२— जीवन निशीथ के अन्धकार !
तू नील तुहिन जल-निधि बन कर फैला है कितना वार-पार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार

१—कामायनी, पृ० १६५। २—कामायनी, पृ० १६७।

'अभिलाषा के धूम' और 'अपूर्ण लालसा की चिनगारी' को शान्त करने के लिए मनु इड़ा (बुद्धिवाद) का आश्रय लेते हैं और भौतिक समृद्धि में सलग्न हो जाते हैं। यह बुद्धिवाद उनको भौतिक साधनों से सम्पन्न बनाता है साथ-ही-साथ भेद-बुद्धि और अधिकार-भावना को उद्दीप्त कर देता है। फलत मनु को एक ओर देव-प्रकोप और दूसरी ओर प्रजा के विद्रोह का सामना करना पड़ता है मनु इस सघर्ष से पराजित होते हैं। पराजय की दुखद अनुभूति मनुष्य के हृदय मे निर्वेद और पलायन-वृत्ति को उद्दीप्त करती है और मनु उसी के वशीभूत होकर सोचने लगते हैं—

सोच रहे थे, "जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग रहे मनु ! इन्द्रजाल से,
कितनी व्यथा न झेली है ?"[1]

आत्म-पराजयजन्य निर्वेद एव आत्मग्लानि से प्रेरित होकर मनु सचमुच जीवन से भाग खड़े होते हैं, किन्तु श्रद्धा (सात्विक वृत्ति) उनका परित्याग नही करती। मनुष्य के हृदय में सात्विक वृत्ति और आसुरी भावनाओ का निरन्तर सघर्ष चलता रहता है। मनुष्य अपनी दुर्बलताओ के वशीभूत होकर सात्विक वृत्ति के द्वारा उत्पन्न सत् भावनाओ की उपेक्षा करता है किन्तु जब उसे अपनी राजसी प्रवृत्तियों के कारण असफलता, दुख और निराशा का सामना करना पड़ता है तो पश्चात्ताप के रूप में वह पुन सात्विक वृत्ति का आश्रय खोजता है। सघर्ष और पराजय मनु के अहकार को चूर्ण कर देती है। उनको श्रद्धा के महत्व का वास्तविक अनुभव पराजय के पश्चात् ही होता है—

"तुम देवि ! आह कितनी उदार,
हे सर्वमगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याण मयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती,
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी सा ही ! वह लघु विचार।"[2]

१—कामायनी, पृ० २३७। २—कामायनी, पृ० २५७।

श्रद्धा के महत्व की स्वीकृति के पश्चात् मनु के हृदय का अन्धकार नष्ट हो जाता है और उन्हें आनन्द-लोक का साक्षात्कार होता है। इस आनन्द-लोक का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है जिसका एक अंश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वाङ्ग ज्योतिमय था विशाल;
अन्तर्निदान ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

× × ×

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप पाप का कर विनाश—
नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर,
उस कान्ति सिन्धु में घुल मिल कर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर;
हीरक गिरि पर विद्युत विलास,
उल्लसित महाहिम धवल हास।[1]

मनु इस आनन्द की स्थायी अनुभूति चाहते है अत. श्रद्धा से अनुनय करते हैं—

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश!"[2]

और श्रद्धा मनु का हाथ पकड़कर किसी 'रहस्य'-लोक की ओर ले जाती है जहाँ इच्छा, कर्म और ज्ञान के तीन ज्योति-गोलक दिखलाई

१—कामायनी, पृ० २६०, २६२।
२—कामायनी, पृ० २६२।

पड़ते हैं। श्रद्धा की प्रेरणा से तीनों गोलक एकाकार हो जाते हैं और मनु उस समन्वय से उत्पन्न आनन्द मे तन्मय हो जाते हैं—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे ;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।[1]

इस प्रकार 'कामायिनी' में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय के द्वारा प्रसाद जी ने अपने नायक मनु को रहस्यमय आनन्दलोक में पहुँचाया है। अपनी आध्यात्मिक चिन्ता में प्रसादजी ने आनन्दवाद का कितना ही समर्थन और प्रतिपादन क्यों न किया हो, जहाँ तक जीवन-सघर्ष और कर्तव्य-क्षेत्र का प्रश्न है वे युग में व्याप्त निराशावाद से अधिक ऊँचे नही उठ पाये हैं। 'कामायिनी' महाकाव्य छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ रचना और हिन्दी-साहित्य को कवि की अन्तिम भेट है। और इसी रचना में कवि ने जीवन-सघर्ष से पलायन की भावना, नियतिवाद और कर्म-क्षेत्र के प्रति निराशावादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। उसको भावना का रूप जितना प्रिय है उतना कर्मपरण का नही। इस तथ्य की समीचीनता 'कामायनी' के कथानक से स्पष्ट हो जाती है।

कथानक के प्रारम्भ में अपने राष्ट्रीय पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस से कातर मनु ने अपनी निराशावादी मन स्थिति श्रद्धा के सम्मुख व्यक्त की थी—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह ॥"[2]

तो श्रद्धा ने मनु की निराशा और कातरता पर केवल समवेदना ही प्रकट नही की थी अपितु उन्हे कर्म-क्षेत्र मे निरत होने की आशावादी प्रेरणा भी दी थी। मनु के हृदय मे आशा और उत्साह का सचार करती हुई श्रद्धा ने समझाया था—

१—कामायनी, पृ० २८१।
२—पृ० ६२, कामायनी, श्रद्धा-खण्ड।

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
शक्तिशाली हो, विजयी बनो
विश्व में गूँज रहा जय गान ॥"[1] (आदि)

शक्तिशाली होकर विजयी बनने की प्रेरणा कवि का युग-सन्देश है। राष्ट्रीय पराधीनता और स्वतन्त्रता-संग्राम की विफलता के युग में इस संदेश का विशेष मूल्य है। किन्तु कवि ने इस युग-सदेश का निर्वाह स्वयं अपने महाकाव्य में नहीं किया। संघर्ष से पराजित मनु कर्म-क्षेत्र से पलायन करके किसी रहस्यात्मक लोक में आनन्द की खोज कर सके हैं, संघर्षमय सामाजिक जीवन की ओर पुनः मुख नहीं मोड़ पाये। श्रद्धा उनको रहस्यात्मक आनन्द-लोक में पहुँचाने में सहायता कर सकी किन्तु पृथ्वी के कठोर कर्म-क्षेत्र की ओर उन्मुख नहीं कर सकी।

जिस रहस्य लोक में प्रसादजी ने इच्छा, कर्म और ज्ञान तीनों लोकों का पृथक् रूप से चित्रण किया है, उसमें कवि ने कर्म-लोक को अत्यन्त भीषण रूप में उपस्थित किया है।[2] इस लोक में उसे व्याकुल 'एषणाएँ', 'श्रममय कोलाहल', पीड़ा और विकरालता दिखलाई पड़ी है।[3] मनु स्वयं उस भीषणता को देखकर अधीर हो जाते हैं।[4] संघर्ष से पलायन और कर्म से उदासीनता आदि मनोवृत्तियाँ इस बात की स्पष्ट द्योतक हैं कि कवि का जीवन और जगत् के प्रति आशावादी

१—कामायनी, पृ० ६५, (श्रद्धा खण्ड)।

२—"मनु यह श्यामल कर्म लोक है धुँधला कुछ कुछ अन्धकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूम धार सा।
कर्म-चक्र सा घूम रहा है यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है कोई व्याकुल नयी एषणा।"
—कामायनी, पृ० २७४ (रहस्य-खण्ड)।

३—"श्रममय कोलाहल, पीड़नमय विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।"
—कामायनी, पृ० २७४ (रहस्य-खण्ड)।

४—"बस ! अब और न इसे दिखा तू यह अति भीषण कर्म जगत है।"
—कामायनी, पृ० २७७ (रहस्य-खण्ड)।

दृष्टिकोण नहीं है। यदि श्रद्धा को भाववृत्ति और इड़ा को कर्मवृत्ति का रूपक मान लिया जाय—जैसा कि महाकाव्य के 'आमुख' में कवि ने स्वय स्वीकार किया है—तो भी यह स्पष्ट है कि कवि ने श्रद्धा को जितने उज्ज्वल रूप में चित्रित किया है उतने उज्ज्वल रूप मे इड़ा को नही कर सका।

कर्म-लोक का सूत्र-धार कवि ने नियति जैसी अन्ध शक्ति को माना है,[1] जो अकर्मण्यतावाद का द्योतक है। नियतिवाद में विश्वास भी कवि को कर्मविषयक निराशावाद के अधिक समीप पहुँचा देता है। अस्तु। जहाँ तक जीवन और जगत् का सम्बन्ध है प्रसाद की दृष्टि उनके प्रति अधिक आशावादी नही कही जा सकती किन्तु अपने अध्यात्म चिन्तन में वह आनन्दवादी है। उनके अध्यात्म गीतों में कातर प्रार्थनाएँ, साधना की असफलताओ पर रुदन, दु ख, पीड़ा, निराशा आदि दु खात्मक अनुभूतियों को प्राय कोई स्थान नही मिल सका है।

अपने 'रहस्यवाद'[2] शीर्षक अनुसधानात्मक निबन्ध में कवि ने रहस्यवाद का सम्बन्ध दु खवाद से न मानकर 'सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव' की साधना प्रणाली से माना है, जिसका उद्गम उसकी सम्मति से वैदिक ऋचाओं में आत्मवादी उपासना-पद्धति से हुआ था। आगमो के समय में निगमो के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा शैव और शाक्त सम्प्रदाय की अद्वैतवादी सामरस्य साधना-पद्धति में हुई। पौराणिक काल मे कृष्णावतार के ब्रजलीला-पक्ष में उसकी आंशिक अभिव्यक्ति हुई। सिद्ध-काल में, जो हिन्दी का शैशव काल था, इस साधना को गुप्त और रहस्यमय बनाया गया। इसके पश्चात् देश पर विदेशी आक्रमण हुए, आर्य-जाति का राष्ट्रीय पराभव आरम्भ हुआ, फलत हिन्दू-समाज के चित्त को जीवन और जगत् के निषेधात्मक विचार विशेष रूप से आकृष्ट करने लगे। प्रसादजी का विचार था कि

१—नियति चलाती कर्म चक्र यह तृष्णा जनित ममत्व वासना,
पाणि-पादमय पचभूत की यहाँ हो रही है उपासना।
कामायनी, पृ० २७५ (रहस्य खण्ड)।

२—देखिए—'रहस्यवाद'—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६–६६।

वर्तमान रहस्यवाद में निराशा और वेदना के जो तत्व हैं वह 'युग की वेदना' के अनुकूल हैं। इतने विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी के रहस्यवाद में दुःखात्मक अनुभूतियों को क्यों वह स्थान नहीं मिल सका जो महादेवी वर्मा आदि अन्य रहस्यवादी कवियों की रहस्यवादी रचनाओं में पाया जाता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निराला का रहस्यवाद एक ओर वेदान्त के अद्वैतवाद से प्रभावित है दूसरी ओर बंगला-साहित्य के दुःखवाद से। अपनी रचनाओं पर रवीन्द्र का प्रभाव निराला ने स्वयं स्वीकार किया है। कवि ने जहाँ वेदान्त के अद्वैतवाद से प्रेरणा ग्रहण की है वहाँ वेदना, पीड़ा, कातरता आदि निराशावादी भावनाओं को कोई स्थान नहीं मिल सका, जैसे—'तुम और मैं'[1] शीर्षक कविता में। किन्तु जहाँ उसने बंगला-साहित्य की रहस्यवादी पद्धति का अनुसरण किया है वहाँ निराशावादी भावनाओं की अवश्य अभिव्यक्ति हुई है। केवल एक उद्धरण पर्याप्त होगा। अपने जीवन से 'हताश' होकर कवि लिखता है—

१— तुम और मैं

तुम तुङ्ग-हिमालय-शृङ्ग और मैं चञ्चल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल-हृदय-उच्छ्वास और मैं कान्त-कामिनी-कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति, तुम सुरापान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति। तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान, तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान। तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप, मैं शुचिता सरल समृद्धि।
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरञ्जिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण और मैं काया, तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म।
मैं मनोमोहिनी माया।

—परिमल, पृष्ठ ८४–८५।

जीवन चिर कालिक क्रन्दन।
मेरा अन्तर वज्र-कठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अन्ध
तम-निशि न कभी हो भोर।

× × ×

हो मेरी प्रार्थना विफल,
हृदय-कमल के जितने दल
मुरझायें जीवन हो म्लान,
शून्य सृष्टि में मेरे प्राण
प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की,
मेरा जग हो अन्तर्धान।[1]

इस प्रकार की हताशा निराला की मानसिक स्थिति की स्थायी अनुभूति नहीं। दूसरे ही क्षण कवि को अपनी अन्तरात्मा से एक 'ध्वनि' सुनाई पड़ती है और वह गाने लगता है—

अभी न होगा मेरा अन्त।
मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर।

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,

द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
हैं मेरे वे जहाँ अनन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।[2]

अस्तु। निराला की रहस्यवादी रचनाओं में निराशा और दुःख को कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका है। कवि का उद्धत अहंकार उसकी रचनाओं को एकदम निराशावादी बनने से रोक देता है। किन्तु जगत् और जीवन के प्रति अध्यात्मवादी कवियों की जो उदासीनतापूर्ण दृष्टि रही है, आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करनेवाली निराला की रचनाएँ भी उसका अपवाद नहीं।

१—'हताश' (१९२२ ई०) अपरा, पृ० ७४।
२—'ध्वनि' (१९२२ ई०) अपरा, पृ० १२५-१२६।

सुमित्रानन्दन पंत—

पंत जी प्रकृति-रहस्यवादी कवि है। और प्रकृति-चित्रण मे आपका विशेष झुकाव प्रकृति के उज्ज्वल पक्ष की ओर रहा है। आपको जगमगाते 'नक्षत्रों' से कोई बुलाने का 'मौन निमन्त्रण' देता है, 'तड़ित की तपक' मे 'मौन इङ्गित करता' है, 'कुसुम के सौरभ के मिस कोई सदेशा भेजता है' और 'लहरों से कर उठाकर न जाने कौन बुलाता है'।[1] पीड़ा, वेदना, दु:ख आदि निराशावादी अनुभूतियो का अस्तित्व पत जी के प्रकृति-रहस्यवाद में नही मिलता। इसका कारण, जैसा कि पत जी ने स्वयं स्वीकार किया है, यह है कि आपने व्यक्तिगत 'सुख-दु:ख अथवा मानसिक संघर्ष को अपनी रचनाओं मे वाणी नहीं दी' क्योकि वह आपके स्वभाव के विरुद्ध था।[2] अत जीवन और जगत् के प्रति निराशावादी दार्शनिक विचार भी पत की रहस्यवादी रचनाओ मे नहीं पाये जाते।

रामनाथलाल 'सुमन'—

सुमन का रहस्यवाद आध्यात्मिक प्रणय की वेदना, पीड़ा और आत्म-विसर्जन की दु:खात्मक अनुभूतियो तक परिसीमित है।

१—'मौन निमन्त्रण' (नवम्बर, १९२३) पल्लव, पृ० ३१।

२—अपनी रचनाओं का पर्यालोचन करते हुए पंत जी लिखते हैं—"यह सच है कि मैंने व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।" आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ६।

टिप्पणी—पत जी के वक्तव्य का हम यही अर्थ लगा सकते है कि वे भी उसी मानसिक संघर्ष का अनुभव कर रहे थे जो परिस्थितियों की विषमता के परिणामस्वरूप प्रत्येक छायावादी कवि के बाँटे पड़ा था। किन्तु कवि ने अपनी भावनाओं का परिष्कार करके उन्हे सामाजिक हित की ओर उन्मुख किया। हमें ध्यान रखना चाहिये कि छाया-वादी कवियों में से व्यक्तिगत भावुकता के मोह का परित्याग करके सुमित्रानन्द पत ने ही समष्टिवादी भावनाओं को सबसे पहले वाणी दी थी।

कही-कही भक्तिपरक कातर प्रार्थनाएँ भी व्यक्त की गई हैं। जीवन और जगत् के प्रति कवि की दृष्टि निराशावादी ही है किन्तु उसकी रचनाओं में दुःखात्मक अनुभूतियों को जो स्थान प्राप्त है वह दार्शनिक विचारों को नही। दुःखात्मक अनुभूतियाँ कवि को विशेष प्रिय हैं। वह अपनी हृदय-वीणा की करुण झंकार से अपनी आत्मा, प्रियतम और सम्पूर्ण विश्व को रुलाना चाहता है—

विपची, रोकर आज रुलादे।
मैं रोदूँ, वे रोदें, जग को आँसू से नहलादे।[1]

अपने रुदन से विश्व को आप्लावित करने की भावना का आधार कोई दार्शनिक सिद्धान्त अथवा रहस्यात्मक अनुभूति नही प्रतीत होती। कवि के व्यक्तिगत जीवन का दुःख ही करुण कन्द्रन करने की कामना कर रहा है। कहीं-कही सुमन की प्रार्थनाओं में एक पथभ्रष्ट और पीड़ा के बोझ से लदी हुई अन्तरात्मा की पुकार सुनाई पड़ती है। जीवन से निराश होकर परमात्मा से मार्ग प्रदर्शित करने की प्रार्थना करता हुआ कवि लिखता है—

जीवन तरी तीर पर लादे।
करुणाकर, करुणाकर मुझ पर आ दो डाँड़ लगादे।

× × ×

हूँ अदृश्य बोझों की पीड़ा से मैं तो विक्षुब्ध,
जीवन का वह सत्य आज है सीमा के उस पार,
किस अभाव में छिपा हुआ है पर्दा आज हटादे।[2]

अध्यात्म विरह की अभिव्यक्ति सुमन ने अपने अधिकांश गीतो में की है। आत्म-विसर्जन की कामना, जो जीवन और जगत् से निराशा की पराकाष्ठा है, अधोलिखित गीत में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है—

कह रहे हैं यह आकुल प्राण,
बिखरने में ही है निर्माण।
हमारे जीवन के भगवान!
जरा कर दो दीपक-निर्वाण॥[3]

१—'उँगली की अन्तिम चोट!'—विपची, पृ० १।
२—'विनयगीत'— विपची, पृ० २।
३—'निर्वाण'—विपची, पृ० ४५।

जीवन-लीला समाप्त कर देने की यह कामना व्यक्तिगत जीवन की चरम निराशा को व्यक्त करती है। बिखर जाने के लिए प्राणों की आकुलता किसी आध्यात्मिक अनुभूति को उतना व्यक्त नहीं करती जितना जीवन से असन्तोष और निराशा को।

महादेवी वर्मा--

आधुनिक युग मे रहस्यवादी गीतो की सर्वश्रेष्ठ रचना महादेवी वर्मा ने की है। प्रेम-दिवानी मीरा जिस प्रकार अपने गिरधर गोपाल के प्रणय मे बेचैन रहा करती थी, महादेवी वर्मा की चिर वियुक्ता आत्मा अपने 'चिर सुन्दर' प्रियतम के वियोग में उसी प्रकार छटपटाती हुई प्रतीत होती है। महादेवी वर्मा की समस्त रचनाओ मे आँसुओं की आर्द्रता, उच्छ्वासों का ताप और वेदना की ज्वाला घुली हुई है। अध्यात्मवादी गीतो की रचना कवयित्री ने वेदना और दुख की भित्ति पर की है। महादेवी के गीतो का भावसाम्य हम कबीर जैसे सतो के गीतो मे पा सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने सयोग और वियोग दोनो पक्षो का चित्रण किया है जबकि महादेवी के गीत केवल वियोग-वेदना को व्यक्त करते हैं, संयोग-सुख को नहीं। एक-दो उदाहरणों से यह अन्तर स्पष्ट हो सकेगा।

के विरहनि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सह्या न जाइ॥[१]

—कबीर

नहीं अब गाया जाता देव! थकी अगुली, हैं ढीले तार,
विश्व-वीणा में अपनी आज मिला लो यह अस्फुट झंकार![२]

—महादेवी

वियोग-व्यथा का अवसान आत्म-विसर्जन मे होता है जिसकी कामना कबीर और महादेवी समान रूप से व्यक्त करती हैं। किन्तु संयोग-सुख का जो प्रत्यक्ष अनुभव कबीर कर सके हैं, महादेवी नहीं। कबीर ने अपने 'प्रियतम' के संयोग-सुख का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है। जैसे—

१—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०।

२—यामा, पृ० १।

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।[1]

अथवा

बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये
भाग बड़े घरि बैठे आये।
मन्दिर माँहि भया उजियारा
ले सूती अपना पीव पियारा।[2]

—कबीर

किन्तु महादेवी वर्मा केवल इतना कह सकी हैं—

जो तुम आ जाते एक बार!
हँस उठते पल में आर्द्र नयन धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त लुट जाता चिर संचित विराग।
जो तुम आ जाते एक बार![3]

किन्तु न प्रियतम कभी आ सके और न कवि के 'आर्द्र-नयन' कभी हँस पाए। आँसुओं की यह आर्द्रता महादेवी के गीतों में एक व्यापक अनुभूति है। कवयित्री के गीतों में कितना हाथ दार्शनिक चिन्तन का है और कितना व्यक्तिगत परिस्थितियों का यह निर्णय करना कठिन है। यदि उनके दुःखवाद का सम्बन्ध दार्शनिक चिन्तन से जोड़ा जाय—जैसा कि स्वयं कवि ने स्वीकार किया है[4]—तो उसमें बौद्ध दर्शन के दुःखवाद और क्षणवाद के अनेक तत्व सन्निहित हैं और यदि व्यक्तिगत जीवन के अभावों की झाँकी, जिसे कवयित्री

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।

२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।

३—यामा, पृ० ६५।

४—" वचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति मेरा भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझनेवाले दर्शन से मेरा असमय में परिचय हो गया था।"—'रश्मि' (१९३२ ई०) भूमिका, यामा, पृ० १२।

स्वीकार नहीं करतीं,[1] देखा जाय तो स्त्री-सुलभ विरह-वेदना और जीवन की शून्यता आदि अनुभूतियाँ प्रायः सभी गीतों में अभिव्यक्त हैं। वस्तुतः दार्शनिक निराशावाद और अनुभूत्यात्मक निराशावाद की इतनी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति महादेवी वर्मा के गीतों में हुई है कि उसमें दोनों तत्वों का विश्लेषण करना संभव प्रतीत नहीं होता। कवि का व्यक्तिगत निराशावाद आत्मविसर्जन की भावना तक बढ़ा हुआ है तथा दार्शनिक निराशावाद जीवन और जगत् की क्षण-भंगुरता एवं दुःखात्मकता की अनुभूति तक। आपके गीतों में अभिव्यक्त निराशावादी तत्वों का अध्ययन *(i)* प्रणयजन्य वेदना, *(ii)* दुःखवाद और *(iii)* क्षणवाद शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(i) प्रणयजन्य वेदना—

आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने ससीम आत्मा और निस्सीम परमात्मा में प्रेयसी और प्रियतम का सम्बन्ध प्रायः स्थापित किया है। आत्मा और परमात्मा में प्रेयसी-प्रियतम का सम्बन्ध सबसे पहले सूफी कवियों ने स्थापित किया था जिसका प्रभाव हम कबीर जैसे ज्ञानमार्गी और मीरा जैसी भक्तिमार्गी कवियों में पाते हैं। दूसरे शब्दों में, आधुनिक रहस्यवादी कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए मध्यकालीन संत और भक्त कवियों से प्रतीक पद्धति उधार ली है। अतः उनके आध्यात्मिक प्रणय में अभिलाषा, चिन्ता, मादकता आदि उन सभी अनुभूतियों का चित्रण हुआ है जिनका चित्रण लौकिक प्रणय में हुआ करता है। प्रणय की अनुभूति कवयित्री को किशोरावस्था में ही यौवन की पूर्ण मादकता के साथ हुई थी—

१—"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है; उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगती है।"—रश्मि (१९३२ ई०) की भूमिका, यामा, पृ० १२।

कन-कन में जब छायी थी,
वह नव यौवन की लाली
मैं निर्धन तब आई ले
सपनों से भर कर डाली।
इन ललचायी पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का ![1]

कवयित्री ने 'उस चितवन' के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति की ओर संकेत किया है किन्तु गीत लौकिक प्रणय की भी उतनी ही स्पष्टता के साथ व्यजना करता है। अत उसकी प्रणय-निराशा में कितना हाथ आध्यात्मिक अनुभूति का है और कितना जीवन की अतृप्त प्रणय-कामना का इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि कवि ने प्रणय के केवल वियोग-पक्ष का ही चित्रण किया है, जिसमें दु खात्मक और निराशावादी अनुभूतियों का प्राधान्य है, सयोग-पक्ष के सुखात्मक गीत वह नही गा सकी। इन गीतों को यदि आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्रों की कसौटी पर परखा जाय तो उनकी निराशा, दु ख, अतृप्ति आदि का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन की अवदमित इच्छाओं से स्थापित होगा। और विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से विचार किया जाय तो महादेवी वर्मा के गीतों में चिर वियुक्ता आत्मा का अपने आराध्य के वियोग में करुण आत्म-निवेदन सुनाई पड़ेगा। और कवि के गीतों में यदि युग की पुकार सुनी जाय तो उसके करुणा-विगलित अश्रु-प्रवाह में पति-वियुक्ता एव वात्सल्य-वचिता हिन्दू-रमणी के जीवन का भार, व्यथा और निराशाजन्य आत्म-विर्सजन की कामना ध्वनित-सी प्रतीत होगी।

जीवन का अवसाद, सूनापन, निराशा आदि दु खात्मक भावनाएँ अधोलिखित पक्तियो में मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुई हैं—

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली

[1]—'मेरा राज्य', (१६२८ जुलाई) नीहार, पृ० १४।

प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली;
× × ×
चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा ;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा ॥[1]

इस 'सूनेपन' और 'दीपक के बुझ' जाने में बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और निर्वाणवाद की छाया भी स्वीकार की जा सकती है। आत्म-विसर्जन की कामना जीवन के अवसाद और निराशा की पराकाष्ठा है और महादेवी वर्मा ने उसे स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। यथा—

तरी को लेजाओ मँझधार
डूबकर हो जाओगे पार
विसर्जन ही है कर्णाधार
वही पहुचा देगा उस पार ।[2]

कवयित्री ने जिस वातावरण मे 'डूबकर पार हो जाने' की 'तान' सुनी है वह अत्यन्त भीषण और निराशावादी है ।[3] उसे प्रतीत हो रहा है कि उसके चारों ओर 'घोर तम छाया' हुआ है, 'मरुत' इतने वेग से चल रहा है कि 'पर्वतमूल' तक हिले जा रहे हैं, समुद्र भीषण गर्जन कर रहा है, उसकी गगनचुम्बी तरङ्गें नाविक की 'छोटी-सी तरी का उपहास' कर रही हैं; पतवार उसके हाथ से छूट चुका है, 'नौका ग्रसित' करने के लिए 'जल-चर' इधर-उधर ताक लगा रहे हैं, आकाश के नक्षत्रों का प्रकाश बुझ चुका है और नाविक का साहस छूट चुका है। इस वातावरण में उसको आत्म-विसर्जन की अज्ञात 'तान' सुनाई पड़ी है। गीत के वातावरण को कवि के अवचेतन मन

१—यामा, पृ० १० ।

२—'उस पार' (१९२४ जुलाई) नीहार पृ० ३० ।

३—गीत का वातावरण—

घोर तम छाया चारों ओर घटायें घिर आईं घनघोर;
वेग मारुत का है प्रतिकूल हिले जाते हैं पर्वतमूल;
गरजता सागर बारम्बार, कौन पहुचा देगा उस पार ?

की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मानी जाय तो यही सिद्ध होगा कि उसका हृदय मानसिक सघर्ष की भीषणता से विचलित होकर आत्म-विध्वस की कामना करने लगा है और यदि यह भीषण वातावरण अन्तरनुभूति की ओर सकेत करता है तो इसका अभिप्राय यही होगा कि आत्मा मे ज्ञानालोक उस समय प्रस्फुटित होता है जब साधक ससार के सब साधनो का परित्याग करके परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है—जब तक भौतिक सुखो की कामना हृदय में शेष है, आध्यात्मिक सन्देश सुनाई नही पड़ सकता। किन्तु यदि तूफान, अन्धकार आदि प्रतीक सामाजिक परिस्थितियों की विषमता और जटिलता को व्यक्त करते हैं तो कवि के हृदय का उनके प्रति विवश और निराश आत्म-समर्पण है। २० वी शताब्दी के बुद्धिवादी युग में हम किसी कवि से रहस्यात्मक अनुभूतियो की आशा अधिक नही करते। अस्तु।

अध्यात्म पथ के पथिक के रूप में महादेवी वर्मा के गीतों का विकास निराशावाद से आशावाद की ओर हुआ है। कवि की आत्मा अपनी सुधि-बुधि खोकर प्रियतम की डगर में अग्रसर होती गई है और जैसे-जैसे अध्यात्म पथ पार होता गया है वैसे-वैसे उसके पगों में अपने गतव्य तक पहुँचने की दृढ़ता आती गई है। पहले-पहल जब उसने 'अनन्त पथ' की ओर पग बढ़ाये थे, उसके हृदय में शका थी और साहस का अभाव था जिसकी अभिव्यक्ति हम 'नीहार' (१९३० ई०) की इन पक्तियों से पाते हैं—

तरङ्गे उठीं पर्वताकार भयकर करतीं हाहाकार;
अरे उनके फेनिल उच्छ्वास तरी का करते हैं उपहास,
हाथ से छूट गई पतवार, कौन पहुँचा देगा उस पार ?

ग्रास करने तरिणी, स्वच्छन्द घूमते फिरते जलचर वृन्द;
देखकर काला सिन्धु अनन्त होगया हा साहस का अन्त !
तरङ्गें हैं उत्ताल अपार, कौन पहुँचा देगा उस पार ?

बुझ गया वह नक्षत्र प्रकाश चमकती जिसमें मेरी आश;
रैन बोली सज कृष्ण दुकूल विसर्जन करो मनोरथ फूल;
न लाये कोई कर्णाधार, कौन पहुँचा देगा उस पार ?

नीहार, पृ० २८-२९।

हाथ में लेकर जर्जर बीन,
इन्हीं बिखरे तारों को जोड़,
लिए कैसे पीड़ा का भार
देव आऊँ अनन्त की ओर ?[1]

किन्तु 'दीपशिखा' (१६४२ ई०) तक पहुँचते-पहुँचते यह आत्म-सन्देह मिट चुका है। अब वह दृढ़तापूर्वक कह सकती है—

पंथ रहने दो अपरचित
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे ![2]

दीर्घ साधना में 'मोम से तन को घुलाकर' और 'दीप से मन को जलाकर' उसे प्रतीत होता है कि अवसाद और निराशा की रजनी समाप्त हो गई है एवं क्षितिज के उस पार से दिवस का 'वासन्ती-रथ' दुःख के अन्धकार को चीरता हुआ आगे बढ़ने लगा है।[3]

(*ii*) दुःखवाद—

महादेवी वर्मा ने बौद्ध साहित्य का ऋण अपने ऊपर स्वीकार किया है। किन्तु उनके दुःखवाद का आधार दार्शनिक विचार न होकर हृदय की अनुभूतियाँ हैं। दुःख, वेदना, पीड़ा, जलन आदि से कवयित्री के रहस्यवादी गीत बोझिल हैं। आपके गीतों का प्रारम्भ प्रणय के वियोग पक्ष से होता है, विकास और अवसान भी वियोग में ही। अतः दुःखात्मक अनुभूतियाँ कवि की मानसिक

१—'अनन्त की ओर' (१६२७ फरवरी) नीहार, पृ० ७१।

२—दीपशिखा, पृ० २।

३—मोम सा तन घुल चुका अब दीप सा मन जल चुका है !
झर चुके तारक-कुसुम जब,
रश्मियों के रजत पल्लव,
सन्धि में आलोक तम की क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से अज्ञात वासन्ती,
दिवस-रथ चल चुका है !
दीपशिखा, पृ० २३।

अवस्था का स्थायी अङ्ग बन गई हैं। पीड़ा के चिर साहचर्य के कारण महादेवी को उससे भी ममता उत्पन्न हो गई है। निराशावादी दार्शनिको की भाँति वे जीवन के उल्लासमय पक्ष का निषेध करके दु खात्मक पक्ष को ही जीवन का सत्य मानने लगी हैं। अत महादेवी वर्मा का दु खात्मक एक ओर अध्यात्म प्रणय के वियोग-पक्ष से सम्बद्ध है तो दूसरी ओर दु:ख को जीवन के सत्य के रूप में स्वीकार करने से। जहाँ तक अध्यात्म विरह की पीड़ा का सम्बन्ध है, मध्यकालीन सत कवियों ने भी उसके प्रति स्पृहा व्यक्त की है।[1] किन्तु दु ख की उपासना करने का अथवा उसमें किसी प्रकार की उपादेयता मानने का सम्बन्ध बौद्ध दर्शन के प्रभाव से अधिक कवयित्री की व्यक्तिगत अनुभूतियों से प्रतीत होता है। महादेवी वर्मा ने अपने अनेक गीतो में दु ख के प्रति ममता प्रकट की है। जैसे—

चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया ससार!

× × ×

करते हो आलोक जहाँ बुझ बुझ कर कोमल प्राण,
जलन में विश्राम जहाँ मिटने में हो निर्वाण,
वेदना मधु मदिरा की धार,
अनोखा एक नया ससार!

× × ×

जीवन की अनुभूति-तुला पर अरमानों से तोल,
यह अबोध मन मूक व्यथा से ले पागलपन मोल,
करें दृग आँसू का व्यापार,
अनोखा एक नया ससार।[2]

१—मध्यकालीन सन्त कवियों ने कदाचित् सूफी 'इश्क हकीकी' से प्रेरणा ग्रहण करके प्रियतम के विरह में तड़पने को सच्ची भक्ति माना है। जैसे—

(अ) रात्यूं रूनी विरहनीं ज्यूं बचौ कूं कुज।
कबीर अन्तर प्रजल्या प्रगट्या विरहा पुज॥—कबीर

(आ) अन्तर पीर न ऊपजे, बाहर करे पुकार।
दादू सो क्यों करि लहै, साहिब का दीदार॥—दादू

२—'चाह' (१६२६ जुलाई) नीहार, पृ० १६–१७।

अथवा

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा ![1]

दु ख की इस उपासना का कदाचित् यह अर्थ हो सकता है कि दु ख कवि को इसलिए प्रिय है कि वह उसकी मानसिक अवस्था का स्थायी अङ्ग वन चुका है अथवा इसलिए प्रिय है कि अपने आराध्य के संयोग की अनुभूति उसको वेदना, पीड़ा आदि दु खात्मक अनुभूतियो के माध्यम से ही होती है। महादेवी ने अपने दु खवाद के विषय में यह स्पष्टीकरण दिया है कि दु ख उनको इसलिए प्रिय है कि वह 'सारे संसार को एक सूत्र मे वॉधने की क्षमता रखता है'।[2] अध्यात्म प्रणय मे उन्मादिनी श्रीमती वर्मा को जगत् के साथ सूत्रात्मकता किस रूप में अनुभूत हुई है इसका स्पष्टीकरण उनके गीत नही करते। अध्यात्मवादी विचारधारा आदि काल से व्यक्तिवादी रही है और उसी रूप में महादेवी के गीतो मे भी वह अभिव्यक्त हुई है।

(*iii*) क्षणवाद—

क्षण-क्षण परिवर्तित विनाशोन्मुख वस्तुओ का परिज्ञान क्षणवाद कहला सकता है। वौद्ध दर्शन के क्षणवाद और आस्तिक दर्शनो के अनित्यतावाद मे कोई मौलिक अन्तर नही है। निराशावादी दार्शनिकों ने जहाँ-कही जीवन और जगत् की दु खमयता पर वल दिया है, उन्होंने संसार की क्षणिकता अथवा अनित्यता को पहले सम्मुख रखा है।

महादेवी वर्मा के गीतों में संसार की अनित्यता अथवा क्षणिकता की ओर प्राय. संकेत किया गया है। 'संसार' शीर्षक गीत मे आपकी क्षणवादी भावना स्पष्टरूप से व्यक्त हुई है। प्रभात की मंगलमयी वेला मे एक ओर 'वुझते हुए तारो के नीरव नयनो का हाहाकार' अपने

१—'उत्तर' (१६२६ फरवरी) नीहार, पृ० ४६।

२—देखिए—'अपनी वात' रश्मि, पृ० ६।

आँसुओ से ससार की अस्थिरता लिख जाता है और दूसरी ओर नव विकसित कलिकाएँ 'पल्लव के सुकुमार घूँघट उठाकर' ससार की मादकता पर पुलकित हो उठती हैं। किन्तु दूसरे ही क्षण मुर्झाए हुए पुष्पों को देखकर उनको ससार की निष्ठुरता की अनुभूति हो जाती है। सध्या समय गोधूलि की स्वर्णिमा तारक दीपो को जलाकर दिवाली मनाना चाहती ही है कि 'तिमिर का पारावार' उसकी मूर्खता पर अट्टहास करता हुआ उसे नष्ट कर देता है। कवयित्री इस क्षण-क्षण परिवर्तित विश्व मे स्वप्न जैसी सजीली कल्पनाओ का एक सुन्दर लोक बनाना चाहती है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा से उठी हुई कोई रहस्यमयी आवाज उसके पागलपन का परिहास कर जाती है।[1] प्रभात मे तारागणो का लुप्त होना, पुष्पो का मुर्झाकर धूल में

१—निश्वासों का नीड़, निशा का बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू मे लिख-लिख जाता है 'कितना अस्थिर है ससार!'
हँस देता जब प्रात, सुनहरे अचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है ससार!'
देकर सौरभ-दान पवन स कहते जब मुरझाये फूल,
जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन आँखों में धूल?
'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है ससार!'
स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता जब अपने जीवन की हार,
गोधूली, नभ के आँगन मे देती अगणित दीपक वार,
हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला ससार!'
स्वप्न लोक के फूलों से कर अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते है जब मेरे पागल प्राण,
आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों मे 'कितना पागल है ससार!'

'ससार' (१६२६ मई) नीहार पृ० ८-६।

मिल जाना; सध्या समय गोधूलि की स्वर्णिमा का क्षणमात्र मे मिट जाना और आकाश मे गहन अन्धकार का छा जाना आदि ऐसे दृश्य हैं जो हृदय मे संसार की क्षणिकता की दुखद अनुभूति उत्पन्न करते हैं। निराशावादी मन स्थिति की यह विशेषता है कि वह ससार की विकासोन्मुख वस्तुओ पर या तो दृष्टिपात करती ही नहीं और यदि करती भी है तो विकास को देखते ही वह तुरन्त उसके विनाश पर चिन्तित होने लगती है। महादेवी वर्मा के अधिकांश गीत इसी मन स्थिति की सूचना देते हैं।

कवि की धारणा जो जगत् के विषय मे है वही जीवन के विषय मे भी। उसको अपना और संसार का वही सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है जो नीरभरी बदली का विस्तृत नभ से है—

मैं नीर भरी दुख की बदली!

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली![1]

बदली और कवि-जीवन के साम्य को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है—

(i) जैसे कल उमड़कर आज बरसनेवाली बदली का अस्तित्व क्षणिक है, उसी प्रकार कवि का अस्तित्व भी क्षणिक है।

(ii) बदली का निर्माण बूँदो से हुआ है, कवि का जीवन अश्रुकणो से विनिर्मित है।

(iii) बदली इस विस्तृत नभ में अपना कोई स्थायी चिन्ह नहीं बना पाती, कवि का क्षणिक जीवन भी पृथ्वी पर कोई स्मृति-चिन्ह नहीं छोड़ सकता।

(iv) विस्तृत आकाश मे स्वच्छन्द भ्रमण करने पर भी बदली उसके एक छोटे से कोने पर अपना स्थायी आधिपत्य स्थापित नही कर पाती, कवि भी इस विशाल भूखण्ड के किसी एक छोटे से भाग पर भी अपना

१—यामा, पृ० २२७।

चिर आधिपत्य स्थापित नही कर सकती, अर्थात् जैसे बदली और आकाश का सम्बन्ध केवल क्षणिक है उसी प्रकार जीवन का जगत् से सम्बन्ध क्षणिक है। अत दोनो का ही अस्तित्व निष्फल है और दु खपूर्ण है।

जीवन और जगत् के क्षणिक सम्बन्ध का ज्ञान होने पर भी मनुष्य जगत् मे अपना कोई ऐसा स्मृति-चिह्न छोड जाना चाहता है कि ससार उसे चिरकाल तक याद करता रहे किन्तु कवयित्री को अपने विषय में किसी शाश्वत् चिन्ह के छोड जाने का विश्वास नही। जगत् से ममता रखने पर भी मनुष्य का जगत् मे अस्तित्व क्षणिक है अत दोनो का परस्पर सम्बन्ध भी क्षणिक है। क्षणभगुरता जीवन का एक कटु सत्य है किन्तु इसकी अनुभूति हमे दु ख एव निराशापूर्ण मन स्थिति से ही होती है। इस कटु सत्य का बार-बार स्मरण कवि की निराशावादी मनोदशा को सूचित करता है। महादेवी वर्मा का क्षणवाद एक दार्शनिक का तत्वदर्शन नही, अपितु एक कवि-हृदय का अनुभूतिपूर्ण करुण सत्य है। क्षणवाद और दु खवाद की इतनी सश्लिष्ट अभिव्यक्ति अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

महादेवी वर्मा के गीतों में जीवन के आनन्दमय पक्ष का प्राय अभाव मिलता है। कवयित्री ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर 'दीपशिखा' (सन् १६४२) मे सकलित गीतों तक हृत्तन्त्री से करुण रागिनी ही अलापी है। उसकी विरहिणी आत्मा 'नीहार' (सन् १६३०), 'रश्मि' (सन् १६३२), 'नीरजा' (सन् १६३६), 'सांध्यगीत' (सन् १६३६) और 'दीपशिखा' (सन् १६४२) के गीतो मे विरहिणी ही बनी रहती है, सयोगिनी नही बन पाती इसलिए वेदना, पीड़ा आदि दु खात्मक अनुभूतियो का परित्याग भी नही कर पाती।

श्रीमती वर्मा ने रश्मि की भूमिका में यह सम्भावना प्रकट की थी कि—"इससे (दु ख की उपासना करने से) मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि मैं जीवनभर आँसू की माला ही गूँथा करूँगी और सुख का वैभव एक कोने में बन्द पड़ा रहेगा।"

"परिवर्तन का ही दूसरा नाम जीवन है। जिस प्रकार जीवन के उषाकाल मे मेरे सुख का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से

एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है उसी प्रकार सन्ध्याकाल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दबकर कातर क्रन्दन कर उठेगा तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञातपूर्व सुख मुस्करा पड़ेगा। ऐसा ही मेरा स्वप्न है।"[1] 'दीपशिखा' (सन् १९४२) तक की रचनाओं में यह स्वप्न स्वप्न ही बना रहा है, सत्य का रूप धारण नहीं कर सका। किन्तु, अभी तो कवि के जीवन का संध्याकाल उपस्थित नहीं हुआ इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि वह स्वप्न एक दिन अवश्य पूरा होगा और उसके हृदय में बन्द पड़ा हुआ उल्लास का वैभव अपनी गरिमा के भार से बोझिल होकर आगामी रचनाओं में अवश्य फूट पड़ेगा।

रामकुमार वर्मा--

रामकुमार वर्मा के रहस्यवादी गीतों में दु:खात्मक अनुभूतियों और निराशावादी विचारों का सामञ्जस्य है। आपने निराशावादी विचारों की स्वतन्त्र रूप से भी अभिव्यक्ति की है। रामकुमार के गीतों में कहीं-कहीं पाश्चात्य कवियों की छाया भी प्रतीत होती है। आपके निराशावादी गीत 'अभिशाप' (सन् १९३०) में संकलित हैं।[2] कवि को निराशावादी अनुभूतियों की प्रेरणा व्यक्तिगत असफलता और हताशा के द्वारा ही मिली है, जिसकी व्यंजना हम उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में पाते हैं। यथा—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में, कैसे देखूँ जीत ?
× × ×
कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप ॥[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन की यह 'प्रथम हार' कवि के व्यक्तिगत जीवन की पराजय है और किसी के गीतों का उसके लिए 'अभिशाप'

१—देखिए—'अपनी बात', रश्मि, पृ० ७, ।

२—'अभिशाप की तिथि अनुमान से दी जा रही है; पुस्तक के प्रथम संस्करण में कोई तिथि नहीं दी गई।

३—'अशान्त'—अभिशाप, पृ० ३-४।

बन जाना भी व्यक्तिगत है। अपने यौवन काल में कदाचित् कवि को प्रणय-निराशा की वेदना भी सहन करनी पड़ी है जिसने उसके हृदय की रागात्मिका वृत्ति को क्षुब्ध करके निराशावादी मनःस्थिति को जन्म दे दिया है। 'अभिशाप' के अन्तिम गीत की अन्तिम पंक्तियाँ कदाचित् इसी वेदना को व्यंजित करती हैं—

मेरा हृदय भग्न है उसके
टूटे हैं सब द्वार,
भाग गया है उससे
रोका हुआ अतिथि-सा प्यार;
वृद्धा आशा के जीवन के—
लघु दिन हैं दो चार,
नित्य निराशा के विष से मैं
करता हूँ उपचार!
पड़ा हुआ है मृत-सा भू पर, जीवन-दीप-प्रकाश।
अरी वेदने! बिखर रहा है उसपर तेरा हास॥[1]

कवि ने 'अभिशाप' की रचना निराशावादी मनःस्थिति में की है इस बात का उसने प्रारम्भ में ही 'परिचय'[2] दे दिया है। विषादपूर्ण मनःस्थिति में जब कवि जीवन और जगत् के रहस्यों को समझने की चेष्टा करता है तब उसे 'निराशा मय उलझन' ही चारों ओर दिखलाई पड़ती है।[3] अतः वह घोर निराशावादी बन कर जीवन के उज्ज्वल पक्ष का निषेध करने लगता है। मानव हृदय की उदात्त वृत्तियों से उसका विश्वास उठ जाता है—

१—'अन्त'—अभिशाप, पृ० १६।

२—हाय! सिसकती-सी वर्षा में, यह गूँथा है हार।
समता करने को बरसातीं हैं आँखें जल-धार॥
आँखों में जल है, ऊपर से भी है जल का स्राव।
हिम-से शीतल बन कर गिरते, मन के भारी घाव॥
'परिचय'—अभिशाप।

३—क्या है अन्तिम लक्ष्य—निराशा के पथ का?—अज्ञात।
दिन को क्यों लपेट देती है श्याम वस्त्र में रात?
यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल?
यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल॥
'अशान्त'—अभिशाप, पृ० ४।

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है. रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में करती है विश्राम;
दया कहाँ है ? दूषित उसको करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो छिपा हुआ है दोष;
हाय ! धूल बनने ही को, खिलता है फूल अनूप ।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप ॥[1]

फूल केवल धूल बनने को ही खिलता है, उसका खिलना मुरझाने की ही पूर्व दशा है आदि विचार निराशावादी विचार हैं ।

मानव सद्वृत्तियों से विश्वास नष्ट हो जाने के पश्चात् कवि की दृष्टि प्रकृति की ओर उठती है किन्तु वहाँ भी उसे सान्त्वना नहीं मिलती ।[2] ऐसी निराशावादी स्थिति में वह आध्यात्मिक जिज्ञासा करने लगता है—

वह सरिता है—चली जारही—है चचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते, दोनों तट विश्राम;
मैं भी तो चलता रहता हूँ निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने, 'शान्ति-शान्ति' का नाम;
लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन ।
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !![3]

उपर्युक्त पंक्तियाँ महाकवि शैले की एक कविता से मिलती-जुलती हैं ।[4]

१—अभिशाप पृ० ५–६ ।

२—मेरे दुख में प्रकृति न देती क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक-हाथ । (आदि) ।
अभिशाप, पृ० ६ ।

३—अभिशाप, पृ० ७ ।

४—शैले की निम्नलिखित पंक्तियाँ सुधा (अगस्त, १६३८) से उद्धृत की जाती हैं । रामकुमार वर्मा और शैले की पंक्तियों में कुछ भाव-साम्य प्रतीत होता है ।

"The Fountains mingle with the River
And the River with the Ocean,
The Winds of Heaven mix for ever,
With a sweet emotion;
Nothing in the world is single,
All things by a law Divine,
In one Spirit, meet and mingle;
Why not I, with Thine?"—Shelley.

प्रारम्भिक रचना 'अभिशाप' (१६३०) में जो आध्यात्मिक जिज्ञासा जागरित हुई थी वह 'रूपराशि' (सन् १६३३ ई०), 'अंजलि', 'चित्ररेखा' (१६३५ ई०) और 'चन्द्रकिरण' (१६३७ ई०) में विकसित होती चली गई है। किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए दुःख और विषाद की पृष्ठभूमि वैसी-की-वैसी बनी रही है। उदाहरणार्थ, कवि 'सुख की अमर किरन' का अपने जीवन मे उस समय प्रकाश चाहता है जब उसका हृदयाकाश निराशा के गहन अन्धकार से आच्छादित हो—

मेरे जीवन-नभ के नीचे,
जब हो अन्धकार-सागर,
तब तुम धीरे-धीरे से आ,
फेनिल-सी सजना सुखकर।
मेरे सुख की किरन अमर[1]

जबतक 'सुख की अमर किरन' का जीवन में प्रकाश नहीं फैलता, कवि अपने 'सूखे-से जीवन को सूना' ही रखना चाहता है। वह ऐसे प्रभात का स्वागत करने को उत्कंठित है जिसकी रहस्यमयी किरण के हाथ वह अपना प्यारा जीवन समर्पित कर सके—

अन्धकार का अम्बर पहने,
रात बिता दूँ सारी
दीप नहीं, तारक-प्रकाश में,
खोजूँ स्मृति-निधि न्यारी
ओस सदृश अवनी पर बिखरा—
कर यह यौवन सारा
किसी किरण के हाथ समर्पित
कर दूँ जीवन प्यारा।
तब तक यह सूखा-सा जीवन रहने दो तुम सूना
रहो दूर, मेरे सुख दुख की स्मृतियाँ तुम मत छूना[2]

'अन्धकार का अम्बर पहन कर' कवि ने रात्रि तो समाप्त कर दी, प्रभात भी हुआ किन्तु बेचारे की अधूरी कथा अधूरी ही रह गई। वह

१—रूपराशि, (१६३३ ई०) गीत-संख्या ११, पृ० १३।
२—'अनन्त-स्मृति'—अंजलि, पृ० १६।

'किरन' तो उसे दिखलाई ही नहीं पड़ी जिसके हाथ उसने अपना 'प्यारा जीवन' समर्पित करना चाहा था—

मैं बैठा भावों के तृण पर, गति थी कितनी मन्द ;
किन्तु न-जाने बीत गई कब यह वियोग की रात !
× × ×
तारे डूबे, किन्तु कथा उतनी ही विरल असंख्य ;
धूमिल-सा, बेसुध-सा आया है यह व्यर्थ प्रभात ।[1]

चिर प्रतीक्षित प्रभात को 'धूमिल-सा' पाने पर भी वह 'एक दीपक-किरण-कण' की भाँति अपने हृदय को अध्यात्म विरह मे जलाता रहता है। और लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् उसे अपने उदासीन हृदय के बीच से अध्यात्म अनुभूति उपलब्ध होने लगती है। वह आश्चर्य-चकित-सा पूछने लगता है—

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया ?[2]

रामकुमार वर्मा के रहस्यात्मक गीतो का पर्यवसान प्रियतम के मधुमय हास की अनुभूति मे हो जाता है। आपके दार्शनिक निराशावादी विचारो की समीक्षा दार्शनिक निराशावाद के प्रसंग मे की जायगी। रामकुमार वर्मा के रहस्यवादी गीतो मे दु:खात्मक अनुभूतियो का ही प्राधान्य है।

तारा पाण्डेय—

तारा पाण्डेय की रचनाओ मे आध्यात्मिक अनुभूति का स्थान अत्यन्त गौण और व्यक्तिगत निराशावाद एवं दु:खवाद का स्थान प्रमुख है। कवयित्री के गीतो मे 'उस पार' पहुँचने की व्याकुलता और आत्म-विसर्जन की जो उत्कण्ठा है उसमे प्रणय-निराशा, जीवन की व्यर्थता आदि विषम परिस्थितियो का महत्वपूर्ण हाथ है। इसी प्रकार दु:ख की उपासना और पीड़ा मे कोई उपादेयता खोजना भी व्यक्तिगत अभावों और दु:खो से प्रेरित है। आपकी रचनाओ को

१—'करुण-कथा'—चन्द्रकिरण, (१६३७ ई०) पृ० १३।
२—चित्ररेखा (१६३५ ई०) गीत-संख्या ३, पृ० ३।

रहस्यवाद की कोटि में केवल इसलिए सन्निहित किया जा सकता है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में कवयित्री का आत्म-विश्वास नष्ट नही हुआ।

जीवन को असफल बनाने वाली परिस्थितियो को तारा ने इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया है कि 'शुक-पिक' (१६३७ ई०) की भूमिका लिखते समय कवि निराला को उसकी रचनाओं को अवैयक्तिक प्रमाणित करने के लिए सफाई पेश करनी पड़ी।[1] किन्तु निराला की सफाई भी कवयित्री के गीतों को अवैयक्तिक सिद्ध करने मे अधिक सफल नही हो सकती। बचपन में माता की मृत्यु और यौवन में रंगीन स्वप्नों की छलना ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनका उल्लेख तारा पाण्डेय ने स्थान-स्थान पर किया है। जैसे—

किसने मुझको रोते देखा ?
शैशव में माता का वियोग सहकर, चुपके-चुपके रोई,
पर सच कहती हूँ, बाहर से सबने मुझको हँसते देखा !
× × ×
अपने भविष्य का चित्र बना, आशा का उसमें रंग भरा,
सोचा न तनिक मन में मैंने,—क्या है मेरी ललाट-रेखा !
वह रंग मिटा, मिट गया चित्र, मैं भी उसमें मिट जाऊँगी,
पर मिटा नहीं सकती हूँ क्या मैं विधि ! तेरा निर्मम लेखा ![2]

शैशव और बाल्यकाल को माता के वियोग ने निष्फल कर दिया और यौवन के प्रथम प्रभात मे कवयित्री ने प्रणय के जो सुनहरे चित्र बनाये थे वे इस निष्ठुरता से मिटे कि उसका शेष जीवन ही व्यर्थ कर गए। यौवन की निष्फलता पर कवयित्री को तीव्र विषाद है जिसकी उसने अधिकाश गीतों मे अभिव्यक्ति की है।

व्यक्तिगत जीवन की यह असफलता कवि को निराशावादी बना देती है। अब उसकी दृष्टि विनाशोन्मुख वस्तुओं पर पड़ने लगती है।

१—शुक-पिक (१६३७ ई०) की 'प्राथमिका' में निराला ने लिखा—
"तारा सुख में पली है। वे पतिगृह में भी सम्पन्न हैं। उनके पति उच्चशिक्षित, डाक्टर हैं। पर उनका कवि-हृदय सतत रहा।"
प्राथमिका, पृ० २।

२—शुकपिक (१६३६ ई०) गीत-सख्या, ७, पृ० ६।

कलियों का कुम्हलाकर झड़ जाना, आकाश के विस्तृत आँगन में अगणित दीपों का जलना, समुद्र के वक्षस्थल में वड़वाग्नि का दहकना, दीपक पर पंतगों का जलना आदि दुखद घटनाओं को देखकर उसके हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। उसके हृदय की आशा की कलियाँ भी सूख चुकी हैं, विषाद की ज्वाला उसके हृदय में भी प्रज्ज्वलित है, वह भी शलभ की भाँति किसी की रूप-ज्वाला में अपना हृदय जला चुकी है। कवि को जब अपने भीतर और बाहर दुःख, विषाद, पीड़ा और जलन ही दिखलाई पड़ती है तो वह विवश होकर सुख का निषेध करके दुःख के प्रति आत्म-समर्पण कर देती है—

मैंने दुख अपनाया!
        झरे कुसुम देखे उपवन में,
        अन्त यही सबका जीवन में,
त्याग एक निःश्वास हृदय से मैंने दुख अपनाया!
        अगणित दीप जले अम्बर में,
        अग्नि दहकती सागर-उर में,
जलता दीपक में पतंग भी, मुझको जलना भाया!
        आत्मा के चिर-धन को भूली,
        जग के सुख-दुख में ही भूली,
पानी भर आया आँखों में, दुख से मन भर आया![1]

गीत की अन्तिम पंक्तियाँ अध्यात्म विश्वास की ओर संकेत करती हैं। कवि को यदि आत्मा के 'चिर-धन' में विश्वास न होता तो उसके गीतों में निराशावाद उग्रतर रूप धारण कर सकता था। लौकिक परिस्थितियों पर विजय पाने में जब कवयित्री का नारी-सुलभ कोमल हृदय असफल हो चुका है तब उसकी चेतना अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख हुई है। आत्मा के 'चिर-धन' को भूलकर संसार के सुख-दुख में मग्न रहने की अपनी गलती उसको जीवन में असफल हो जाने के पश्चात् ही याद आई है। और जीवन की असफलता से उत्पन्न आँखों का पानी अध्यात्म विरह के रूप में प्रकट होने लगा है।

दुःख की निरन्तर अनुभूति ने उसे जीवन के सुखात्मक पक्ष की

१—वेणुकी (१६३८) गीत-संख्या, ५४, पृ० ५८।

ओर से निराशावादी बना दिया है। वह सोचती है कि सुख अनित्य है, इसलिए मिथ्या है। दुःख नित्य है, इसलिए सत्य है। फिर क्यों न उसे अपनी भूल स्वीकार करके दुःख को ही अपना लेना चाहिए? दुःख के साथ यह समझौता कवि की निराशावादी मनोदशा की ही सूचना है—

मैं दुख से शृंगार करूँगी!
जीवन में जो थोड़ा सुख है,
मृग-जल है उसमें भी दुख है
छली गई बहुबार जगत में
फिर क्यों अपनी हार करूँगी![1]

दुःख का चाहे जितना गौरवीकरण क्यों न किया जाय वह अपना दर्शन नहीं छोड़ सकता। कवयित्री को जब पीड़ा का भार असह्य हो उठता है तो वह निष्ठुर संसार से दूर भाग कर किसी ऐसे कल्पनालोक अथवा रहस्यमय जगत् में जाना चाहती है जहाँ उसके व्यथित हृदय को संसार का उपहास न सहन करना पडे। अज्ञात लोक की ओर पलायन अथवा अतीत की ओर प्रतिगमन निराशावादी मनोवृत्ति की ही विशेषता है और तारा पाण्डेय निम्नाङ्कित गीत में उसी को व्यक्त करती हैं—

सखि, देखो, कितना निष्ठुर है यह माया-मोहित संसार,
सत्य-प्रेम का मूल्य यहाँ उपहासों का भीषण उपहार!
जगती के उसपार चलें हम जहाँ हमारा छिपा अतीत,
यहाँ न कोई सजनि! सुनेगा अन्तस्तल का यह संगीत![2]

व्यक्तिगत जीवन की विषम परिस्थितियों और समाज के निष्ठुर व्यवहार से व्यथित होकर कवयित्री अध्यात्म साधना की ओर अग्रसर होती है। उसका निराश और व्यथित हृदय अपने आराध्य की कृपा की 'एक कोर' का आकांक्षी बन जाता है। श्रीमती पाण्डेय ने कातरता और याचनापूर्ण अनेक गीत लिखे हैं। जैसे—

क्यों तुम मुझे सताते?
कोटि यत्न कर हार गई मैं फिर भी पास न आते!

१—शुक-पिक (१९३७ ई०) गीत-संख्या ८, पृ० १०।
२—शुक-पिक (१९३७ ई०) पृ० ५६।

झूठे जग ने मुझे सताया, फिरी तुम्हारी ओर,
केवल चाह रही यह मन में मिले तुम्हारी कोर,
मैंने छोड़े सब नाते, फिर भी क्यों तुम मुझे सताते ?[1]

जीवन के अभावों से पीड़ित होकर अध्यात्मवाद में शान्ति खोजनेवाले हृदय को शीघ्र ही विश्राम नहीं मिल जाता। उसे साधना करनी पड़ती है, मन को शान्त और चित्त-वृत्ति को एकाग्र करना पड़ता है। किन्तु वैसा करना प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव नहीं होता। तारा का हृदय शान्ति का आकांक्षी है, किन्तु उसे न तो अपने लौकिक जीवन में ही वह सुलभ हो सकी और न अध्यात्म जिज्ञासा में। ऐसी घोर निराशावादी स्थिति में वह अपने अस्तित्व को प्रिय की सत्ता में विलीन कर देना चाहती है—

कब होऊँगी मैं तुझ में लय ?
भूली-सी फिरती हूँ जग में, अधकार है छाया मग में,
मुझे बतादो शान्ति-निलय ! कब होऊँगी मैं तुझ में लय ?[2]

इस आत्म-निर्वाण की आकांक्षा में दुःख से छुटकारा पाने की ही सम्भावना व्यक्त की गई है न कि भावात्मक आनन्द की उपलब्धि की। अतः श्रीमती तारा पाण्डेय का सम्पूर्ण रहस्यवाद दुःख और वेदना के ताने-बाने के द्वारा निर्मित है; आनन्द और उल्लास को उसमें कोई स्थान नहीं मिल सका। आपके गीतों में हम सामान्य भारतीय नारी के हृदय की व्यथा और वेदना की भी करुण पुकार सुन सकते हैं। सुभद्राकुमारी चौहान के अतिरिक्त छायावादी युग में जिन कवयित्रियों ने काव्य-रचना की है, उन सब के गीतों में वेदना और रुदन का ही प्राधान्य रहा है। होमवती देवी, पुरुषार्थवती और 'चकोरी' का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। अधिकांश स्त्री-कवियों के गीतों में दुःखात्मक भावों की अभिव्यक्ति यह सिद्ध करती है कि उनकी लेखनी से तत्कालीन भारतीय नारी के जीवन के अभाव, असफलता और निराशा को वाणी मिली है। इस दृष्टि से हम श्रीमती तारा पाण्डेय के गीतों में व्यक्तिगत निराशा के स्थान पर सामान्य भारतीय नारी-जीवन के दुःखों की झाँकी पा सकते हैं। अस्तु।

१—शुक-पिक (१९३७ ई०) गीत-संख्या २९, पृ० ३४।
२—वेणुकी (१९३९ ई०) गीत-संख्या २५, पृ० २७।

जयशंकर 'प्रसाद' और निराला आदि युगारम्भ करने वाले कवियों के रहस्यवाद से लेकर तारा पाण्डेय के रहस्यवादी गीतों तक का अध्ययन करने से हम इस ऐतिहासिक सत्य पर पहुँचते हैं कि छायावादी युग मे दुःख और निराशा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। फिर भी रहस्यवादी भावना मूलतः अध्यात्मवादी होने के कारण निराशावाद के तीव्रतम रूप को व्यक्त नही करती। रहस्यवादी गीतों मे वेदना, विषाद, आत्मविसर्जन आदि दुःखात्मक अनुभूतियो को व्यक्त अवश्य किया गया है किन्तु उनका अध्ययन हृदय पर वह आघात नहीं करता जो आघात अध्यात्मविश्वास और आत्मविश्वास-रहित गीत करते हैं। उदाहरणतः महादेवी, तारा आदि अनेक रहस्यवादी कवियो ने विरह-व्यथा, आत्मविसर्जन आदि की अभिव्यक्ति की है किन्तु उनके समस्त दुःखवादी गीतो की व्यथा-वेदना बच्चन के निम्नोद्धृत गीत की व्यथा की समता नही कर सकती—

मै न सुख से मर सकूँगा!
चाहता जो काम करना,
दूर है मुझसे सँवरना,
टूटते दम से विफल आहें महज मैं भर सकूँगा!
गलतियाँ-अपराध, माना,
भूल जाएगा जमाना,
किंतु अपने आपको कैसे क्षमा मैं कर सकूँगा![1]

बच्चन के उक्त गीत में अध्यात्म-विश्वास और आत्म-विश्वास दोनों का अभाव है, अतः उनके हृदय से निकली हुई चीत्कार मे हृदय को झकझोरने की अधिक शक्ति है। अध्यात्म-विश्वास-रहित निराशावादी गीतो मे ही आत्म-सदेह, पश्चात्ताप, आत्म-ग्लानि और शोक की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई है। रहस्यवादी गीतो मे उक्त अनुभूतियो का एक प्रकार से अभाव है। इस तथ्य से हम इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि आध्यात्मिक विश्वास रखनेवाले कवि निराशावाद के उस दलदल मे फसने से बच गए हैं जिसमे फँसकर जीवन पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। अतः आधुनिक काव्य मे अध्यात्मवादी भावनाओ ने निराशावाद को उद्दीप्त नहीं किया अपितु शान्त किया है। निराशावाद के उग्रतम रूप का अध्ययन 'स्वतन्त्ररूप से निराशावाद की अभिव्यक्ति' के प्रसग में किया जायगा।

१—एकान्त सगीत गीत सख्या ८४ पृ० १०० ।

(२) प्रकृति-चित्रण के माध्यम से निराशावाद की अभिव्यक्ति—

छायावादी कवियो ने प्रकृति का चेतनीकरण करके उस पर व्यक्तिगत अनुभूतियो का आरोप किया है। रहस्यवादी कवियो ने जिस प्रकार सरिता, निर्झर, सागर, तारागण आदि प्रकृति के विभिन्न अवयवो मे किसी रहस्यमयी अध्यात्मसत्ता की झाँकी पायी है, उसी प्रकार निराशावादी कवियो ने सागर को चीत्कार करते हुए सुना है और कलिकाओं को अश्रुपात करते हुए देखा है। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक कवियो ने अपनी निराशावादी मन स्थिति की व्यंजना करने के लिए प्रकृति-चित्रण का अनेक प्रकार से उपयोग किया है। स्वयं प्रकृति अथवा उसका कोई अवयव कवियो की निराशा अथवा दुःख का विषय नहीं बन सका है।

प्रकृति-चित्रण के माध्यम से कवियो ने विभिन्न प्रकारो से अपनी निराशावादी मनोदशा की अभिव्यंजना की है जिनको स्थूल रूप से निम्नलिखित शीर्षको मे विभक्त किया जा सकता है—

(i) सघर्षपूर्ण जीवन से प्रकृति की ओर पलायन।

(ii) प्राकृतिक वस्तुओं तक समवेदना का विस्तार।

(iii) निराशावादी मनसा का प्रकृति पर आरोप।

(iv) अभावमय दृश्यो के माध्यम से निराशावाद की अभिव्यंजना।

(v) निराशावादी अवस्था मे प्रकृति-निरीक्षण।

(i) संघर्षपूर्ण जीवन से प्रकृति की ओर पलायन—

मनुष्य जब जीवन-संघर्ष मे अपने आप को पराजित समझता है तब उसका विश्वास सामाजिक न्याय से उठ ही जाता है। समाज उसे छल-प्रपंच, कलुष आदि दुष्प्रवृत्तियों का आगार प्रतीत होने लगता

है और वह विश्व के किसी ऐसे कोने मे पलायन कर जाना चाहता है जहाँ उसे एकान्त, विश्राम और शान्ति सुलभ हो सके। छाया-वादी युग व्यक्तिवादी चेतनाप्रधान युग होने के कारण, प्रकृति-उपासना को वैसे भी वहुत महत्व देता है। कवियो का मन जितना प्रकृति के रमणीय दृश्यो का निरीक्षण करने मे सलग्न हुआ है उतना समाज के सुख-दु ख की ओर दृष्टिपात करने मे नही। अत प्रकृति की ओर पला-यन करने की मनोवृत्ति सामान्यत सभी छायावादी कवियों मे मिलती है। किन्तु, प्रकृति की ओर पलायन करनेवाली मनोवृत्ति उन गीतो में स्पष्टत व्यजित हुई है जहाॅ कवियों ने समाज की निन्दा करके प्रकृति की उपासना करने की इच्छा प्रकट की है अथवा व्यक्तिगत जीवन के भार से ऊबकर प्रकृति के रमणीक अङ्क में विश्राम पाने की आकाक्षा प्रकट की है। पलायनवादी मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए केवल एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। सामाजिक जीवन का दोष-दर्शन करता हुआ रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' प्रकृति-सेवन की आकाक्षा प्रकट करता है—

चारों ओर वहाॅ पर विस्तृत केवल दुख ही दुख है।
दुख का है वह जाल, दीखता वहाँ क्षणिक जो सुख है॥
माया है, मिथ्या, मृगतृष्णा, घोर प्रलोभन, छल है।
वह ससार विषाद, निराशा का बस क्रीड़ास्थल है॥

× × ×

जाना नहीं चाहता हूँ मैं क्षण भर को भी जग में,
चलता रहूँ, यही इच्छा है, सदा प्रेम के मग में।
यह इच्छा है, नदी और नालों का वेश धरूँगा,
गाता हुआ गीत मस्ती से पर्वत से उतरूँगा॥[1]

कविता की पक्तियाॅ स्वय अपने भाव को स्पष्ट करती हैं। समाज को दु ख का जाल, क्षणिक, मिथ्या, छल, प्रपच, विषाद और निराशा का क्रीड़ा-स्थल मानना एक ऐसी निराशावादी मनोवृत्ति की सूचना देता है जिसने जीवन-सघर्ष में पराजित होने के पश्चात् जगत् का परित्याग कर दिया हो। कविता की शेष पक्तियाँ प्रकृति-उपासना की मनोहरता और मस्ती की अभिव्यजना करती हैं। उक्त पक्तियाँ रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' (१९२० ई०) से उद्धृत की गई हैं। 'पथिक' समाज की

१—पथिक (१९२० ई०) पृ० १४–१५।

विपम परिस्थितियों से घबराकर एवं घर-द्वार का परित्याग करके प्रकृतिसेवी बन गया है।

जीवन की नीरसता, उदासीनता आदि निराशावादी मनःस्थितियों से ऊब कर प्रकृति के स्वच्छन्द और शान्त वातावरण में विश्राम पाने की मनोवृत्ति को प्रसाद के निम्नलिखित गीत में भी खोजा जा सकता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।[1]

इसी प्रकार तारा पाण्डेय की अधोलिखित 'साध' व्यक्तिगत जीवन के अभावों की पूर्ति प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में करना चाहती है—

मेरी साध निराली सजनी!
विहग बनूँ, नभ में उड़ जाऊँ,
मुक्त-कण्ठ से गाना गाऊँ,
नीड़ रचूँ पेड़ों पर सुख के,
मुखरित हो गीतों से अवनी![2]

जीवन-संघर्ष से पराजित होकर अथवा जीवन की उदासीनता से उकता कर प्रकृति की ओर पलायन करने की मनोवृत्ति व्यक्त करनेवाले गीतों में प्रकृति के उज्ज्वल और रमणीक दृश्यों का ही चित्रण किया गया है, अतः वह चित्रण स्वयं निराशावादी नहीं कहा जा सकता। छायावादी युग में जीवन-संघर्ष से घबराकर प्रकृति की ओर पलायन करने की कामना व्यक्त करने वाले गीत विरल नहीं हैं।

(ii) प्राकृतिक वस्तुओं तक समवेदना का विस्तार—

मनुष्य की यह स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि जब वह समाज के घात-प्रतिघातों को सहते-सहते उसकी ओर से निराश और क्षुब्ध

१—लहर (१९३५ ई०) पृ० १०।

२—वेणुकी (१९३८ ई०) गीत-संख्या १३, पृ० १४।

है और वह विश्व के किसी ऐसे कोने में पलायन कर जाना चाहता है जहाँ उसे एकान्त, विश्राम और शान्ति सुलभ हो सके। छायावादी युग व्यक्तिवादी चेतनाप्रधान युग होने के कारण, प्रकृति-उपासना को वैसे भी बहुत महत्व देता है। कवियो का मन जितना प्रकृति के रमणीय दृश्यो का निरीक्षण करने मे सलग्न हुआ है उतना समाज के सुख-दु ख की ओर दृष्टिपात करने मे नही। अत प्रकृति की ओर पलायन करने की मनोवृत्ति सामान्यत सभी छायावादी कवियों मे मिलती है। किन्तु, प्रकृति की ओर पलायन करनेवाली मनोवृत्ति उन गीतों में स्पष्टत व्यजित हुई है जहाँ कवियो ने समाज की निन्दा करके प्रकृति की उपासना करने की इच्छा प्रकट की है अथवा व्यक्तिगत जीवन के भार से ऊबकर प्रकृति के रमणीक अङ्क में विश्राम पाने की आकाक्षा प्रकट की है। पलायनवादी मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए केवल एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। सामाजिक जीवन का दोष-दर्शन करता हुआ रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' प्रकृति-सेवन की आकाक्षा प्रकट करता है—

चारों ओर वहाँ पर विस्तृत केवल दुख ही दुख है।
दुख का है वह जाल, दीखता वहाँ क्षणिक जो सुख है॥
माया है, मिथ्या, मृगतृष्णा, घोर प्रलोभन, छल है।
वह ससार विषाद, निराशा का वस क्रीड़ास्थल है॥
× × ×
जाना नहीं चाहता हूँ मैं क्षण भर को भी जग में,
चलता रहूँ, यही इच्छा है, सदा प्रेम के मग मे।
यह इच्छा है, नदी और नालों का वेश धरूँगा,
गाता हुआ गीत मस्ती से पर्वत से उतरूँगा॥[1]

कविता की पक्तियाँ स्वय अपने भाव को स्पष्ट करती हैं। समाज को दु ख का जाल, क्षणिक, मिथ्या, छल, प्रपच, विषाद और निराशा का क्रीड़ा-स्थल मानना एक ऐसी निराशावादी मनोवृत्ति की सूचना देता है जिसने जीवन-सघर्ष मे पराजित होने के पश्चात् जगत् का परित्याग कर दिया हो। कविता की शेष पंक्तियाँ प्रकृति-उपासना की मनोहरता और मस्ती की अभिव्यजना करती हैं। उक्त पक्तियाँ रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' (१९२० ई०) से उद्धृत की गई हैं। 'पथिक' समाज की

१—पथिक (१९२० ई०) पृ० १४–१५।

विषम परिस्थितियों से घबराकर एवं घर-द्वार का परित्याग करके प्रकृतिसेवी बन गया है।

जीवन की नीरसता, उदासीनता आदि निराशावादी मन स्थितियों से ऊब कर प्रकृति के स्वच्छन्द और शान्त वातावरण में विश्राम पाने की मनोवृत्ति को प्रसाद के निम्नलिखित गीत में भी खोजा जा सकता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे धीरे !
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।[1]

इसी प्रकार तारा पाण्डेय की अधोलिखित 'साध' व्यक्तिगत जीवन के अभावों की पूर्ति प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में करना चाहती है—

मेरी साध निराली सजनी !
विहग बनूँ, नभ में उड़ जाऊँ,
मुक्त-कण्ठ से गाना गाऊँ,
नीड़ रचूँ पेड़ों पर सुख के,
मुखरित हो गीतों से अवनी ![2]

जीवन-संघर्ष से पराजित होकर अथवा जीवन की उदासीनता से उकता कर प्रकृति की ओर पलायन करने की मनोवृत्ति व्यक्त करनेवाले गीतों में प्रकृति के उज्ज्वल और रमणीक दृश्यों का ही चित्रण किया गया है, अत. वह चित्रण स्वयं निराशावादी नहीं कहा जा सकता। छायावादी युग में जीवन-संघर्ष से घबराकर प्रकृति की ओर पलायन करने की कामना व्यक्त करने वाले गीत विरल नहीं हैं।

(ii) प्राकृतिक वस्तुओं तक समवेदना का विस्तार—

मनुष्य की यह स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि जब वह समाज के घात-प्रतिघातों को सहते-सहते उसकी ओर से निराश और क्षुब्ध

१—लहर (१९३५ ई०) पृ० १०।

२—वेणुकी (१९३८ ई०) गीत-संख्या १३, पृ० २५।

हो उठता है तब उसके हृदय की समवेदना प्राकृतिक वस्तुओं की ओर उन्मुख हो जाती है। उसका व्यथित हृदय एक मुर्झाए हुए फूल को देखकर वेदना से भर जाता है और टूटते हुए तारे को देखकर काँप जाता है। मानव-समाज से निराश होकर वह किसी पशु-पक्षी को अपनी ममता का उपहार देना चाहता है। छायावादी गीतों में उक्त समवेदनात्मक भावनाएँ अनेक रूपों में व्यक्त की गई हैं। जैसे, महादेवी का करुणापूर्ण हृदय एक मुर्झाए हुए फूल को देखकर व्यथित हो उठता है—

सो रहा अब तू धरा पर
शुष्क बिखराया हुआ
गन्ध कोमलता नहीं
मुख मञ्जु मुरझाया हुआ।

× × ×

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन ![1]

उद्धरण की अन्तिम पंक्तियाँ समाज की निष्ठुरता, स्वार्थमयता, कृतघ्नता आदि क्रूर मनोवृत्तियों की ओर संकेत करती हैं। वस्तुत कवयित्री को स्वयं अपने प्रति समाज की समवेदना की आशा नहीं है और इसी निराशावादी भावना का आरोप वह मुर्झाए हुए फूल के वर्णन के प्रसंग में प्रकृति पर करती है। कवयित्री को अपने नीरस जीवन और मुर्झाये हुए फूल में एक प्रकार के साम्य का अनुभव हो रहा है। समानधर्मी वस्तुओं के प्रति समवेदना का विस्तार होना स्वाभाविक है।

महादेवी वर्मा की भाँति कवि बच्चन किसी टूटते हुए तारे को देखकर विह्वल हो जाते हैं—

१—'मुर्झाया फूल' (१६२३ जनवरी) नीहार, पृ० ४४।

देखो, टूट रहा है तारा !
हुआ न उडुगन में क्रन्दन भी,
गिरे न आँसू के दो कण भी,
किसके उर में आह उठेगी होगा जब लघु अंत हमारा ।[1]

टूटते हुए तारे को देखकर अपने अन्त के विषय में सोचने लगना और उसके पराभव पर सृष्टि में समवेदना का अभाव देखना, यही प्रकट करता है कि कवि का हृदय एक ओर समाज से समवेदना नहीं पा रहा दूसरी ओर जीवन-शक्ति की क्षीणता से पीड़ित है। इस तथ्य का अनुमान 'निशा निमन्त्रण' के समस्त गीतों को पढ़कर लगाया जा सकता है। एक निराशावादी मन स्थिति ही टूटते हुए तारे को देखकर अपने अन्त के विषय में चिन्तित हो सकती है। जिस व्यक्ति को स्वयं समाज में सहानुभूति प्राप्त नहीं होती वही जगत् में सर्वत्र उसका अभाव पाता है और जगत् की ओर से निराशावादी बन जाता है।

विनाशोन्मुख वस्तुओं के प्रति समवेदना प्रकट करने के अतिरिक्त निराशावादी मनोवृत्ति की दूसरी विशेषता यह है कि समाज में अपनी ममता का कोई पात्र न पाकर वह फूल-पत्ते, पशु-पक्षी आदि प्रकृति के किसी उपकरण को अपना स्नेह अर्पण करना चाहती है। प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति ममता प्रकट करने वाले गीत भी छायावादी युग में लिखे गए हैं। उदाहरणत अपने जीवन को पूर्ण एकाकी पाकर बच्चन अपने कमरे में नीड़ बनानेवाले पक्षी को ही अपना साथी बनाना चाहते हैं—

सशंकित नयनों से मत देख !
खाली मेरा कमरा पाकर,
रखे तिनके-पत्ते लाकर,
तूने अपना नीड़ बनाया कौन किया अपराध ?

× × ×

[1]—निशा-निमन्त्रण, (१९३७-३८ ई०) गीत-संख्या ३२, पृ० ५८ ।

मित्र बनाऊँगा मैं तुझको,
बोल करेगा प्यार न मुझको ?
और सुनाएगा न मुझे निज गायन भी एकाध ?
संशकित नयनों से मत देख ![1]

मनुष्य अपनी निराशावादी मन स्थिति में जिस प्रकार प्रकृति तक अपनी समवेदना का विस्तार करता है उसी प्रकार प्रकृति से भी समवेदना अथवा सांत्वना प्राप्त करना चाहता है। प्रकृति से समवेदना प्राप्त करने की आकांक्षा भी अनेक गीतों में व्यक्त की गई है। कवि का हृदय प्रकृति से सात्वना प्राप्त करने की उसी समय अभिलाषा करता है जब समाज मे वह अपने को बिल्कुल अकेला और एकाकी पाता है। रात्रि के सन्नाटे में चन्द्रमा बच्चन को सांत्वना देता है—

मुझसे चाँद कहा करता है—
तू तो है लघु मानव केवल,
पृथ्वीतल का वासी निर्बल,
तारों का असमर्थ अश्रु भी नभ से नित्य ढहा करता है।[2]

इतने विवेचन से स्पष्ट है कि मानव-हृदय को जब अपने समाज से समवेदना की आशा नही रहती तब वह उसके अभाव की पूर्ति के लिए प्रकृति की ओर मुड़ता है। छायावादी कवियों ने इस मनोवृत्ति की सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति की है।

(iii) प्रकृति पर निराशावादी मनसा का आरोप—

छायावादी युग आत्मानुभूति का चित्रण करने वाले गीतो का युग है, अत इस युग में प्रकृति का वस्तुगत (Objective) चित्रण मिलना कठिन है। आत्मानुभूति के साथ निराशावाद का भी युग होने के कारण छायावादी गीतो में कवियो ने अपनी निराशावादी मनसा का प्रकृति के अवयवो पर प्राय आरोप किया है। निर्झरिणी के कल कल नाद को सुनकर सुमित्रानन्दन पंत कल्पना करते हैं—

अलि ! यह क्या केवल दिखलावा,
मूक-व्यथा का मुखर-भुलाव ?

१—एकान्त सगीत (१९३८–३९ ई०) गीत-सख्या ५९, पृ० ७५।
२—निशा-निमन्त्रण (१९३७–३८ ई०) गीत-सख्या ३३, पृ० ५७।

अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अंचल ![1]

निर्झरिणी के कल-कल नाद मे 'मूक-व्यथा' का आभास पाना तथा उसके निर्मल जल-प्रवाह को 'आँसूओ की अंचल' के रूप में देखना यही प्रकट करता है कि कवि वस्तु के प्रति चाहे जितनी स्वच्छन्द कल्पना करे, वह उसको उसी रूप में देखेगा जो उसकी मनोदशा के अनुकूल होगा। छायावादी युग निराशावादी अनुभूतियों का युग होने के कारण प्रकृति को भी दुखी, व्यथित और आनन्द-विहीन रूप मे देखता है। बच्चन को सागर, आकाश और पृथ्वी में सर्वत्र विकलता ही दिखलाई पड़ती है जो उनके 'आकुल अन्तर' का ही प्रकृति पर निक्षेप है—

लहर सागर का नहीं शृंगार,
उसकी विकलता है ;
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार,
उसकी विकलता है ;
विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरजित,
मृत्तिका वह नहीं संसार,
उसकी विकलता है ।[2]

छायावादी युग मे मोती के समान उज्ज्वल ओस की बूँदों को प्रायः आँसुओ के रूप मे देखा गया है। इस युग में कलियों का खिलना कभी-कभी उनका भाग्य-फूटना समझा गया है। जैसे—

गध आती है सुमन की !
किस कुसुम का श्वास छूटा ?
किस कली का भाग्य फूटा ?
लुट गई सहसा खुशी इस कालिमा में किस चमन की ?
गध आती है सुमन की ![3]

प्रकृति के रमणीक दृश्यों पर कवियों ने अपनी मनोदशा का जो

१—'निर्झरी' (१९२२ ई०) पल्लव, पृ० ९० ।
२—आकुलक अन्तर (१९४०–४२ ई०) गीत-संख्या १, पृ० १ ।
३—एकान्त सगीत (१९३८–३९ ई०) गीत संख्या ३८, पृ० ५४ ।

किया है उससे कवियो की निराशावादी मन स्थिति की स्पष्ट होती है।

अभावमय दृश्यो के माध्यम से निराशावाद की अभिव्यजना—छायावादी कवियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन की निराशा, फलता, अवसाद आदि की व्यजना करने के लिए प्रकृति के शून्य, गण, अभावमय अथवा ह्रासोन्मुख दृश्यो का बड़ा ही सजीव त्रण किया है। अपने जीवन की आशा-आकांक्षाओं के विनाश से पन्न उदासीनता, निराशा, जीवन की व्यर्थता, शून्यता आदि की यजना के लिए प्रकृति के ऐसे दृश्य और व्यापार चुने हैं जो स्वत उक्त मनोदशाओं और अनुभूतियो को व्यंजित कर सकें। कतिपय उद्धरण पर्याप्त होंगे।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' अपनी प्रणय-निराशा से पीडित जीवन की नीरसता की व्यजना पतझड़ के उदासीन वातावरण के द्वारा करते हैं—

था कल बसन्त यहाँ हँसा
अलि, कुसुम कलियो में फँसा
'ड़ ओर नेतन में हुई क्षण एक आँखे चार भी।
× × ×
अब वह न सौरभ वात में,
अब वह न लाली पात में,
अवशेष यदि कुछ तो निशा के आँसुओं का हार ही।
लो आगया पतझार भी।[1]

प्रणय-व्यापार में असफल व्यक्ति की दुनिया किस प्रकार बदल ज है, कैसे उसके जीवन के आशामय स्वप्न पलमात्र मे नष्ट हो ज इस तथ्य की सफल व्यजना पतझड़ की नीरसता का चित्रण मे हुई है। वसन्त के आनन्दोल्लास का वर्णन उस नीरसता क भी गहरा रग दे देता है।

नरेन्द्र का 'सेमल' का वृक्ष भी हताशा, अभाव, अतृप्ति, उद आदि दु खात्मक अनुभूतियो का मार्मिक चित्रण करता है। अश देखिए—

१—'लो आगया पतझाड़', हिल्लोल (१६३७ ई०) पृ० ६'

मधुमास स्वयं ही चला गया
आया जैसे वह अनायास !
फिर सूख गया वह सेंमल का हतभाग्य रूख,—
दो दिन बस लाल लाल कलियों के
छाये तन पर पुलक-जाल,
उच्छ्‌वास-सदृश अब पल पल पर
उड़ती रूखी सूखी कपास !
मधुमास स्वय ही चला गया
आया जैसे वह अनायास ![1]

सेमल-वृक्ष के जीवन मे एक बार मधुमास आया, लाल-लाल कलिकाएँ लगीं, फल लगे; किन्तु उसका जीवन सफल न हो सका। मधुमास के प्रस्थान करने के साथ-साथ उसका शृंगार भी झड़ गया और उसके फलो की रूखी-सूखी कपास वायुमंडल मे उड़कर उसके जीवन की निष्फलता और व्यर्थता को प्रकट करने लगी। कवि के जीवन में भी कभी यौवन का मधुमास आया था, प्रणय की आशा-कलिकाओ से उसका हृदय प्रफुल्लित हुआ था, किन्तु एक क्षण मे प्रणय-निराशा यौवन के हर्षोल्लास को समाप्त कर गई। कवि अपने जीवन को पहले से भी अधिक अभावमय पाने लगा। इस प्रकार से कवि ने बड़ी सफलता के साथ अपनी निराशावादी अवस्था की व्यंजना सेमल के वृक्ष के माध्यम से की है।

असफल जीवन की व्यर्थता, भीषण एकाकीपन, उल्लास और उत्साह का सर्वथा अभाव आदि उग्र निराशावादी अवस्था और मनो-दशाओं का चित्रण कवि श्मशानस्थ पीपल के वृक्ष के माध्यम से करता है। समवेदना और आत्म-विश्वास के अभाव मे कवि चारो ओर से निराश्रित और हताश होकर अपने आपको एक 'मरघट के पीपल तरु' की अवस्था में पाता है। पीपल के वृक्ष का अपना जीवन ही अभावमय नहीं, अपितु उसके चारो ओर का वातावरण भी अत्यन्त भयावह है। उसने न तो अपने जीवन में किसी उल्लासपूर्ण अवसर का अनुभव किया और न उसको अपने चारो ओर ही कोई मनोरम

१—'सेमल' (मई १६३६ ई०) प्रवासी के गीत, गीत-सख्या, ४७, पृ० ७०।

दृश्य देखने को मिला। आन्तरिक और बाह्य निराशा से घबराकर पीपल का वृक्ष आत्म-विध्वंस की कामना करने लगता है—

मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!
घड़ी घड़ी यमदूत याम नित
घड़ी घट—(जिनमें सुधि का जल)—
बाँध रहे हैं तृषित कंठ में
करने आगत का उर शीतल,
पर क्या मेरी प्यास बुझेगी?
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!

मैंने उठती लपटें देखीं,
देखी बुझती जीवन-ज्वाला,
देखे मैंने नयन उमड़ते
औ' सूखी दृग-जल की माला;
सब नश्वर, मैं ही शाश्वत हूँ,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!

× × ×

कभी न देखी आती ऊषा,
देखीं जब, जाती संध्याएँ,
देखा है सब दिन विनाश ही
और धधकती हुई चिताएँ,
चिर-विनाश का प्रहरी हूँ मैं,
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!

पर चिर-निद्रा के प्रहरी को
क्या न कभी आएगी निद्रा?
कब टूटेगी भव की निद्रा,
औ', मेरी जागृति की निद्रा?
आ, ओ काल-रात्रि की निद्रा
मैं ही वह मरघट का तरु हूँ।
मैं मरघट का पीपल तरु हूँ!![1]

१—प्रवासी के गीत, पृ० ५७,५८,५६, गीत-संख्या ३६ (अक्टूबर, १६३८)।

श्मशानस्थ पीपल की यह आत्म-कथा कवि की आत्म-कथा है। जिस व्यक्ति को अपने जीवन में कोई सुख-संतोष न मिल सका हो और जो अपने चारों ओर के सामाजिक वातावरण में जीवन की 'रंगीन चिताओं को जलता हुआ देख रहा हो', वह यदि घोर निराशावादी बनकर आत्म-विध्वंस की कामना करने लगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। छायावादी गीतो मे अनेक कवियो ने प्रकृति के माध्यम से व्यक्तिगत निराशावाद को व्यक्त किया है।

कवियो ने अपनी मन स्थिति की ही भाँति अपने जीवन की निराशावादी परिस्थितियो को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है। जीवन की विषम परिस्थितियाँ और उनकी कवि के हृदय पर निराशावादी प्रतिक्रिया की सफल व्यंजना नरेन्द्र का यह गीत करता है—

इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सी है मेरी राह,
खा पछाड़ जिसकी दीवारों से समीर भी रहा कराह,

× × ×

भीत चेतना को धक्का-सा लगता, होता चेत-अचेत,
तम मे भ्रम होने लगता है, मैं हूँ या यह मेरा प्रेत!
'चले आरहे हो युग युग से', थकी शिथिल टाँगे कहतीं,
'क्यों न कूद जाएँ तम के सागर में हम सब सृष्टि समेत!'

× × ×

ऊब गया हूँ जिससे, पूरी होती, हाय, न जो चलते—
इस खँडहर के बीच भाग्य की रेखा-सी है मेरी राह![1]

जीवन मे कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब जीवन स्वयं एक भार बन जाता है। जीवन की विषमताएँ बढ़ जाती हैं, आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है और आशा-आकांक्षाएँ चूर्ण हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति मे फँसा हुआ व्यक्ति अपने ही जीवन के भार से चीत्कार कर उठता है। उक्त गीत मे कवि यात्री के रूप मे उपस्थित हुआ है और खँडहर के बीच से गुजरने वाली राह उसके जीवन-मार्ग के रूप में। मार्ग को भयावह बनाने वाले प्रकृति के व्यापार विषम परिस्थितियो के रूप

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ४० (दिसम्बर, १९३८) पृ० ६०—६१।

में उपस्थित किए गए हैं।[1] सम्पूर्ण गीत के द्वारा कवि ने जीवन की विषम परिस्थितियों और उन परिस्थितियों की अपने हृदय पर भीषण प्रतिक्रिया की मार्मिक व्यंजना की है।

गिरजाकुमार माथुर संताप, शून्यता, भीषणता और उदासीनता आदि निराशावादी मनोदशाओं की अभिव्यक्ति ग्रीष्म की दुपहरी के माध्यम से करते हैं—

१—पथिक के मार्ग को भयावह बनाने वाले व्यापारों का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

डर से डब डब करते तारे देख तिमिर का सिंधु अथाह,
वह छोटी-सी जान खुसटिया, चौंक चीख होगई तबाह!
अब तक डर से अडिग खड़ी थी जो पहाड़-सी काली रात,
बैठ गई है सहम चिता ज्यों बुझ जाता जब उसका दाह!

जब-जब धीरज छुटने लगता ढाढस देते श्वान-शृगाल,
पथ दिखलाती, दूर क्षितिज पर जल-बुझ कभी चिता की ज्वाल,
शिशिर छोड़ ठंडी ठंडी साँसें जलती कानों के पास,
कहता, 'बढ़े चलो, पथ बीहड़ है, पीछे आता है काल!'

नहीं, कुछ नहीं, केवल भ्रम है, कह लेता हूँ अपने आप,
जब सकित हो हो उठता हूँ सुनकर अपने ही पद-चाप!
खूब जानता हूँ कोई भी नहीं निकलता इस पथ से
महाशून्य औ' महामृत्यु का यहाँ हो रहा मौनालाप!

× × ×

किन्तु वहाँ यम के इसाती शीतल कर ने किसे छुआ?
पल भर को मुँद गई विश्व की आँखें उल्कापात हुआ!
गहन तिमिर का उर विदार कैसा वह ज्वालाशर निकला,
यम की प्रिया अमा यामा का या वह छूट गिरा बिछुआ?

मुझे न देता आज दिखाई, कौन बुलाती दूर खड़ी?
राह न, मेरी पूरी होती, बीती उल्कापात-घड़ी!
मैं ही एकाकी ऐसा हूँ, जिसे अभी चलना बाकी,
भय के तक्षक ने डस ली जो स्तब्ध सृष्टि, निश्चेष्ट पड़ी!

प्रवासी के गीत, पृ० ६०-६१।

थकी दुपहरी में पीपल पर काग बोलता शून्य स्वरों में,
फूल आखिरी ये वसंत के गिरे ग्रीष्म के ऊष्म करों में।

× × ×

यह जीवन का एकाकीपन गरमी के सुनसान दिनों-सा,
अन्तहीन दुपहरी डूबा मन निश्चल है शुष्क वनों-सा।
कौन दूर से चलता आता ? इन गरमीले म्लान पथों में,
थकी दुपहरी में पीपल पर, काग बोलता शून्य स्वरों में।'

कवि ने अपने जीवन की विषम परिस्थितियों की व्यंजना ग्रीष्म के मध्याह्न के शून्य वातावरण के माध्यम से की है। कवि की मनोदशा ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी मे चलने वाले पथिक की मनोदशा है। जीवन का भार, ताप और एकाकीपन इस दोपहरी के चित्रण के माध्यम से सफलतापूर्वक व्यक्त हुआ है। अस्तु। छायावादी कवियों ने अपने हृदय की निराशा और विषम परिस्थितियों की व्यंजना प्रकृति-चित्रण के माध्यम से सफलतापूर्वक की है।

(५) निराशावादी अवस्था मे प्रकृति-निरीक्षण—

स्वानुभूति निरूपक गीतो मे वाह्य पदार्थ अथवा व्यापारो के चित्रण मे कवि की मानसिक अवस्था एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसादात्मक मन स्थिति मे देखे गए किसी व्यापार का वर्णन उदासीन मनोदशा मे देखे गए व्यापार के वर्णन से अवश्य ही भिन्न होगा। एक अवस्था मे सरिता के कल-कल नाद मे सगीत सुनाई पड़ेगा तो दूसरी अवस्था मे क्रन्दन। निराशावादी मनोदशा की यह विशेषता है कि वह प्राय अपनी अवस्था के अनुकूल शून्य, भीषण या विनाशोन्मुख वस्तुओ पर ही दृष्टिपात करती है। अत निराशावादी कवियो ने प्रकृति के अभावमय व्यापारो पर ही प्राय. दृष्टिपात किया है। प्रकृति के अभावमय व्यापार निराशावादी कवि के लिए विचित्र महत्व रखते है। दिन के ढलने से वह अपने जीवन के ढलने का आभास पाकर चिन्तित हो उठता है, रात्रि की नीरवता, अन्धकार, और निर्जनता से अपने जीवन की शून्यता, निराशा और एकाकीपन का साम्य पाकर चीत्कार कर उठता है तो उल्कापात मे अपने प्राणान्त का संकेत पाकर काँप जाता है। दूसरे शब्दो मे, निराशावादी कवि

१—नाश और निर्माण, गीत-संख्या, १६ पृ० ३१।

अपनी मन स्थिति के अनुकूल ही प्रकृति के क्रिया-कलापो का निरीक्षण करता है और उस निरीक्षण की प्रतिक्रिया के रूप में निराशावादी प्रभाव ही ग्रहण करता है।

बच्चन के 'निशा-निमत्रण' (सन् १६३७-३८) और 'एकान्त सगीत' (सन् १६३८-३६) में सग्रहीत गीतों में उक्त प्रवृत्ति विशेष रूप में मिलती है। कवि ने प्रकृति के व्यापारों का निरीक्षण घोर निराशावादी मन स्थिति में किया है। अत उसकी निराशावादी मन स्थिति की पृष्ठभूमि समझने के लिए एक दृष्टि उसके जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों पर डाल लेना अपेक्षित है।

नवम्वर, १६३६ ई० में कवि की जीवन-संगिनी उसको जीवन में सघर्ष करने के लिए अकेला छोड़कर दिवगत होगई। कवि के कोमल हृदय को इस दुर्घटना से इतना आघात पहुँचा कि लगभग ५-६ वर्ष तक उसका मानसिक सतुलन बिगड़ा रहा। यौवन-मदिरा की मस्ती मे झूमने वाला कवि अब निराशा और विषाद के गीत गाने लगा। युवावस्था स्वभाव से महत्वाकाक्षिणी होती है। बच्चन 'निशा-निमत्रण' और 'एकान्त-सगीत' के रचना-काल में एक साधारण-सी शिक्षा-सस्था में सामान्य सहायक अध्यापक का कार्य करते थे। कवि का कल्पनाशील हृदय इस सामान्य स्थिति से सन्तुष्ट नही रह सकता था—अलकापुरी में विहार करनेवाले कवि-मानस को सामान्य-सी स्थिति पर संतोष होना कठिन था। आर्थिक और सामाजिक स्थिति युवको के लिए विशेष महत्व रखती है। युवक अपने अभाव और असफलता का उत्तरदायित्व केवल अपने ऊपर न मानकर निष्ठुर समाज पर भी मानता है। अभावमय जीवन में जब उसे समाज के किसी भी कोने से समवेदना नही मिलती तब वह समाज से उदासीन होकर आत्म-केन्द्रित बनता जाता है। आत्म-केन्द्रित अवस्था मे जीवन के अभाव, असफलता एवं उदासीनता भीषण रूप धारण करके उसके सम्मुख उपस्थित होती हैं। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत सगीत' के गीत इसी एकान्तिक अवस्था में लिखे गए गीत है। पत्नी की मृत्यु गीतों की पृष्ठभूमि मे मृत्यु के वातावरण को उपस्थित करने-वाली है।

कवि के निराशावादी बन जाने का एक कारण उसका साहित्यिक

जीवन भी था। 'निशा-निमन्त्रण' (१६३७-३८ ई०) के पूर्व कवि के 'मधुशाला' (१६३५ ई०), 'खैयाम की मधुशाला' (१६३५ ई०), 'मधुवाला' (१६३६ ई०), और 'मधुकलश' (१६३७ ई०) रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। उक्त रचनाओं ने जहाँ उसे लोकप्रिय बना दिया था वहाँ आदर्शवादी आलोचकों के तीव्र व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य भी। कवि ने अपनी स्थिति को 'मधु-कलश' मे स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया किन्तु उतना पर्याप्त नहीं था। पत्नी के चिर वियोग से उसका हृदय वैसे ही व्यथित था, उस पर भी उसे समवेदना न मिलकर समाज से भीषण प्रहार मिले। जैसे, व्यथित अंग हलके-से स्पर्श को भी सहन नहीं कर पाता, कवि का घायल हृदय समाज की आलोचना न सह सका। उसका स्वभाव एकाकी, मन स्थिति उदासीन और दृष्टिकोण निराशावादी बन गया। ऐसी निराशावादी-परिस्थिति मे बच्चन ने प्रकृति के व्यापारो का निरीक्षण किया है।

'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त सगीत' के गीतो का वातावरण सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक सीमित है। दिन भर की निष्फल यात्रा से थके हुए पथिक के समान कवि मानो मार्ग मे ही बैठ गया और एक साथी की कल्पना करके उसको अपनी रामकहानी सुनाने लगा। 'निशा-निमन्त्रण का कल्पित साथी 'एकान्त संगीत' मे विदा हो जाता है और कवि अपने को नितान्त एकाकी पाकर अपनी व्यथा-वेदना रात्रि के दृश्यो और व्यापारो को ही सुनाने लगता है। उसका एक मात्र साथी-संगी प्रकृति और उसके विभिन्न उपकरण बन जाते हैं। अस्तु।

संध्या-समय 'दिन को जल्दी-जल्दी ढलता हुआ देखकर' पथिक विह्वल हो उठा। उसने देखा कि वृक्षो की छाया भी अब मिट चली, जिसको मिटता हुआ देखकर मानो उसे अपनी विगत जीवन-संगिनी का विछोह याद आगया और वह अपने साथी को सम्बोधित करके कहने लगा—

जग के विस्तृत अन्धकार में,
जीवन के शत-शत विचार में,
हमें छोड़ कर चली गई, लो, दिन की मौन सगिनी छाया।
साथी, अन्त दिवस का आया![1]

१—निशा-निमन्त्रण, १६३७-३८ ई०, गीत-सख्या २, पृ० २६।

संध्या सिन्दूर लुटाती है!

× × ×

उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है,
आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की सी बन जाती है।
संध्या सिन्दूर लुटाती है![1]

धीरे-धीरे संध्या भी मिटी, रात आई और अन्धकार बढ़ने लगा। उधर रात्रि की भीषणता बढ़ी, इधर कवि के हृदय की बेचैनी। उसे प्रतीत होने लगा कि कदाचित् उसका अस्तित्व भी आज समाप्त होने जा रहा है—

उदित संध्या का सितारा!
थी जहाँ पल पूर्व लाली
रह गई कुछ रेख काली
अब दिवाकर का गया मिट तेज सारा, ओज सारा!
उदित संध्या का सितारा!
शोर स्यारों ने मचाया,
(अन्धकार हुआ) बताया,
रात के प्रहरी उलूकों ने उठाया स्वर कुठारा!
उदित संध्या का सितारा!

था उजाला जब गगन में,
था अँधेरा ही नयन में,
रात आती है हृदय में भी तिमिर अवसाद भरती !
अब निशा नभ से उतरती ![1]

मार्ग-भटकेहुए पथिक का पश्चात्ताप अपने जीवन की असफलता पर स्वयं कवि का पश्चात्ताप है।

रात्रि की भयानकता को बढ़ानेवाले जितने भी भीषण व्यापारों की कल्पना की जा सकती है, बच्चन ने लगभग उन सबको व्यक्त किया है। रात्रि की नीरवता को चीरनेवाला भीषण तूफान, हड्डियों में चुभनेवाली शिशिर की शीतल वायु, उल्कापात, बादलों का घिरना, मूसलाधार वृष्टि, कुत्तों का भौंकना, अमंगल की सूचना देनेवाले पागल मादा शृगाल का रोना आदि अनेक भीषण व्यापारों का कवि ने सूक्ष्म वर्णन किया है, उनकी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है और साथ-ही-साथ अपनी निराशावादी मनःस्थिति को भी व्यक्त किया है। कवि की दृष्टि निर्मल चन्द्रिका, मन्द समीर, तारकखचित अम्बर आदि रमणीक दृश्यों पर न पड़कर केवल विनाशोन्मुख एवं भयंकर दृश्यों पर पड़ी है। मृत्यु-जैसा भीषण वातावरण समस्त गीतों में उपस्थित किया गया है।

'निशा-निमन्त्रण' (सन् १९३७-३८) से 'एकान्त संगीत' (सन् १९३८-३९) के गीतों में कवि के हृदय की बेचैनी बढ़ी हुई है, अतः 'एकान्त-संगीत' में वह कभी प्रकृति के स्वच्छन्द जीवन से अपने जीवन की तुलना करता है, कभी रात्रि के शून्य वातावरण में अपने एकाकी जीवन की भीषणता का अनुमान करके काँप जाता है तो कभी नभ के तारों अथवा दिग्व्यापी अन्धकार को सम्बोधित करके अपनी व्यथा पर चीत्कार कर उठता है। रात्रि की स्तब्धता और भीषणता के समान ही उनके हृदय की निराशा उग्रतम रूप धारण किए हुए है। मध्य निशा में किसी पक्षी की कूज सुनकर वह अपने जीवन से उसकी तुलना करने लगता है—

१—निशा-निमन्त्रण, १९३७-३८ ई०, गीत-संख्या ८, पृ० ३३

मध्य निशा में पछी बोला !
ध्वनित धरातल और गगन है,
राग नहीं है, यह क्रन्दन है,
टूटे प्यारी नींद किसी की, इसने कठ करुण निज खोला !
मध्य निशा में पछी बोला !

निश्चित गाने का अवसर है,
सीमित रोने को निज घर है,
ध्यान मुझे जग का रखना है, धिक् मेरा मानव का चोला !
मध्य निशा में पछी बोला ![1]

निशा की नीरवता में बढ़ी हुई व्यथा के कारण कवि जोर से चीत्कार करना चाहता है, किन्तु वह एक सभ्य समाज का सदस्य है; अतएव पत्ती के समान क्रन्दन करने के लिए स्वाधीन नही। समाज ने रोने और गाने के अवसर भी अपनी सुविधानुकूल सीमित कर दिये हैं। दुर्भाग्य के त्तणो मे अपने को पूर्ण एकाकी पाकर कवि आकाश के तारों को ही अपनी जीवन की व्यथा सुनाने लगता है—

ओ गगन के जगमगाते दीप !
दीन जीवन के दुलारे
खोगए जो स्वप्न सारे,
ला सकोगे क्या उन्हें फिर खोज हृदय समीप ?[2]

अन्धकारपूर्ण रात्रि और अपने जीवन में साम्य पाकर कवि चीत्कार कर उठता है—

ओ अँधेरी से अँधेरी रात !
आज गम इतना हृदय में
आज तम इतना हृदय में
छिप गया है चाँद-तारों का चमकता गात !
ओ अँधेरी से अँधेरी रात ![3]

रात्रि और चाँद को सम्बोधित करके कवि ने अपने दुःख, निराशा, असफलता आदि का जो करुण चित्रण किया है वह अत्यन्त मार्मिक और

१—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ११, पृ० २७।
२—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ६०, पृ० ७६।
—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ६१, पृ० ७७।

हृदय को झकझोरने वाला है। प्रकृति-चित्रण के माध्यम से अपनी व्यथा-विह्वलता की जितनी सफल अभिव्यक्ति कवि बच्चन ने की है उतनी सफलता हिन्दी के किसी अन्य कवि को नहीं मिल सकी। बच्चन के गीत अपनी व्यंजना की तीव्रता के कारण हृदय पर निराशावादी प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। अस्तु।

पंत, प्रसाद, निराला आदि छायावादी युग के पहले खेवे के कवियों के प्रकृति-चित्रण करनेवाले गीतों की तुलना बच्चन, नरेन्द्र आदि दूसरे खेवे के कवियों के गीतों से करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युग में निराशावाद उग्रतर रूप धारण करता गया है। प्रसाद और पंत ने प्रकृति के उज्ज्वल और भीषण दोनों रूपों को अपने गीतों में चित्रित किया है; जबकि बच्चन और नरेन्द्र केवल उसके अभावमय रूप को ही उपस्थित कर सके हैं। निराशावादी कवियों ने प्रकृति का वस्तुगत चित्रण नहीं किया अपितु उसके माध्यम से अपनी सूक्ष्म मनोदशाओं को व्यक्त किया है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को क्रूर, निष्ठुर अथवा अमंगलकारी नहीं माना; अतएव स्वयं प्रकृति अथवा उसका कोई विशेष क्रिया-कलाप कवियों की निराशा का विषय नहीं बन सका। कहीं-कहीं प्रकृति व्यथित हृदय को सान्त्वना प्रदान करती हुई भी चित्रित की गई है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति छायावादी कवियों की निराशा का विषय नहीं अपितु निराशा और दुःख को व्यक्त करने का माध्यम है।

मध्य निशा में पछी बोला !
ध्वनित धरातल और गगन है,
राग नहीं है, यह क्रन्दन है,
टूटे प्यारी नींद किसी की, इसने कठ करुण निज खोला !
मध्य निशा में पछी बोला !

निश्चित गाने का अवसर है,
सीमित रोने को निज घर है,
ध्यान मुझे जग का रखना है, धिक् मेरा मानव का चोला !
मध्य निशा में पछी बोला ![1]

निशा की नीरवता मे बढ़ी हुई व्यथा के कारण कवि जोर से चीत्कार करना चाहता है, किन्तु वह एक सभ्य समाज का सदस्य है, अतएव पक्षी के समान क्रन्दन करने के लिए स्वाधीन नही। समाज ने रोने और गाने के अवसर भी अपनी सुविधानुकूल सीमित कर दिये हैं। दुर्भाग्य के क्षणो मे अपने को पूर्ण एकाकी पाकर कवि आकाश के तारो को ही अपनी जीवन की व्यथा सुनाने लगता है—

ओ गगन के जगमगाते दीप !
दीन जीवन के दुलारे
खोगए जो स्वप्न सारे,
ला सकोगे क्या उन्हें फिर खोज हृदय समीप ?[2]

अन्धकारपूर्ण रात्रि और अपने जीवन में साम्य पाकर कवि चीत्कार कर उठता है—

ओ अँधेरी से अँधेरी रात !
आज गम इतना हृदय में
आज तम इतना हृदय में
छिप गया है चाँद-तारों का चमकता गात !
ओ अँधेरी से अँधेरी रात ![3]

रात्रि और चाँद को सम्बोधित करके कवि ने अपने दुःख, निराशा, असफलता आदि का जो करुण चित्रण किया है वह अत्यन्त मार्मिक और

१—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ११, पृ० २७ ।
२—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ६०, पृ० ७६ ।
—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ६१, पृ० ७७ ।

हृदय को झकझोरने वाला है। प्रकृति-चित्रण के माध्यम से अपनी व्यथा-विह्वलता की जितनी सफल अभिव्यक्ति कवि बच्चन ने की है उतनी सफलता हिन्दी के किसी अन्य कवि को नहीं मिल सकी। बच्चन के गीत अपनी व्यंजना की तीव्रता के कारण हृदय पर निराशावादी प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। अस्तु।

पंत, प्रसाद, निराला आदि छायावादी युग के पहले खेवे के कवियों के प्रकृति-चित्रण करनेवाले गीतों की तुलना बच्चन, नरेन्द्र आदि दूसरे खेवे के कवियों के गीतों से करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युग में निराशावाद उग्रतर रूप धारण करता गया है। प्रसाद और पंत ने प्रकृति के उज्ज्वल और भीषण दोनों रूपों को अपने गीतों से चित्रित किया है; जबकि बच्चन और नरेन्द्र केवल उसके अभावमय रूप को ही उपस्थित कर सके हैं। निराशावादी कवियों ने प्रकृति का वस्तुगत चित्रण नहीं किया अपितु उसके माध्यम से अपनी सूक्ष्म मनोदशाओं को व्यक्त किया है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को क्रूर, निष्ठुर अथवा अमंगलकारी नहीं माना; अतएव स्वयं प्रकृति अथवा उसका कोई विशेष क्रिया-कलाप कवियों की निराशा का विषय नहीं बन सका। कहीं-कहीं प्रकृति व्यथित हृदय को सान्त्वना प्रदान करती हुई भी चित्रित की गई है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति छायावादी कवियों की निराशा का विषय नहीं अपितु निराशा और दुःख को व्यक्त करने का माध्यम है।

(३) प्रणय-निराशा—

छायावादी युग मे प्रेम के सयोग और वियोग दोनों पक्षो के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति करनेवाले गीत लिखे गए हैं। प्रणय की तीव्रता उसके वियोग-पक्ष मे अधिक होती है। भावो की गहराई और अनुभूतियो की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए प्रणय का वियोग-पक्ष जितना उपयुक्त है उतना संयोग-पक्ष नही। अनुभूतियो की तीव्रता वियोग-पक्ष में भी उतनी व्यजित नही की जा सकती जितनी प्रणय की असफलता और असफलाजन्य निराशा के प्रसग मे। अपने गीतों को तीव्रता और मार्मिकता प्रदान करने के लिए छायावादी कवियों ने प्रणय की असफलता पर ही प्राय रुदन किया है। वियोग होने पर पुन सयोग की आशा, क्षीण चाहे जितनी हो, बनी अवश्य रहती है, अत कवियो को वियोग-चित्रण मे अपने हृदय का रक्त बहाने का विशेप अवसर नही मिल सकता था। किन्तु असफलता चिर वियोग होने के कारण सवेगों को तीव्रता के साथ व्यक्त करने का खुला अवसर दे देती है। आँसू और उच्छ्वासो से लेकर आत्म-विध्वस की कामना तक उग्र से उग्र दुखात्मक अनुभूतियाँ प्रणय की असफलता के प्रसग में व्यक्त की जा सकती हैं। छायावादी गीतो मे प्रणय-निराशा आँसू और उच्छ्वास से लेकर आत्मघात की कामना जैसी घोर निराशावादी अनुभूति तक व्याप्त है। प्रणय-निराशा छायावादी गीतो की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अत उसका सम्यक् अनुशीलन करने के लिए हमे प्रणय-काव्य का कुछ विस्तार के साथ अध्ययन करना होगा। प्रणय-काव्य का सामान्य परिचय देने के अतिरिक्त प्रणय-निराशा के विकास, उसके मनोवैज्ञानिक आधार, प्रणय-निराशा की विभिन्न अवस्थाओ, परिस्थितियो तथा रूपो का अध्ययन करने से छायावादी युग के प्रणय-काव्य के निराशावाद का सम्यक् अनुशीलन हो सकेगा।

सामान्य परिचय—

१६ वीं शती के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-भाषी प्रदेश में राष्ट्रीय अध:पतन की वेदनापूर्ण अनुभूति ने हिन्दी-काव्य-धारा को आत्म-संतोष (भक्ति-काव्य) और नायक-नायिकाओं के हास-विलास (रीति-काव्य) की ओर से समाज की वस्तुस्थिति पर दृष्टिपात करने को विवश किया था। जिस प्रकार मध्यकालीन मस्ती और निश्चिन्तिता को चीरता हुआ आधुनिक जीवन अपनी चिन्ता और वेदनामय स्फूर्ति लिए हुए संक्रान्ति कर रहा था, उसी प्रकार भक्ति और रीति-काव्य के बीच से आधुनिक काव्यधारा व्यथा और क्षोभ लिए हुए प्रस्फुटित होने लगी थी। भारतेन्दु-युग ने राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने के साथ-साथ मध्यकालीन काव्यधाराओं को भी प्रवहमान बनाए रखा क्योंकि १६ वीं शती में भारतीय जीवन पूर्णरूपेण आधुनिक नहीं बन पाया था। २० वीं शती के पदार्पण करने के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना सक्रिय रूप धारण करने लगी, अत: द्विवेदी-युग का काव्य निष्क्रिय विलास-भावना से समझौता न कर सका। शृंगार-भावना का विरोध करके उसने कर्मण्यता, समाज-सेवा और देशोद्धार के आदर्श समाज के सम्मुख उपस्थित किए। द्विवेदी-युग ने प्रणय-भावना का विरोध तो किया किन्तु हृदय की रागात्मक वृत्तियों को अनुरंजित करने के लिए रीति-काव्य के समान सरस किसी अन्य काव्य-धारा को जन्म नहीं दिया। आदर्शवादिता के नीरस राग को बुद्धि स्वीकार कर सकती थी, मन उसमें नहीं रम सकता था। काव्य की सरस आत्मा नीरस उपदेशवादिता का भार अधिक दिनों तक वहन करने में असमर्थ थी। प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी। और द्विवेदी-युग की नैतिकता के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया तीन रूपों में व्यक्त हुई। (अ) प्रकृति के माध्यम से शृङ्गार-भावना की अभिव्यक्ति, (आ) रहस्यवाद के रूप में प्रणय-भावना की अभिव्यक्ति और (इ) प्रेयसी-प्रियतम का लौकिक प्रणय।

(अ) प्रकृति के माध्यम से शृंगार-भावना की अभिव्यक्ति—

प्रकृति के विभिन्न अवयवों पर स्त्री के अंग-प्रत्यङ्गों का आरोप करके रूप-चित्रण करना और प्रकृति के माध्यम से प्रणय के संयोग-वियोग की व्यंजना करना इस प्रकृति-चित्रण की विशेषताएँ थीं। रामचन्द्र

शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति को 'प्रच्छन्न नारी-प्रेम' कहा है। इस 'नारी-प्रेम" में वियोग-व्यथा की उतनी अभिव्यक्ति नही की गई थी जितनी सयोग-पक्ष की। अत प्रस्तुत निबन्ध-क्षेत्र मे उसकी समीक्षा नही आती। प्रकृति के माध्यम से शृगार-भावना की अभिव्यक्ति का रूप जानने के लिए निराला की 'जुही की कली' का अध्ययन किया जा सकता है। द्विवेदी-युग की नैतिकता का ज्यों-ज्यो अकुश ढीला पड़ता गया नारी-प्रेम (शृगार-भावना) प्रच्छन्न न रहकर स्पष्ट रूप मे व्यक्त होने लगी और प्रकृति-चित्रण का उपयोग हृदय की आशा-निराशा, वेदना, दु ख, शून्यता आदि अनुभूतियो के चित्रण के लिए होने लगा, जिसका अध्ययन हम कर चुके हैं।

(आ) रहस्यवाद के रूप में प्रणय-भावना की अभिव्यक्ति—

प्रणय-भावना का दूसरा रूप अज्ञात असीम को प्रियतम मानकर और आत्मा को प्रेयसी मानकर प्रस्तुत किया गया। इस प्रणय में मनुहार,आँख-मिचौनी,प्रतीक्षा,सदेश-भेजना, लुक-छिपकर मिलना आदि प्रणय की अनेक अवस्थाओ का सरस चित्रण किया जाता था। प्रियतम के अज्ञात और असीम होने के कारण बेचारी प्रेयसी को प्रतीक्षा ही अधिक करनी पड़ी, सयोग-सुख का उसे अनुभव बहुत कम हो सका। छायावादी युग में पुरुष कवियों के अतिरिक्त स्त्री-कवियों ने भी इस प्रणय के गीत गाए हैं। रहस्यवाद की समीक्षा करते समय हम प्रणय के इस रूप की समीक्षा कर चुके हैं। अत यहाँ केवल लौकिक प्रणयजन्य निराशा की समीक्षा करना अपेक्षित है।

(इ) प्रेयसी-प्रियतम का लौकिक-प्रणय—

छायावादी युग प्रधानत गीति-काव्य का युग है, इसलिए प्रणयव्यथा को लेकर इस युग मे कोई महत्वपूर्ण प्रबन्ध काव्य तो नही लिखा गया, प्रणय-आख्यानक अवश्य लिखे गए, किन्तु उनमे भी घटनाओ को कोई विशेष महत्व नहीं मिल सका। प्रणय-आख्यानको मे घटना-सगठन प्राय एकसा है। समाज से दूर, प्रकृति के किसी निर्भ्रान्त प्रदेश मे दैव-सयोग से नायक और नायिका मिल जाते हैं, पहली ही भेट मे हृदय का आदान-प्रदान हो जाता है। कुछ दिनो तक आँख-मिचौनी चलती है और फिर दोनो में से कोई एक दूसरे से विदा माँगकर चल देता है। उनका सयोग जैसे विधि-विधान था वैसे वियोग भी

मानो दैव-इच्छा हो। वियोग होने के पश्चात् पुन संयोग नहीं होता। आँसू का सागर और उच्छ्वासो का तूफान घुमड़ने लगता है और संयोग की स्मृति एक शूल बनकर चुभने लगती है। कोई भाग्य अथवा नियति को दोष देता है, कोई स्वय अपने को, तो कोई प्रेयसी को। प्रणय-आख्यानको मे वियोग-पक्ष का प्राधान्य देखकर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनके प्रारम्भ में संयोग-पक्ष का जो चित्रण है, वह केवल विरह-व्यथा को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए उज्ज्वल पीठिका के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। छायावादी प्रणय-आख्यानक, प्रणय के निराशावादी पक्ष की अभिव्यक्ति को ही लक्ष्य करके लिखे गए है। सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्रंथि' (जनवरी, १९२०), प्रसाद का 'आँसू' (१९२५ ई०), इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' (१९२७ ई०), 'राजकुमार' (१९३१ ई०) तथा 'तारा' (१९३१ ई०) और रामकुमार वर्मा का 'निशीथ' (१९३३ ई०) आदि प्रणय-आख्यानको को उपर्युक्त कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रणयजन्य व्यथा, वेदना, निराशा आदि दु खात्मक अनुभूतियो की जितनी तीव्र अभिव्यक्ति स्फुट गीतो मे हुई है उतनी उक्त आख्यानको में नहीं हो सकी, अतः हम प्रणय-आख्यानको की उपेक्षा करके केवल स्फुट प्रणय-गीतो की समीक्षा करके प्रणय-निराशा की गम्भीरता का अनुमान लगा सकते हैं। अस्तु।

प्रणय-निराशा का विकास—

लौकिक प्रणय मे निराशावादी अनुभूतियो का विकास विरहोच्छ्वास और वियोग के आँसुओ से लेकर आत्मग्लानि, पश्चात्ताप, विषाद, ऐकान्तिकता, अतिवैयक्तिकता और आत्मघात जैसी घोर निराशावादी प्रवृत्तियो की ओर हुआ है। सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्रन्थि' (जनवरी, १९२०) और प्रसाद के 'आँसू' (१९२५ ई०) विरहोच्छ्वासप्रधान प्रणय-काव्य के उदाहरण हैं और बच्चन, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, गिरिजाकुमार माथुर, अज्ञेय आदि छायावाद के दूसरे खेवे के कवियो के प्रणय-गीतों में निराशावादी भावनाओ का चित्रण है। उदाहरणतः सन् १९२० मे पंत जी लिखते हैं—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित-चातक वारि को,

वह, मधुप बिंधकर तड़पता है, यही
नियम है ससार का, रो हृदय, रो ![1]

और प्रसाद जी ने सन् १६२५ मे लिखा—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन मे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई ![2]

जब कि गिरिजाकुमार माथुर सन् १६३८-४० में लिखते हैं—

आँसू तक न बचे नयनों में।
× × ×
ठडी हुई चिता की रज में,
क्या निशान पिछली बातों का
ऊपर फूल बना दिखता है
जो जीवन में तीर समाया,
लो अब अत हुआ जाता है जो बाकी था अश्रुकनों में ![3]

और बच्चन सन् १६३८-३६ में लिखते हैं—

मुझको प्यार न करो डरो !
जो मै था अब रहा कहाँ हूँ,
प्रेत बना निज घूम रहा हूँ,
बाहर ही से देख न आँखों पर विश्वास करो !
× × ×
जीवन के सुख-सपने लेकर,
तुम आओगी मेरे पथ पर,
है मालूम कहूँगा क्या मैं, मेरे साथ मरो !
मुझको प्यार न करो डरो ![4]

पत और प्रसाद की प्रणय-निराशा की तुलना माथुर और बच्चन की निराशा से करने पर उसका विकास स्पष्ट हो जाता है। पंत और प्रसाद अपनी असफलता पर केवल रुदन करके व्यथा का भार हलका

१—ग्रन्थि (जनवरी, १६२०) पृ० ३२।
२—आँसू (१६२५) पृ० १४।
३—नाश और निर्माण, गीत-सख्या ६, पृ० ११।
४—एकान्त सगीत (१६३८-३६ ई०) गीत-सख्या ६५, पृ० १११।

कर लेते हैं तो गिरिजाकुमार माथुर को प्रणय-निराशाजन्य विषाद के कारण अपना हृदय चिता की बुझी हुई राख का ढेर-सा प्रतीत होता है, शायद वह ढेर भी कुछ क्षणों के बाद न रहे। बच्चन की प्रणय-निराशा ने कवि को अपनी ही दृष्टि में भयंकर बना दिया है। वह एक बार प्रणय में असफल होने के कारण इतना निराश हो चुका कि अब किसी अन्य प्रणयकामा रमणी से केवल अपने साथ मरने का प्रस्ताव कर सकता है। अस्तु। छायावादी युग के अधिकांश गीत प्रणय के निराशावादी पक्ष की ही अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्तिगत निराशा की व्यंजना सबसे अधिक प्रणय-गीतों के माध्यम से हुई है। इस प्रणय-निराशा के सम्यक् अनुशीलन के लिए हमें उसका मनोवैज्ञानिक आधार भी जान लेना अपेक्षित है।

प्रणय-निराशा का मनोवैज्ञानिक आधार—

हमने छायावादी काव्य के निराशावाद का अनुमानित मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते समय काम-कुण्ठा, अवदमित इच्छा, अन्तर्द्वन्द्व आदि मानसिक क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तत्वों की ओर संकेत किया था। यहाँ उनका कुछ अधिक विस्तार के साथ अध्ययन कर लेना चाहिए। छायावादी गीतों में संवेदनीयता और मार्मिकता का विशेष ध्यान रखा गया है। बहुत सम्भव है कि जिन गीतों में प्रणय-निराशा का मार्मिक चित्रण किया गया है उनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत जीवन से कुछ भी न हो। कवियों ने अपने गीतों को अधिक-से-अधिक संवेदनीय बनाने की दृष्टि से ही दुःखात्मक अनुभूतियों की उनमें अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति की हो। काव्य में अभिव्यक्त प्रत्येक अनुभूति का कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। भक्त कवि जब अपने भगवान के सम्मुख अपने को पापी, पतित, कामी आदि हीनरूपों में प्रस्तुत करता है तब उस को हम सचमुच ही 'पतितन कौ टीकौ' नहीं समझ लेते। इसी प्रकार जब छायावादी कवि प्रथम पुरुष की शैली में प्रणय-निराशा की अभिव्यंजना करता है तब उसे निराश प्रेमी समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अतः यहाँ जो मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया जाता है वह केवल अनुमानित है, हो सकता है कि वह कुछ कवियों के विषय में सत्य भी प्रमाणित हो। प्रणय-काव्य के मनोवैज्ञानिक आधार का अनुमान लगाने के लिए हमें (क) युवकों का मानसिक

संघर्ष और (ख) मानसिक संघर्ष को उत्पन्न करनेवाली सामाजिक परिस्थितियों का पर्यवेक्षण करना होगा।

(क) युवकों का मानसिक संघर्ष—

युवावस्था स्वभाव से हृदय की कोमलता और भावुकता की अवस्था होती है। किशोर युवक के प्रणय-व्यापार में संभोगेच्छा का उतना प्राबल्य नहीं होता जितना भावुकता, सौन्दर्य-पूजा और आत्म-बलिदान की कामना का। युवक का भावुक हृदय परिस्थितियों के प्रति जड़ वास्तविकतावादी दृष्टि नहीं रखता। वह वास्तविक से अधिक कल्पनाशील और स्वच्छन्दतावादी (Romantic) होता है। सौन्दर्य का आकर्षण इस अवस्था में एक मधुर पीड़ा, पूजा की कामना और बलिदान की चाह लिए हुए हृदय पर अधिकार करता है। यदि उसको अपनी कोमल वृत्तियों में तनिक भी ठेस लगती है तो पूजा की कामना कुंठित होकर उग्र रूप धारण कर लेती है। उसके हृदय में एक भीषण संघर्ष छिड़ जाता है। एक ओर प्रियविषयक रति और दूसरी ओर प्रणय-वंचना के कारण कोमल वृत्तियों पर आघात, दोनों का संघर्ष उसके मानस को विक्षुब्ध कर देता है। प्रियविषयक रति उसे प्रणय का परित्याग नहीं करने देती और कोमल वृत्तियों पर आघात के कारण उत्पन्न एक विचित्र स्वाभिमान प्रेम की डगर में उसे एक पग आगे नहीं रखने देता। जीवन के एक क्षेत्र में असफल युवक जीवन, जगत् और समाज से उदासीन होकर कल्पना के लोक में पलायन करने लगता है।

स्वभाव से कल्पनाशील और भावुक होने के कारण युवक प्रणय में हृदय का पूर्ण आदान-प्रदान, पूर्ण आत्मत्याग और पूर्ण आत्म-समर्पण चाहता है, जो वास्तविक जगत् में मिलना कठिन है ; इसलिए उसके प्रणय-व्यापार में असफलता की ही सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं। कोमल वृत्तियों पर आघात, उसकी कल्पनाशीलता और भावुकता को सौगुना बढ़ा देता है। और एक असफल प्रेमी बड़ी सरलता से कवि बन जाता है। छायावादी युग आत्माभिव्यक्ति-प्रधान गीतों का युग है, इसलिए इस युग के गीतों में प्रणय-निराशा की अभिव्यक्ति का प्राधान्य होना स्वाभाविक-सा था।

प्रणय मानव-हृदय का कोमलतम पक्ष है। विश्व के आघात-

प्रतिघातों को धीरतापूर्वक सहन करनेवाला व्यक्ति प्रणय की हलकी-सी चोट पर विह्वल हो जाता है। निराशा और क्षोभ मानस के कोने-कोने को झकझोर जाते है। प्रणय के आघात से हृदय की रागात्मक वृत्तियाँ छिन्नतार हो जाती हैं। कल्पना के महल ढह जाते हैं। संसार की असारता, जीवन की व्यर्थता और समाज की निष्ठुरता का अनुभव जितना एक निराश प्रेमी को होता है उतना कदाचित् किसी योगी को जन्म भर की साधना के पश्चात् भी न हो सके। छायावादी युग में आदि से लेकर अन्त तक निराशावाद का जो वातावरण फैला हुआ है उसका एक कारण यह भी है कि अधिकांश कवियो ने अपनी कोमल वृत्तियो पर आघात सहकर ही काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया है। 'आँसू' (प्रसाद), 'वीणा' और 'ग्रंथि' (सुमित्रानन्दन पंत) और 'नीहार' (महादेवी वर्मा) के गीत कदाचित् इस अनुमान की पुष्टि कर सके। छायावादी कवियों में से अधिकांश वर्तमान कवि हैं इसलिए उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय मे (विशेषकर जीवन के कोमल पक्ष के विषय में) कुछ भी कहना अनुचित है। हम उनके गीतों को ही आधार मानकर कुछ अनुमान लगा सकते हैं और उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि छायावादी युग के अधिकांश कवियों ने (प्रत्येक कहना कुछ आपत्तिजनक हो सकता है) प्रणय की मधुर पीड़ा लिए ही काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया है। उनकी मधुर पीड़ा ही अध्यात्मवाद, तृष्णावाद, मस्तीवाद, दुःखवाद, निराशावाद आदि अनेक दार्शनिक और व्यक्तिगत निराशावादी प्रवृत्तियो के रूप मे विकसित होती गई है। यदि इस युग की मुख्य प्रवृत्तियों का मनो-विश्लेषण किया जाय तो उनमे कवि के मानसिक द्वन्द्व के अनेक तत्व सन्निहित मिलेगे और उस मानसिक द्वन्द्व के भी मूल में कवि की रागात्मक प्रवृत्तियों पर कोई छिपा हुआ आघात दृष्टिगत होगा।

(ख) मानसिक संघर्ष को उत्पन्न करनेवाली सामाजिक परिस्थितियाँ—

छायावादी युग में जिस वर्ग के हाथ मे काव्य-धारा का नेतृत्व था वह स्वभाव से स्वच्छन्दतावादी था। स्वच्छन्दतावाद की प्रेरणा बहुत-कुछ पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव का परिणाम था। किन्तु, समाज का नेतृत्व जिस वर्ग के हाथ में था वह मर्यादावादी होने के कारण स्वच्छन्दतावाद का कट्टर विरोधी था। स्वच्छन्दतावादी वर्ग मे उन कवियों की गणना की जा सकती है जो अँगरेजी शिक्षा प्राप्त

किए हुए थे। इनमे से अधिकांश कवि विश्वविद्यालयो से शिक्षाप्राप्त नवयुवक थे। मर्यादावादियो में समाज के वयोवृद्ध सम्मलित थे जो अँगरेजी आचार-विचार के विरुद्ध थे। स्वच्छन्दतावाद और मर्यादा-वाद के सघर्ष में युवक अपने को पराजित समझ रहा था और जब उसने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को वाणी देना प्रारम्भ किया तब उसके गीतों में पराजय और असफलता की भावनाओं का व्यक्त होना स्वाभाविक-सा होगया। द्विवेदी-युग तक काव्य का आधिपत्य मर्यादा-वादी साहित्यकारों के हाथ मे था और समाज में भी पाश्चात्य विचारों का कोई व्यापक प्रभाव नहीं था इसलिए हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग तक के काव्य में कवि के मानसिक सघर्ष की अभिव्यजना का अभाव है और छायावादी युग के उन कवियों में भी मानसिक सघर्ष का अभाव है जिन्होंने द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता से प्रेरणा ग्रहण की थी। इस प्रसग मे मैथिलीशरण गुप्त के नाम का उल्लेखमात्र कर देना पर्याप्त होगा। जैसे-जैसे काव्य-क्षेत्र मे पाश्चात्य स्वच्छन्दता-वाद के समर्थको का प्रभाव बढ़ता गया, छायावादी काव्य मे निराशा-वाद भी सघन होता गया। स्वच्छन्दतावादी और मर्यादावादी विचारों का सघर्ष केवल बौद्धिक या साहित्यिक नहीं था, उसका सम्बन्ध समाज के आचार-विचार, विशेषकर नैतिक मर्यादाओं के पालन अथवा उल्लंघन से था। स्वच्छन्दतावादी युवक प्रणय-व्यापार मे सामाजिक रूढियों को स्वीकार नहीं करना चाहता है। वह युवक और युवती के स्वच्छन्द प्रणय का समर्थक था जिसकी प्रेरणा उसे पाश्चात्य सभ्यता से नई-नई मिली थी। छायावादी युग का समाज इस स्वच्छन्द प्रणय को फूटी आँखो से भी नहीं देख सकता था। ऐसी परिस्थिति मे प्रणय-व्यापार मे असफलता और निराशा की सम्भावना ही अधिक थी।

नवयुवक अपने प्रणय-व्यापार मे जाति-पाँति आदि के किसी बन्धन का स्वीकार नहीं करना चाहता था, जब कि भारतीय समाज स्वच्छन्द प्रणय को किसी भी दशा मे स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। समाज का नेतृत्व मर्यादावादी वयोवृद्धो के हाथ मे होने के कारण युवको को न केवल प्रणय-व्यापार मे असफलता मिल रही थी अपितु उनको अपने हृदय का स्वच्छन्द आदान-प्रदान करने के कारण नाना प्रकार के लाछन, प्रहार और घृणा भी सहन करनी पड़

रही थी। ऐसे वातावरण में नवयुवकों का समाज से उदासीन होकर व्यक्तिवादी बन जाना स्वाभाविक था।

भारतीय समाज में युवक और युवतियों के स्वच्छन्द सम्पर्क के अवसर वैसे भी बहुत कम थे, किन्तु विश्वविद्यालय आदि के वातावरण में यदि पारस्परिक सम्पर्क के कारण प्रणय-सम्बन्ध हो भी जाता था तो समाज उसका सम्मान नहीं करता था। दोनों की इच्छाओं के विरुद्ध उनका विवाह किसी अन्य युवती अथवा युवक के साथ कर दिया जाता था। निराश प्रेमियों को निरपराध ही अनेक प्रकार की लांछनाएं सहन करनी पड़ती थीं, साथ ही प्रणय-निराशा का विषाद भी। अतः युवक अथवा युवतियों की प्रणय-निराशा यदि मृत्यु-कामना जैसा उग्ररूप धारण करले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

प्रणय-निराशा केवल विवाह के पूर्व ही प्रारम्भ नहीं होती, दाम्पत्य जीवन में भी कभी-कभी उसका अनुभव हो जाया करता है। भारतीय समाज में विवाह की जो प्रथा है उसने वैवाहिक जीवन की सफलता से अधिक असफलता की सम्भावनाएं हैं। सामाजिक बन्धन और आर्थिक परिस्थितियों के कारण योग्य कन्या का पाणिग्रहण सदैव योग्य वर से ही नहीं हुआ करता और न युवकों को अपनी मनोवांछित जीवन-सहचरी ही सदैव मिल जाया करती है। जिस समाज में युवक और युवती को परस्पर पूर्वपरिचय के बिना केवल जन्मपत्री के आधार पर जीवन भर के लिए एक सूत्र में बांध दिया जाता है उस समाज में दाम्पत्य जीवन की सफलता की आशा अधिकांश रूप में दुराशा ही रहती है। अतः छायावादी युग की प्रणय-निराशा का कारण दाम्पत्य जीवन का असंतोष भी हो सकता है।

अँगरेजी शिक्षा ने युवकों में सुन्दर और सुशिक्षित सहधर्मिणी पाने की आकांक्षाएं तो उत्पन्न करदी थीं, किन्तु एक तो समाज में बालिकाओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं था, दूसरे दहेज जैसी दूषित प्रथा भी चल रही थी; ऐसी परिस्थिति में योग्य वर का योग्य कन्या के साथ पाणिग्रहण प्रायः सम्भव नहीं था। इस प्रकार के अनेक सामाजिक, आर्थिक और व्यक्तिगत कारणों से युवक और युवतियों

का व्यक्तिगत जीवन असतुष्ट था। युवक एक प्रकार के मानसिक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव कर रहे थे। इस अन्तर्द्वन्द्व की बड़ी-ही मार्मिक और सजीव अभिव्यक्ति युवक कवियों के प्रणय-गीतो में हुई है।

इन सब कारणो के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि राष्ट्रीय पराभव, सामाजिक सक्रान्ति और आर्थिक कठिनाइयों से उत्पन्न क्षोभ और निराशा अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई अन्य सवेदनीय विषय न पाकर प्रणय-निराशा के रूप में व्यक्त हुई हो। प्रणय-निराशा जिस प्रकार अनेक रूप धारण कर सकती है उसी प्रकार अन्य परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा भी प्रणय-निराशा के माध्यम से व्यक्त हो सकती है। इतना निश्चित है कि छायावादी युग के गीतों में निराशा का जो वातावरण है उसका एक प्रमुख कारण प्रणय-व्यापार की असफलता भी है। मनोविज्ञान की भाषा में, छायावादी गीतो की प्रणय-निराशा का आधार, अतृप्त इच्छाएँ, अवदमित आकांक्षाएँ और कामवृत्ति का अवरोध है जिसका कारण युवावस्था और सामाजिक परिस्थितियो की विपमता है।

प्रणय-निराशा की अवस्थाएँ—

छायावादी गीतो में प्रणय का चित्रण प्राय वियोग होने के पश्चात् की अवस्था से प्रारम्भ होता है इसलिए सयोगावस्था में उत्पन्न होने वाली किसी ऐसी परिस्थिति की अभिव्यक्ति उनमें नही हुई जो प्रेयसी और प्रियतम के परस्पर मान, कलह, सदेह आदि से उत्पन्न क्षुब्ध मानसिक अवस्था का प्रदर्शन कर सके। कवियों ने या तो वियोग की दुखद वेला के गीत गाए हैं या वियोग होने के पश्चात् की निराशावादी अवस्था का चित्रण किया है। सयोग का उल्लासमय चित्र वियोग के विषाद को उद्दीप्त करने के लिए पूर्वस्मृति के रूप मे उपस्थित किया गया है। वियोग हो जाने के पश्चात् पुन सयोग की सम्भावना अभिव्यक्त नहीं की गई। अत पुन संयोग होने के मार्ग मे बाधा उपस्थित करनेवाली परिस्थितियो का भी उनमें कोई उल्लेख नहीं हुआ। छायावादी कवियो की प्रणय-निराशा के गीत उस निराश प्रेमी के गीत हैं जो एक बार प्रणय-व्यापार मे असफल होने के पश्चात् उस ओर पुन पग बढ़ाने का साहस नहीं करता। छायावादी

गीतों में प्रणय-निराशा की केवल दो अवस्थाओं का चित्रण मिलता है—(अ) विदाई की वेला और (आ) वियोग की अवस्था। दोनों अवस्थाओं का चित्रण दुःखात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करता है।

(अ) विदाई की वेला—

रीतिकालीन काव्य में नायक के प्रस्थान करने की दुःखद वेला पर अनेक कवित्त, सवैये और दोहे लिखे गए हैं। उस प्रस्थान-वेला के वर्णन और छायावादी गीतों की विदाई की वेला के वर्णन में अन्तर है। रीतिकालीन नायक-नायिकाओं को विदा के समय दुःख अवश्य होता था किन्तु पुनः संयोग की आशा का सर्वथा अभाव नहीं होता था। छायावादी कवियों ने जिस वियोग की घड़ी का वर्णन किया है उसमें पुनः संयोग होने की कोई सम्भावना व्यक्त नहीं की गई, अपितु कहीं-कहीं तो पुनः संयोग की सम्भावना का निषेध तक किया गया है। यथा—

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?
आज से दो प्रेम-योगी अब वियोगी ही रहेंगे !

आयगा मधुमास फिर भी आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भर कर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर !

प्राण तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?[1]

पुनर्मिलन की सम्भावना के अभाव ने विदा के वातावरण को अधिक विषादपूर्ण, करुण एवं निराशावादी बना दिया है। प्रेमी को प्रेयसी से वियोग होने के पश्चात् शरीर-धारण तक किए रहने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती, फिर संयोग होने की बात तो दूर है। शिवमंगलसिंह 'सुमन' का निम्नोद्धृत गीत विदा-वेला का मार्मिक चित्रण करता है। युवक-हृदय का निश्छल किन्तु प्रगाढ़ स्नेह बड़े ही स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त किया गया है। प्रणय की असफलता का कारण प्रणय-वंचना न होकर सामाजिक व्यवधान प्रतीत होता है। विदा होते समय प्रेमी समझाता है—

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ३ (जनवरी, १९३७) पृ० ३।

का व्यक्तिगत जीवन असतुष्ट था। युवक एक प्रकार के मानसिक सघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव कर रहे थे। इस अन्तर्द्वन्द्व की बड़ी-ही मार्मिक और सजीव अभिव्यक्ति युवक कवियों के प्रणय-गीतों में हुई है।

इन सब कारणों के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि राष्ट्रीय पराभव, सामाजिक संक्रान्ति और आर्थिक कठिनाइयों से उत्पन्न क्षोभ और निराशा अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई अन्य सवेदनीय विषय न पाकर प्रणय-निराशा के रूप में व्यक्त हुई हो। प्रणय-निराशा जिस प्रकार अनेक रूप धारण कर सकती है उसी प्रकार अन्य परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा भी प्रणय-निराशा के माध्यम से व्यक्त हो सकती है। इतना निश्चित है कि छायावादी युग के गीतों मे निराशा का जो वातावरण है उसका एक प्रमुख कारण प्रणय-व्यापार की असफलता भी है। मनोविज्ञान की भाषा में, छायावादी गीतो की प्रणय-निराशा का आधार, अतृप्त इच्छाएँ, अवदमित आकाक्षाएँ और कामवृत्ति का अवरोध है जिसका कारण युवावस्था और सामाजिक परिस्थितियो की विषमता है।

प्रणय-निराशा की अवस्थाएँ—

छायावादी गीतों मे प्रणय का चित्रण प्राय वियोग होने के पश्चात् की अवस्था से प्रारम्भ होता है इसलिए सयोगावस्था में उत्पन्न होने वाली किसी ऐसी परिस्थिति की अभिव्यक्ति उनमें नही हुई जो प्रेयसी और प्रियतम के परस्पर मान, कलह, सदेह आदि से उत्पन्न क्षुब्ध मानसिक अवस्था का प्रदर्शन कर सके। कवियों ने या तो वियोग की दुखद वेला के गीत गाए हैं या वियोग होने के पश्चात् की निराशावादी अवस्था का चित्रण किया है। सयोग का उल्लासमय चित्र वियोग के विषाद को उद्दीप्त करने के लिए पूर्वस्मृति के रू[illegible] उपस्थित किया गया है। वियोग हो जाने के पश्चात् पुन स[illegible] सम्भावना अभिव्यक्त नहीं की गई। अत पुन सयोग हो[illegible] बाधा उपस्थित करनेवाली परिस्थितियों का भी उ[illegible] नहीं हुआ। छायावादी कवियो की प्रणय-निराशा [illegible] प्रेमी के गीत हैं जो एक बार प्रणय-व्यापार [illegible] पश्चात् उस ओर पुन पग बढ़ाने का साहस

मृत्यु अन्त है सब कुछ ही का फिर क्यों धींगा-धींगी, देरी ?
मुझे चले ही जाना है तो, विदा मौन ही हो फिर मेरी !
होना ही है यह तो प्रियतम ! अपना निर्णय शीघ्र सुनादो—
नयन मूँद लूँ मैं तब तक तुम रस्सी काटो, नाव बहादो ![1]

विदा की वेला कवि के लिए इतनी दुःखद है कि वह उसका नाम तक नहीं सुनना चाहता—अपने प्रियतम से वह विदा की सूचना भी नहीं चाहता। जब तक संयोग है, जीवन है; जिस समय वियोग-दुःख का थपेड़ा लगेगा, कवि का जीवन-दीप स्वयं बुझ जायगा—

जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना, पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना,
मुझसे मत कुछ कहकर जाना !
सेवक होवे बाध्य कि अनुमति लेकर जावे,
और देवता भी भक्तों के प्रति यह शिष्टाचार दिखावे,
पर तुम, प्राण-सखा तुम ! मेरे जीवन खेलों के चिर सहचर !
क्यों उसका सुख नष्ट करोगे पहले ही से विदा माँगकर !
किसी एक क्षण तक अपना वह खेल अनवरत होता जावे ;
मैं यह समझी रहूँ कि जैसे भूत युगों में तुम संगी थे, वैसे
साथ रहेगा आगामी भी युगों-युगों तक।
एक थपेड़े में बुझ जावे जीवन-दीपक का आह्लाद—
किन्तु विदा के क्षण के क्षण बाद ![2]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि छायावादी कवियों की विदा-वेला चिर वियोग की सम्भावना को व्यक्त करती है, अत अत्यन्त करुण है।

(आ) वियोग अवस्था

छायावादी गीतों में वियोग की अवस्था को जिस रूप में चित्रित किया गया है उसे दृष्टि में रखकर उस वियोग को वियोग न कहकर प्रणय की असफलता कहना अधिक संगत होगा। वियोग-अवस्था में पुनर्मिलन की सम्भावना अथवा अभिलाषा कुछ न कुछ शेष रहती है,

१—चिन्ता (१९४१ ई०) में संग्रहीत 'एकायन' (१९३४–३६ ई०), गीत-संख्या, ४३।

२—चिन्ता (१९४१ ई०) में संग्रहीत 'एकायन' (१९३४–३६ ई०), गीत-संख्या, ४५।

प्राण, मुझको भूल जाओ !
चाहता था स्वप्न में मैं सत्य का संसार पाना
चाहता था जड़-जगत में मैं तुम्हारा प्यार पाना
किन्तु सपने सत्य नहीं होते, मुझे तुम भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ !

× × ×

सोचता था भ्रांति जीवन की तुम्हीं में खो सकूँगा
कर स्वयं को लय प्रणय में मैं तुम्हारा हो सकूँगा
पर न मनचाहा जगत में पूर्ण होता, भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ !
लाभ क्या, तुमको सुनाने आज यदि बैठूँ कहानी
क्या मिलेगा, यदि उभाड़ूँ आज फिर बातें पुरानी
घाव सूखे फिर खुजाना भूल है, तुम भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ !

× × ×

हाय मत सिहरो तनिक भी आज मेरे देख दुर्दिन
तुम यही समझो कि, वह तो हो गया था साथ दो दिन
तुम कहाँ की, मैं कहाँ का, एक क्षण वह भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ !
क्यों दिखाऊँ आज तुमको हृदय के अंगार सारे
जब कि नभ के शून्य उर में जल रहे इतने सितारे
प्रणय में जलना नियम है, यह समझकर भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ !
जब समय जैसा पड़े सहना वही अभ्यास रक्खो
मैं न जीवन भर सकूँगा भूल तुम विश्वास रक्खो
आज इस विश्वास के बल पर मुझे तुम भूल जाओ
प्राण, मुझको भूल जाओ ![1]

विदा-वेला के सबसे अधिक करुण गीत कवि अज्ञेय ने 'एकायन्त' (१६३४-३६ ई०) में गाए हैं। विदाई की घड़ी को कवि मृत्यु की घड़ी समझता है, अतः शान्तिपूर्वक विदा होना चाहता है—

१—हिल्लोल, (१६३८ ई०) पृ० ४१, ४२, ४३ और ४४।

मृत्यु अन्त है सब कुछ ही का फिर क्यों धींगा-धींगी, देरी ?
मुझे चले ही जाना है तो, विदा मौन ही हो फिर मेरी !
होना ही है यह तो प्रियतम ! अपना निर्णय शीघ्र सुनादो—
नयन मूँद लूँ मैं तब तक तुम रस्सी काटो, नाव बहादो ![1]

विदा की वेला कवि के लिए इतनी दुःखद है कि वह उसका नाम तक नहीं सुनना चाहता—अपने प्रियतम से वह विदा की सूचना भी नहीं चाहता। जब तक संयोग है, जीवन है; जिस समय वियोग-दुःख का थपेड़ा लगेगा, कवि का जीवन-दीप स्वयं बुझ जायगा—

जाना ही है तुम्हें, चले तब जाना, पर प्रिय ! इतनी दया दिखाना,
मुझसे मत कुछ कहकर जाना !
सेवक होवे बाध्य कि अनुमति लेकर जावे,
और देवता भी भक्तों के प्रति यह शिष्टाचार दिखावे,
पर तुम, प्राण-सखा तुम ! मेरे जीवन खेलों के चिर सहचर !
क्यों उसका सुख नष्ट करोगे पहले ही से विदा माँगकर !
किसी एक क्षण तक अपना वह खेल अनवरत होता जावे;
मैं यह समझी रहूँ कि जैसे भूत युगों में तुम सगी थे, वैसे
साथ रहोगा आगामी भी युगों-युगों तक।
एक थपेड़े में बुझ जावे जीवन-दीपक का आह्लाद—
किन्तु विदा के क्षण के क्षण बाद ![2]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि छायावादी कवियों की विदा-वेला चिर वियोग की सम्भावना को व्यक्त करती है, अतः अत्यन्त करुण है।

(आ) वियोग अवस्था

छायावादी गीतों में वियोग की अवस्था को जिस रूप में चित्रित किया गया है उसे दृष्टि में रखकर उस वियोग को वियोग न कहकर प्रणय की असफलता कहना अधिक संगत होगा। वियोग-अवस्था में पुनर्मिलन की सम्भावना अथवा अभिलाषा कुछ न कुछ शेष रहती है,

१—चिन्ता (१९४१ ई०) में संग्रहीत 'एकायन' (१९३४–३६ ई०), गीत-संख्या, ४२।
२—चिन्ता (१९४१ ई०) में संग्रहीत 'एकायन' (१९३४–३६ ई०), गीत-संख्या, ४५।

छायावादी गीतों में आशा-अभिलाषा का एक प्रकार से अभाव है। उनमें प्रणय की असफलता से उत्पन्न पश्चात्ताप, विषाद, आत्मग्लानि आदि दुःखात्मक अनुभूतियों का ही वर्णन किया गया है, प्रणय की असफलता में विषाद की इतनी तीव्रता है कि प्रेमी पुन प्रणयलीला रचने का साहस ही नहीं कर सकता। जैसे—

यह मुझको सुधि-सी क्या आती ?
अब यह किसके लिए मचलकर
कहती न्यौछावर होने को,
मेरे बीते हुए प्यार को
अब यह किसके लिए रुलाती ?
अब वह दिन ही नहीं रहा
जो फिर से कुछ अरमान बनाऊँ,
अब हिम्मत ही नहीं रही
जो एक नया पाषाण सजाऊँ!
मेरी बची हुई पूजा भी
पूजन करने से घबराती।[1]

प्रणय-निराशा की परिस्थितियाँ—

छायावादी कवियों के गीत अनुभूति-प्रधान होने के कारण प्रणय-व्यापार को असफल बनानेवाली परिस्थितियों को प्राय व्यक्त नहीं करते। जहाँ-कहीं प्रणय-निराशा के कारणों की ओर सकेत किया गया है, वहाँ केवल प्रणय-वचना को ही व्यक्त किया गया है। जैसे—

तब रोक न पाया मैं आँसू!
जिसके पीछे पागल होकर
मै दौड़ा अपने जीवन-भर,
जब मृगजल में परिवर्तित हो मुझपर मेरा अरमान हँसा!
तब रोक न पाया मैं आँसू!
मेरे पूजन-आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा!
तब रोक न पाया मैं आँसू![2]

१—नाश और निर्माण, गीत-सख्या ४, पृ० ७।

२—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ३७, पृ० ५३।

कवि ने प्रेयसी द्वारा की गई प्रणय-वंचना और अपनी भूल की स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। अब आँसू बहाने के अतिरिक्त और वह कर भी क्या सकता है ?

छायावादी युग मे प्रणय-निराशा का चित्रण प्रथम पुरुष की शैली मे किया गया है। प्रणय-गीतो का नायक स्वयं कवि है। प्रणय-व्यापार के चित्रण में छायावादी कवियों ने अपने आपको एक पथिक या प्रवासी के रूप में उपस्थित किया है। प्रवासी दो क्षण के लिए प्रेम की नगरी मे हृदय का आदान-प्रदान करता है, फिर प्रणय-व्यापार मे वंचित होकर रोताहुआ-सा प्रस्थान कर देता है। किसी-किसी कवि ने प्रणय-वंचना तक को व्यक्त नहीं किया। प्रेमी स्वयं किसी अज्ञात कारण से प्रेयसी से विदा माँग कर चल देता है और जीवन भर उसकी याद मे रोता रहा है, किन्तु प्रणय के मार्ग मे प्रत्यावर्तन नहीं करता। नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' (१९३९ ई०) इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। प्रणय को असफल बनानेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण अनुभूतिप्रधान गीतों मे होना सम्भव भी नही था, क्योकि घटना को महत्व देने से अनुभूतियो की तीव्रता कम होने की सम्भावना रहती है।

प्रणय-निराशा की अभिव्यक्ति के प्रकार—

प्रणय-निराशा के विभिन्न प्रकारो को एक 'वाद' का नाम देने पर उसके प्रमुख रूप (क) तृष्णावाद, (ख) मस्तीवाद, (ग) मदिरावाद और (घ) निराशावाद होगे। प्रत्येक प्रकार के मूल मे प्रणय-व्यापार की असफलता से उत्पन्न क्षोभ और निराशा सन्निहित है। तृष्णावाद मे अतृप्त आशा-अभिलाषाओ के तूफान उठाए गए हैं। मस्तीवाद मे असफल प्रेमी 'धूल उड़ाकर चलनेवाला' दीवाना बन गया है। मदिरावाद मे प्रणय-वंचना से उत्पन्न विषाद को मदिरा की प्याली मे डुबाया गया है और निराशावाद मे प्रणय की असफलता पर पश्चात्ताप व्यक्त किया गया है। दु.खात्मक भावनाओ का तीव्रतम रूप प्रणय-निराशावाद मे ही व्यक्त हुआ है। तृष्णावाद मे, रूप की तृष्णा, प्रेम की तृष्णा और अपूर्ण अभिलाषाओ को व्यक्त किया गया है, पश्चात्ताप और विषाद की अभिव्यक्ति नहीं की गई। अतएव हृदय को विषादमग्न करने की शक्ति तृष्णावादी गीतो में नहीं है।

वाद में विषाद की अभिव्यक्ति तो हुई है किन्तु मदिरा का प्याला
ने के पश्चात् उसका दर्शन फीका पड़ गया है। इसी प्रकार
वाद में प्रणय-वंचना की कराह ध्वनित अवश्य है, किन्तु प्रेमी
एक दीवाने के रूप मे उपस्थित किए जाने के कारण प्रणय-वंचना
य को धक्का पहुँचाने वाली नहीं रह गई। जिन गीतों में प्रणय-
राशा की स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्ति हुई है, उनमें पश्चात्ताप,
ात्मग्लानि विषाद आदि दुःखात्मक अनुभूतियों का अत्यन्त करुण
चेत्रण हुआ है। अत तृष्णावाद, मस्तीवाद और मदिरावाद का
परिचयमात्र देकर प्रणय-निराशा का कुछ विस्तार से अध्ययन
कर लेना समीचीन होगा।

(क) तृष्णावाद—

प्रणय-व्यापार की असफलता के कारण अपूर्ण इच्छाओं और अतृप्त आकांक्षाओं के गीत रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने सबसे अधिक गाए हैं। आपके गीतों मे रूप की अतृप्त पिपासा, यौवन के उन्माद और प्रणय-वंचना की जलन ने तूफान, बवंडर और प्रलय का रूप धारण कर लिया है। 'अपराजिता' (१९३९ ई०) के गीत अतृप्त तृष्णा को विभिन्न रूपों मे उपस्थित करते हैं। जैसे—

फिर विकल हैं प्राण धू धू, उड़ चली जलती निशानी।

फिर पिपासा की परिधि में माधुरी का पुंज जलता
आज मधु रजनी न पूछो, कौन सा उन्माद चलता
आज सब तृष्णा खुली जाती, किसी की याद आई।[1]

कवि की पिपासा—प्रणय की असफलता से उत्पन्न क्षोभ—
जलाए डाल रही है, जिसमे प्रणय की 'मधुर' स्मृतियाँ भ
हैं। 'पिपासा' ने कवि के हृदय मे एक भीषण विक्षोभ उत्पन्न
है। तृष्णा जितनी तीव्र होती जाती है, कवि का वि
और पश्चात्ताप उतना ही बढ़ता जाता है। कहीं-कहीं प्र
को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है। जैसे—

मेरा एकाकी जीवन
सूना एकाकी जीवन
× × ×

१—'जलती निशानी', अपराजिता, पृ० १।

मैंने सब जग सूना पाया
मुझको न किसी ने अपनाया
कहते हैं—सुख है, सुख से ही
परिपूरित विश्व-नीड़-छाया
पर हृदय हाय है तृप्तिहीन,
सुख से विहीन—दुख में प्रलीन
उल्लास, ललक, मधुमास आश
वंचित, दीपक-सा स्नेहहीन,
जीवन की सूनी वेला में
अपनेपन की अवहेला में
पागल-सा घूम रहा हूँ प्रिय!
खो निज प्रकाश का मेला में।[1]

उक्त गीत कवि के तृष्णावाद का आधार स्पष्ट कर देते हैं। उसका हृदय इसलिए 'तृप्तिहीन है' कि उसको 'अपनाने वाला' इस संसार में कोई नहीं दिखलाई पड़ता। किसी-किसी कवि ने तो प्रणय की असफलता से उत्पन्न निराशा को एक दार्शनिक रूप दे दिया है, जैसे—

मेरी अतृप्ति सर्व व्यापक
मेरी अतृप्ति जग-संचालक
जग के बीहड़ अनन्त पथ पर
मेरी अतृप्ति स्थितप्रज्ञ अथक

× × ×

मैं इन्द्रासन से असंतुष्ट,
नन्दन-कानना से असन्तुष्ट
मैं अपनेपन से असंतुष्ट
सारे त्रिभुवन से असन्तुष्ट
मैं असंतुष्ट चिर असंतुष्ट![2]

कवि अपनी अतृप्ति और असंतोष को चाहे जितना व्यापक और दार्शनिक रूप दे, उसका मनोविश्लेषण करने पर अतृप्ति के मूल में

१—'एकाकी जीवन'—अपराजिता, पृ० १३३, १३४, १३५।
२—'कवि हृदय'—रूपान्तर, पृ० २६।

अतृप्त कामवृत्ति ही मिलेगी। उसकी सर्वव्यापक अतृप्ति, क्षोभ और असतोष का कारण प्रणय-व्यापार की असफलताजन्य काम-कुण्ठा ही है।

(ख) मस्तीवाद—

मस्तीवाद मे प्रणय-वंचना का विषाद और निराशा मतवालेपन अथवा दीवानेपन के रूप में व्यक्त हुई है। शिव मगलसिंह 'सुमन' ने मस्तीवाद के बहुत से गीत गाए हैं। 'हिल्लोल' (१९९६ वि०) में संग्रहीत 'परिचय', 'चले', 'कौतूहल', 'हम बड़े विकट मतवाले हैं' आदि गीत मस्तीवाद को ही विभिन्न प्रकार से उपस्थित करते हैं। मस्तीवादी गीतो के मूल में किसी भावात्मक मस्ती, निश्चिन्तिता, उल्लास, हर्षोन्माद आदि की अभिव्यक्ति न होकर विषाद, पीड़ा और असफलताजन्य आत्मग्लानि आदि दुखात्मक अनुभूतियों की ही अभिव्यंजना हुई है। जैसे—

हम दीवानों का क्या परिचय ?
कुछ चाव लिए, कुछ चाह लिए
कुछ कसकन और कराह लिए
कुछ दर्द लिए, कुछ दाह लिये
हम नौसिखिए, नूतन पथ पर चल दिए, प्रणय का कर विनिमय
हम दीवानों का क्या परिचय ?
विस्मृति की एक कहानी ले
कुछ यौवन की नादानी ले
हो चले पराजित अपनों से, कर चले जगत को आज विजय
हम दीवानों का क्या परिचय ?[1]

'प्रणय का विनिमय' 'विस्मृति की कहानी' और 'यौवन की नादानी' के द्वारा उत्पन्न क्षोभ और निराशा ही दीवानापन बन गई है। गीत प्रणय-निराशा को ही व्यञ्जित करता है। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा की प्रणय-निराशा भी दीवानेपन मे परिणत हुई प्रतीत होती है। भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं—

१—'परिचय'—हिल्लोल पृ० १।

हम दीवानों की क्या हस्ती,
है आज यहाँ, कल वहाँ चले ;
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले ;
× × ×
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले !
हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नत-मस्तक हो मुख मोड़ चले ;
अभिशाप उठाकर होठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले ;[1]

सुमन और वर्मा दोनो ही प्रेम के दीवाने प्रतीत होते है, जो प्रणय के दाँव पर जीवन की बाजी हारकर जीवन से पलायन करनेवाले दीवाने बन गए हैं। छायावाद के उत्तरार्द्ध मे यह दीवानापन मासिक पत्र-पत्रिकाओं में खूब प्रचलित हुआ है।

(ग) मदिरावाद—

मदिरावाद का कुछ विस्तृत अध्ययन खैयामवाद के प्रसग में किया जायगा क्योंकि आधुनिक हिन्दी-काव्य को मदिरावाद की प्रेरणा उमर खैयाम की रुबाइयो से ही मिली थी। जीवन की जिन परिस्थितियो से पराजित होकर कवियों ने मदिरालय की शरण ली है उनमे प्रणय-निराशा एक प्रमुख परिस्थिति है। छायावादी युवक-दल आनन्द और उल्लास का अनुभव करने के लिए मदिरालय मे नही जाता। वह जाता है अपनी चिन्ताओ का भार हलका करने के लिए, आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का दंशन कम करने के लिए अथवा जीवन और जगत् के दु खो से परित्राण पाने के लिए। केवल एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

मेरे प्याले मे साकी, भर देना ऐसी हाला
मादकता के अचल में, मै बनजाऊँ मतवाला।
× × ×
जीवन में मैने साकी खेले है खेल अनेकों
पर सबमे मुझको आखिर आसू ही मिले अनेकों

१—प्रेम संगीत, गीत-संख्या २०, पृ० ७६-८० ।

मदिरा के पथ से मुझको उस दूर देश पहुँचा दे
विस्मरण जगत के पथ का, साकी कर कृपा बता दे।[1]

जीवन के खेलों की पराजय—प्रणय-लीलाओं की पराजय है—और मदिरा की शरण उस पराजय से उत्पन्न विषाद के विस्मरण का प्रयत्न-मात्र है। आत्म-विस्मृति के लिए कभी-कभी निराश प्रेमी वास्तविक जीवन मे भी मदिरासेवी बन जाया करते हैं, फिर कल्पना की मधुशाला मे जाना तो और भी सरल है।

(घ) निराशावाद—

प्रणय-व्यापार की असफलता और उस असफलता से उत्पन्न पश्चात्ताप, अवसाद, निराशा आदि की मार्मिक अभिव्यक्ति उन गीतों मे अधिक तीव्रता के साथ हुई है जिनमें कवियों ने निष्फल प्रणय का चित्रण स्पष्ट रूप से किया है। प्रणय की असफलता से उत्पन्न आँसू उच्छ्वास, पीड़ा, वेदना आदि की अभिव्यक्ति करनेवाले गीतों की रचना छायावादी युग के लिए नगण्य और सामान्य-सी बात है। यहाँ केवल उन्ही निराशावादी मनःस्थितियों की समीक्षा कर लेना समीचीन होगा जिनमें निराशावाद अधिक उग्र रूप धारण कर गया है। ऐसी मनोदशाओं में विषाद एव पाश्चात्ताप, आत्महीनता और अनुभूतिशून्यता, जीवन से घृणा और मृत्युकामना को परिगणित किया जा सकता है।

विषाद एवं पाश्चात्ताप—

प्रणय की असफलता पर विषाद और पाश्चात्ताप व्यक्त करने वाले गीत छायावादी युग में अधिक संख्या में लिखे गए हैं। किसी निराश प्रेमी को अपनी असफलता पर खेद है तो किसी को प्रणय-वंचना पर। कोई प्रणय के रंगीन स्वप्नों के मिट जाने पर पाश्चात्ताप करता है तो कोई प्रणय-स्वप्न की छलना पर। एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे।

बच्चन को इस बात का खेद है कि प्रणय-व्यापार मे असफल होने के पश्चात् भी प्रणय के रंगीन स्वप्न उनका पीछा करके हृदय को और व्यथित करते हैं—

१—'साकी' (सुकवि, जून, १९३५ ई०)।

मेरा जोर नहीं चलता है !
स्वप्नों की देखी निष्ठुरता,
स्वप्नों की देखी भगुरता,
फिर भी बार-बार आ करके स्वप्न मुझे निशिदिन छलता है !
मेरा जोर नहीं चलता है !
× × ×
ममता यदि मन से मिट पाती,
देवों की गद्दी हिल जाती !
प्यार, हाय, मानव जीवन की सबसे भारी दुर्बलता है !
मेरा जोर नहीं चलता है ![1]

तारा पाण्डेय का निराश हृदय प्रणय के रंगीन स्वप्न देखने की भूल पर पश्चात्ताप करता है—

जीवन के अति सुन्दर सपन
आज छिपे हैं अन्दर अपने ।
× × ×
भावुकता-वश अलि, तव अपन
व्यर्थ रचे क्यों अहः वे सपने ।[2]

होमवती देवी का हृदय सदा के लिए वीरान हो चुका है, इसलिए उन्हें अपने स्वप्न के ससार के विनष्ट हो जाने पर पश्चात्ताप है। कवि के स्वप्नों का आधार सदा के लिए नष्ट हो चुका है, अब उसकी केवल स्मृति शेष रह गई है—

स्वप्न का ससार मेरा !
कब बसा कब लुट गया फिर, कौन इसका भेद जाने !
× × ×
खो गई अभिलाष कब की, सो गई साधें सिसक कर,
थक गई जो आश उसको, क्या करेगा जगत ललकर !
कल्पना से भी अधिक अवसाद जीवन का बनेगा !
स्वप्न का ससार मेरा ![3]

कवि के हृदय में निराशा और अवसाद का अब इतना सघन अन्धकार

१—एकान्त सगीत (१९३८—३९ ई०) गीत-सख्या ८९, पृ० १०५ ।
२—वेणुकी (१९३९ ई०) गीत-सख्या ४ पृ० ४ ।
३—'स्वप्निल छाया'—अर्घ्य, पृ० ३८ ।

है, कि उसने उसकी कल्पना तक नही की थी। प्रणय का ससार बसकर इतनी शीघ्रता से उजड़ गया कि कवि का शेष जीवन अब उसके विनाश पर पश्चात्ताप करने के लिए बच रह गया है।

नरेन्द्र का प्रणय-वचित हृदय इतना निराश हो चुका है कि वह प्रणय के मधुर स्वप्नो को भी विदा कर देना चाहता है—

विदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे !
साध्य घन-से, ओ सुनहले स्वप्न मेरे !
आह, क्षण भर पूर्व जिस सुख-स्वप्न पर था सत्य निर्भर,
कर दिया क्यों शून्य में चित्रित क्षणिक वह लाख का घर ?
कल्पना का खेल था, सकेत था चल तूलिका का,
खेल था तेरे लिए जो रँग दिया वह शून्य अम्बर !
फिर उलट दी चित्रपट पर कालिमा, अल्हड़ चितेरे !
विदा, प्यारे स्वप्न, सुख के स्वप्न मेरे ![1]

कवि 'सुख-स्वप्न' को विदा भले ही करदे, किन्तु जीवन की व्यर्थता की अनुभूति का निवारण नही कर सकता। गीत की पक्तियाँ प्रणय-असफलता अथवा विनष्ट प्रेम पर पाश्चात्ताप की मार्मिक व्यजना करती हैं। अस्तु। छायावादी कवियों ने प्रेम की असफलता की जहाँ-कहाँ अभिव्यक्ति की है वहाँ उनके हृदय का विषाद, निराशा और पश्चात्ताप आदि दु खात्मक अनुभूतियो की स्पष्ट व्यजना हुई है। किन्तु, निराशावाद का उग्रतर रूप उन गीतों मे उपस्थित हुआ है जिनमे कवि ने प्रणय-निराशा की उग्रतम प्रतिक्रिया अपने जीवन पर प्रदर्शित की है। प्रणय-निराशा ने किसी को जीवित अवस्था में प्रेत बना दिया है तो किसी को पाषाणवत् जड़ कर दिया है। कोई प्रणय-निराशा के आघात से इतना निराशावादी बन गया है कि उसका शेष जीवन बस मृत्यु की प्रतीक्षा करने में व्यतीत हो रहा है और कहीं-कहीं तो प्रणय-निराशा मे तीव्रता इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि कवि आत्महत्या अथवा आत्म-विध्वस तक की कामना करने लगा है। किन्तु उक्त सभी मनोदशाओं मे विषाद और पश्चात्ताप की अनुभूति स्थायी अनुभूति है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रणय-निराशा से उत्पन्न विषाद और पश्चात्ताप को ही उक्त रूपों मे व्यक्त किया गया है। अस्तु।

१—प्रवासी के गीत, गीत-सख्या १७ (मार्च ६३८) पृ० २८ ।

आत्महीनता और अनुभूतिशून्यता—

प्रणय-वंचना से उत्पन्न क्षोभ और विषाद कहीं-कहीं इतना अधिक बढ़ गया है कि कवि अपने जीवन को पाषाणवत् जड़ और अनुभूति-शून्य समझने लगा है—आशा-आकांक्षाएँ हृदय से मानो सदा के लिए विदा हो गई हैं और कोई उत्साह अथवा उल्लास उसके हृदय में शेष नहीं रह गया। कवि अपने विगत अतीत पर पाश्चात्ताप करने के अतिरिक्त अपने आपको और किसी काम के योग्य नहीं पाता। नरेन्द्र शर्मा का अधोलिखित गीत अनुभूतिशून्यता के साथ-साथ आत्महीनता की भावना को भी व्यक्त करता है—

मैं सब दिन पाषाण नहीं था!

किसी शापवश हो निर्वासित,
लीन हुई चेतनता मेरी,
मन-मन्दिर का दीप बुझ गया,
मेरी दुनिया हुई अँधेरी!
पर यह उजड़ा उपवन सब दिन बियाबान सुनसान नहीं था!
मैं सब दिन पाषाण नहीं था!

× × ×

मैं तृण-सा निरुपाय नहीं था,
जल में डालो बह जाये जो,
और डाल दो ज्वाला में यदि,
क्षणिक धुआँ बन उड़ जाए जो,
आज बन गया हूँ जैसा कुछ, सब दिन इसी समान नहीं था!
मैं सब दिन पाषाण नहीं था।[1]

प्रणय के अभिशाप ने कवि के जीवन को इतना अनुभूतिशून्य बना दिया है कि वह अपनी ही दृष्टि में विवश, निरुपाय और नगण्य-सा बन गया है। किन्तु यह निराशावादी मन:स्थिति 'मन-मन्दिर के दीप' के बुझ जाने के पश्चात् ही उत्पन्न हुई है। प्रणय की असफलता के 'शाप' ने उसके हृदय-उपवन को 'बियाबान' बना डाला है। आज उसका अस्तित्व 'तृण-सा निरुपाय' और निरर्थक-सा बन गया है। अस्तु।

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ३७ (अक्टूबर, १९३८) पृ० ५३-५४।

जीवन से घृणा—

वियोगजन्य पीड़ा, वेदना, आँसू और उच्छ्वास ऐसी सामान्य अनुभूतियाँ हैं, जिनका जीवन पर अधिक विनाशकारी प्रभाव नही पड़ता। प्रणय-असफलता पर पश्चात्ताप के आँसू बहा लेना भी कोई असाधारण घटना नहीं। किन्तु, प्रणय की असफलता और पराजय कभी-कभी ऐसी विक्षुब्ध मन स्थिति को जन्म देती है कि मनुष्य स्वयं अपने आपसे और अपने जीवन से घृणा करने लगता है। यह प्रणय-निराशा का उग्र रूप है। बच्चन और गिरिजाकुमार माथुर ने इस उग्र निराशावादी मनोदशा को अपने अनेक गीतों मे व्यक्त किया है। जैसे—

मुझको प्यार न करो, डरो !
जो मै था अब रहा कहाँ हूँ,
प्रेत बना निज घूम रहा हूँ,
बाहर ही से देख न आँखों पर विश्वास करो !
मुझ से प्यार न करो, डरो !

मुर्दे साथ चुके सो मेरे,
देकर जड़ बाँहों के फेरे,
अपने बाहुपाश में मुझको सोच-विचार भरो !
मुझको प्यार न करो, डरो ![1]

अतृप्त अभिलाषा और मर्दित कामनाओं ने कवि के हृदय को इतना निराशावादी बना दिया कि वह स्वयं अपने आपको प्रेतवत् भयानक समझने लगा है। ऐसी भावनाएँ मनुष्य के हृदय में मस्तिष्क का सतुलन बिगड जाने के पश्चात् ही उत्पन्न हो सकती हैं। गिरिजाकुमार माथुर को प्रणय-वचना पर इतना दुख है कि कवि अपने असफल जीवन को जीवन नहीं मान सकता। उसके जीवन में कोई उल्लास, उत्साह, आशा और आकांक्षा शेष नही रह गई। प्यार करने की भूल पर उसे पश्चात्ताप है और जीवन का भार मृत्यु की प्रतीक्षा मे ढो रहा है।

हम जीवित हैं मरन भर को।
जान-बूझकर मृगतृष्णा को
हमने समझा सपना सुन्दर

१—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीतसख्या ६५, पृ० १११।

सारा सत्य समाप्त होगया
इसी महान भूल के पथपर,
जिन्दा लौट रहे हैं मरकर,

× × ×

अभी जिएँगे और, घृणा
जीवन से पूरी करने भर को ।[1]

कदाचित् अभी जीवन की अभिलाषा हृदय के किसी कोने में छिपी पड़ी है। कवि अपने घृणित और व्यर्थ जीवन को इसीलिए चला रहा है कि पश्चात्ताप और ग्लानि की सतत् अनुभूति के द्वारा जीवन के प्रति 'घृणा पूरी' हो जाय फिर जीवन का अन्त कर देना बहुत ही आसान होगा।

निष्फल प्रणय के विषाद की ज्वाला जब हृदय को अत्यन्त संतप्त कर देती है तब जीवन से घृणा उत्पन्न हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। ऐसी निराशावादी मानसिक अवस्था में मनुष्य अपने जीवन का अन्त कर देने की बात सोचने लगता है। छायावादी गीतों में मृत्युकामना व्यक्त करनेवाले गीतों का अभाव नहीं है।

मृत्यु-कामना—

मृत्यु-कामना निराशावाद की उग्रतम मनःस्थिति है। प्रणय-व्यापार की निराशा कभी-कभी हृदय को इतना अधिक विक्षुब्ध कर देती है कि मनुष्य के लिए जीवन एक दुर्वह भार बन जाता है। हृदय की समस्त आशा-आकांक्षाओं को प्रणय के दाँव पर हारकर विनिमय में उसे केवल पश्चात्ताप और ग्लानि मिलती है। भविष्य के उज्ज्वल स्वप्न स्वाहा हो जाते हैं। ऐसी मनःस्थिति में वह यदि जीवित रहे भी तो किस लिए? बच्चन के अधोलिखित गीत में एक ऐसे ही हृदय की चीत्कार है जो अपने हृदय का सर्वस्व लुटा चुका है और जिसे भविष्य में किसी सुख की आशा नहीं रह गई। कवि का व्यथित और निराश हृदय आत्म-विसर्जन चाहता है—

१—नाश और निर्माण—गीत-संख्या १४, पृ० २७।

मेरे उर पर पत्थर धर दो !
जीवन की नौका का प्रिय धन
लुटा हुआ मणि-मुक्ता-कंचन
तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो !
मेरे उर पर पत्थर धर दो !
× × ×
पर क्यों मुझको व्यर्थ चलाओ ?
पर क्यों मुझको व्यर्थ बहाओ ?
क्यों मुझसे यह भार ढुलाओ ? क्यों न मुझे जल में लय करदो !
मेरे उर पर पत्थर धरदो ![1]

बच्चन की चीत्कार में एक निराश हृदय का विषाद और निराशा तीव्रतम रूप धारण कर चुकी है। विषाद ने जीवन को एक भार-सा बना दिया है, जिसे कवि व्यर्थ ही ढोने को प्रस्तुत नहीं। नरेन्द्र शर्मा का नीचे लिखा हुआ गीत भी इसी मन स्थिति की सूचना देता है—

अनचाहे मेहमान प्राण मेरे, जाओ ! न निकल जाते क्यों ?
सभी छोड़ कर चले गए जब,
रुके हुए किस आशा से अब,
मेरे आकुल प्राण ? छोड़ मुझको तुम भी न चले जाते क्यों ?[2]

मृत्युकामना अथवा आत्मघात की इच्छा को व्यक्त करनेवाले गीत छायावादी युग के अन्तिम वर्षों (१६३८-४० ई०) में अधिक संख्या में लिखे गए हैं। युग के प्रारम्भिक वर्षों (१६२२-२५ ई०) में लिखे गए गीत इतनी भीषण मन स्थिति की व्यजना नहीं करते। अपने अन्तिम वर्षों में छायावादी युग की निराशावादी चेतना आत्म विध्वस की कामना करने लगी है। किन्तु, निराशावाद मानव-हृदय की स्थायी अनुभूति नहीं। जिन वर्षों में निराशावादी मनोवृत्तियाँ उग्रतम रूप धारण कर रही थीं उन्हीं वर्षों में युग-चेतना जीवन के नवीन आदर्श खोजकर आशावाद की ओर उन्मुख हो रही थी।

१—एकान्त संगीत (१६३८-३६ ई०) गीत-संख्या २, पृ० १८।
२—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ४२, (दिसम्बर, १६३८) पृ० ६३।

(४) खैयामवादी निराशा--

आधुनिक हिन्दी-काव्य को हाला-प्याला, मधुशाला, साकीवाला, नियतिवाद, पलायनवाद आदि न मालूम कितने विचारो की प्रेरणा फिट्जजेरल्ड द्वारा अनूदित उमर खैयाम की रुबाइयो मे मिली थी। उमर खैयाम के समस्त विचारो को खैयामवाद की संज्ञा देकर हम उसमे निहित निराशावादी तत्वो की समीक्षा कर सकते है। यद्यपि उमर खैमाम का निराशावाद हिन्दी-साहित्य का निराशावाद नही माना जा सकता, किन्तु छायावादी कवियो ने अपने निराशावाद को खैयाम की प्रतीक-पद्धति के द्वारा व्यक्त किया है साथ-ही-साथ खैयाम की रुबाइयो ने कवियो की निराशावादी विचारधारा को एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित किया है, इसलिये खैयाम के जीवन-दर्शन का संक्षेप मे अध्ययन कर लेना अपेक्षित है।

यो तो छायावादी कवियो मे से अधिकांश ने उमर खैयाम के विचारो से थोड़ा-बहुत प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु निराशावादी बच्चन ने उनको जितना अपनाया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। सामान्य हिन्दी-जनता आज भी बच्चन को 'मधुशाला' के लेखक बच्चन के रूप मे जानती है। अत बच्चन को खैयामवादी जीवन-दर्शन का प्रतिनिधि कवि मानकर, उनके गीतो की समीक्षा कर लेने से उमर खैयाम द्वारा प्रभावित निराशावाद का अनुमान लग सकेगा। उमर खैयाम की रुबाइयो का सामान्य परिचय देने के अतिरिक्त, (क) हालावाद, (ख) नियतिवाद, (ग) आत्म-सदेह और (घ) मृत्युवाद का अनुशीलन कर लेने से उमर खैयाम की विचार-धारा और उसका आधुनिक हिन्दी-काव्य पर निराशावादी प्रभाव स्पष्ट हो सकेगा।

सामान्य परिचय—

११ वीं शती का सूफी, ज्योतिषी और कवि उमर खैयाम जब

१६ वी शती के उत्तरार्द्ध में यूरोप की जनता के समक्ष अँगरेजी लिबास मे उपस्थित हुआ, तो वह फारस का सूफी नही रह गया था। उसके प्राणो मे तत्कालीन यूरोप की अशान्ति, निराशा और सदेह भर दिया गया था। फिट्जजेरल्डकृत अनुवाद यूरोप की तत्कालीन मन स्थिति के इतने अनुकूल पड़ा कि कुछ वर्ष पश्चात् उसके सस्करण पर सस्करण निकलने लगे। एक आलोचक श्री लैंवार्न का तो यहाँ तक कहना है कि "सन् १८५६ में डारविन की ओरीजिन आफ़ स्पीशीज़ प्रकाशित हुई और उसने आधुनिक मस्तिष्क का निर्माण किया; उसी साल यह कविता प्रकाशित हुई और इसने आधुनिक हृदय की भविष्यवाणी की।"[1]

हिन्दी-साहित्य मे फिटज्जेरल्ड के उमर खैयाम का प्रवेश द्विवेदी-युग की पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हुआ था। किन्तु द्विवेदी-युग राष्ट्रीयता, आदर्शवादिता और कर्मण्यता का युग था इसलिये खैयाम का मद्यपी रूप द्विवेदी-युग के कवियो को अधिक न लुभा सका। उमर खैयाम की रुबाइयो की धूम सन् १९२८-२९ के लगभग पत्र-पत्रिकाओं द्वारा मची। सन् १९३१-३२ से पुस्तकाकार रूप में उसकी रुबाइयों के अनुवाद बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित होने लगे। सन् १९३१ में मैथिलीशरण गुप्त तथा केशवप्रसाद पाठक और १९३२ ई० में बलदेवप्रसाद मिश्र के अनुवाद सचित्र प्रकाशित हुए। बच्चन का अनुवाद 'खैयाम की मधुशाला' के नाम से सन् १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ। सन् १९२९ में किया गया सुमित्रानन्दन पत का अनुवाद 'मधुज्वाल' के नाम से अभी कुछ वर्ष पूर्व ही (सन् १९४८ मे) प्रकाशित हुआ है। इन अनुवादो के अतिरिक्त बच्चन ने 'खैयाम की मधुशाला' के तीसरे सस्करण की भूमिका में पंडित सूर्यनाथ तकरू, पडित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', डाक्टर गयाप्रसाद गुप्त, ब्रजमोहन तिवारी, इकबाला वर्मा सेहर, रघुवशलाल गुप्त, किशोरीरमण टडन, पडित जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' आदि अन्य अनुवादको के नामो का उल्लेख किया है।[2] समस्त अनुवाद छायावादी युग के उत्तरार्द्ध (सन् १९२६-३७) मे ही प्रकाशित हुए है। अनुवादो की इस धूम से अनुमान लगाया जा

१—खैयाम की मधुशाला—तृ० सस्करण की भूमिका पृ० १६ पर उद्धृत।
२—देखिए—भूमिका, खैयाम की मधुशाला पृ० ११–१३।

सकता है कि छायावादी युग की निराश चेतना को खैयामवादी दर्शन कितना आकृष्ट कर रहा था।

उमर खैयाम जीवन से निराश होकर मदिरापान करता था या जीवन का आनन्द लेने के लिए; इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। (खैयाम अपनी प्रेयसी के साथ प्रकृति के रमणीय अङ्क में बैठ कर, मदिरा का आनन्द लेता है।[1] इस आनन्द की कल्पना में किसी निराशावादी विचार का उल्लेख नहीं। वह जीवन की चिन्ताएँ और नियति के क्रूर विधान का दुःख भुलाने के लिए भी मदिरा की शरण खोजता है।[2] अत उसके भोगवाद की पृष्ठभूमि में आनन्द की भावात्मक अनुभूति एवं दुःखों का विस्मरण—दोनों प्रकार की भावनाएँ सन्निहित हैं। छायावादी कवियों का मदिरावाद प्राय दुःख और चिन्ताओं का विस्मरण-मात्र है, भावात्मक आनन्द की अनुभूति का उसमें प्राय चित्रण नहीं किया गया।)

खैयाम मदिरा का पान जीवन के क्षणों का उपभोग करने की दृष्टि से करता हो या दुःखों को भुलाने के लिए किन्तु, इतना निश्चित

1—Now the New Year reviving old Desires,
The thoughtful Soul to Solitude retires,
Where the White Hand of Moses on the Bough,
Puts out, and Jesus from the ground Surpires.

Rubaiyyat Omar Khayyam, 4.

Here with a Loaf of Bread beneath the Bough,
A Flask of Wine, a Book of Verse—and Thou
Beside me singing in the Widerness—
And Wilderness is Paradise enow.

Rubaiyvat Omar Khayyam, 11.

2—Ah, my Beloved, fill the Cup that clears
To-day of past Regrets and future Fears—
To-morrow?—Why, To-morrow I may be
Myself with Yesterday's Sev'n Thousand Years.

Rubaiyyat Omar Khayyam, 20.

Ah, fill the Cup '—What boots it to repeat
How Time is slipping underneath our Feet :
Unborn To-morrow, and dead Yester-day,
Why fret about them if To-day be sweet !

Rubaiyyat Omar Khayyam, 37.

है कि उसका जीवन-दर्शन अकर्मण्य और निराशावादी है। खैयाम जीवन की क्षणिकता का स्मरण करके प्याले पर प्याला ढालता है। जमशेद, दाऊद, कैकुबाद, हातिम, रुस्तम, महमूद आदि महात्वाकांक्षियों और सत्पुरुषों की खिल्ली उड़ाता है, पण्डितों और विद्वानों की आध्यात्मिक धारणाओं को मिथ्या सिद्ध करता है और जीवन का सार केवल मदिरा में खोजता है। खैयाम के विचार अति-व्यक्तिवादी हैं। सुरा और सुन्दरी तक उसका ससार सीमित है। जीवन की नश्वरता की अनुभूति उसे जीवन का कोई लक्ष्य निर्धारित नही करने देती। कर्मण्यता के नाम पर वह नियतिवादी है और आध्यात्मिक विश्वासो में सन्देहवादी है। इतना सब होते हुए भी उसकी निराशा अधिक उग्र रूप धारण नही कर पाती। वह हर्ष में भी पीता है और चिन्ताओ का भार हलका करने को दुःख में भी पीता है। सुरा और सुन्दरी उसका आजीवन साथ देती हैं। अत जीवन का एक क्षण भी वह विषाद और पाश्चात्ताप में नही गँवाता। खैयाम का मद्यपी जीवन-दर्शन बहुत ही संक्षिप्त है—जब तक जीवन है सुरा पान करो, एक बार मरने के पश्चात् फिर कौन लौटता है।[1] अस्तु। कवि बच्चन के गीतों में हम खैयाम के उक्त विचारों की प्रतिध्वनि सुन सकते हैं।

(क) हालावाद—

हाला, प्याला, मधुशाला और साकीवाला, मालिक-मधुशाला और पीनेवाला हालावाद के उपकरण है। बच्चन ने 'मधुशाला' (१६३५ ई०) और 'मधुबाला' (१६३६ ई०) में इन्ही प्रतीकों के द्वारा मदिरावाद का गुण-गान किया था। कवि ने कहीं-कहीं हाला-प्याला आदि को प्रतीकात्मक रूप भी दिया था। जैसे—हाला को जीवन, यौवनोन्माद और कल्पना के रूप में, मधुशाला को ससार के रूप मे, तथा

1—Oh, Come with old Khayyam, and leave the Wise
To talk, one thing is certain, that Life flies,
One thing is certain, and the Rest is Lies,
The Flower that once has blown for ever dies

Rubaiyyat Omar Khayyam, 26.

प्याले को शरीर के रूप मे प्रयुक्त किया था;[1] किन्तु प्रतीक का निर्वाह सर्वत्र नहीं किया गया था। मदिरालय का गुणगान अनेक स्थलो पर स्पष्ट रूप से किया गया था।[2] उसको परस्पर (हिन्दू-मुसलमानो मे) फूट डालनेवाले मन्दिर और मस्जिद से अधिक कल्याणकर सिद्ध किया गया था। भारतीय समाज मदिरालय की प्रशंसा के लिए उपयुक्त

१—प्रतीकात्मक प्रयोग—

चाहे जितनी मै दूँ हाला,
चाहे जितने तू पी प्याला,
चाहे जितना बन मतवाला,
सुन, भेद बताती हू अन्तिम—
यह शान्त नहीं होगी ज्वाला।
मै मधुशाला की मधुबाला!

यह स्वप्न-विनिर्मित मधुशाला,
यह स्वप्न-रचित मधु का प्याला,
स्वप्निल तृष्णा, स्वप्निल हाला,
स्वप्नों की दुनिया में भूला
फिरता मानव भोलाभाला!
मै मधुशाला की मधुबाला!

मधुबाला (१६३६ ई०) पृ० ६–७।

२—स्पष्ट अभिव्यक्ति—

अब चिन्ताओं का भार कहाँ,
अब क्रूर-कठिन ससार कहाँ,
अब कुसमय का अधिकार कहाँ,
भय-शोक भुलानेवाला हू!
मैं ही मालिक-मधुशाला हू!

कटु जीवन में मधुगान करो,
जग के रोदन में गान करो.
मादकता का सम्मान करो—
यह पाठ पढ़ानेवाला हू!
मै ही मालिक-मधुशाला हू!

मधुबाला (१६३६ ई०) पृ० ११, १३।

स्थल नहीं था। समाज ने कवि के 'उद्गारों को वासनामय' घोषित किया और कवि को 'कुपथ पर पाँव रखने' के लिए लांछित किया।[1]

'मधु कलश' (१९३६ ई०) में कवि ने अपनी स्थिति स्पष्ट की। अपने आलोचकों को उत्तर देते हुए उसने लिखा—

मुस्करा कठिनाइयाँ—
आपत्तियों को दूर टाला
धैर्य रखकर संकटों में
खूब अपने को सँभाला,

किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया,
जब उठा हो भार जीवन,
तब लगाया होठ प्याला,

व्यर्थ कर दिन-रात निन्दा
विश्व ने जिह्वा थकाई,
था बहाना एक मन-
बहलाव का मधुपान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा।[2]

'दुनिया की नजर में' अपने पाँव 'कुपथ पर' जाते हुए देखकर कवि ने हाला को भी निराशावादी रूप दे दिया—

मैं कहाँ हूँ और वह
आदर्श मधुशाला कहाँ है?
विस्मरण दे जागरण के
साथ, मधुशाला कहाँ है?
है कहाँ प्याला कि जो दे
चिर तृषा चिर तृप्ति में भी?

१—देखिए—मधु कलश (१९३६ ई०)—
(i) "कह रहा जग वासनामय, होरहा उद्गार मेरा।"
(ii) "हैं कुपथ पर पाँव मेरे, आज दुनिया की नजर में।"
२—'कवि की निराशा'—मधुकलश (१९३५-३६ई०) पृ० ३७।

जो डुबा तो ले मगर दे
पार कर, हाला कहाँ है ?
देख भीगे ओठ मेरे
और कुछ सन्देह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का
है लगा मेरे अधर में ![1]

'मधुकलश' (१६३६ ई०) के पश्चात् कवि के जीवन की परिस्थितियाँ अधिक विषम हो जाती है और 'मधुशाला' का गायक आगामी रचनाओं मे अपने हृदय का रक्त उँडेलने लगता है। कवि के जीवन मे निराशा और क्षोभ जितना बढ़ता गया, उसकी 'हाला' भी उतनी ही कटु होती गई। 'निशा-निमंत्रण' (१६३७-३८ ई०) और 'एकन्त संगीत' (१६३८-३६ ई०) के गीतो मे कवि का मधुशाला से नाता टूट जाता है और उसे अनुभव होने लगता है—

कोई नहीं, कोई नहीं !
यह भूमि है हाला-भरी,
मधुपात्र - मधुबाला - भरी,
ऐसा बुझा जो पा सके मेरे हृदय की प्यास को—
कोई नहीं, कोई नहीं ![2]

उक्त पंक्तियो में हाला और मधुपात्रादि शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। जीवन के विषाद और पाश्चात्ताप की कराह गीत के एक-एक शब्द से ध्वनित है।

विषाद, पाश्चात्ताप और मानसिक पीड़ा से व्यथित होने के कारण कवि को अपने जीवन की अन्तिम घड़ी समीप आती हुई प्रतीत हुई तो मृत्यु का वह उसी रूप मे साक्षात्कार करने लगा, जिस रूप मे उमर खैयाम ने उसे प्रस्तुत किया था। खैयाम ने कहा था कि जब तक जीवन है, आनन्द के साथ मदिरा का पान करो और जब मृत्यु

१—'पथभ्रष्ट'—मधुकलश, पृ० ६५।
२—एकन्त संगीत—गीत-संख्या २५, पृ० ३१।

का दूत विष का प्याला लेकर उपस्थित हो तो उसे भी शान्त भाव से पी जाओ।[1]

खैयाम की नसीहत मानकर कवि ने किसी समय 'होंठ प्याले से लगाया' था। शीघ्र ही उसके सम्मुख दूसरी स्थिति भी उत्पन्न हो गई। उसे प्रतीत होने लगा—

छाया पास चली आती है!
जड़ बिस्तर पर पड़ा हुआ हूँ,
तम-समाधि में गड़ा हुआ हूँ,
तन चेतनता-हीन हुआ है, साँस सहज चलती जाती है!
छाया पास चली आती है!

तन सफेद है, पट सफेद है,
अंग-अंग में भरा भेद है,
निकट खिसकती देख इसे धकधक करती मेरी छाती है!
छाया पास चली आती है!

हाथों में कुछ है प्याला-सा,
प्याले में कुछ है काला-सा,
जान गया क्या मुझे पिलाने यह साकीबाला लाती है!
छाया पास चली आती है![2]

स्वय खैयाम के सम्मुख यह भीषण स्थिति उत्पन्न नही हुई थी। हिन्दी-काव्य मे मदिरावाद का यह उग्रतम निराशावादी रूप है। सच बात तो यह है, कि मदिरावाद की प्रशस्ति के लिए भारत-भूमि उपयुक्त स्थल नही था। फारस की अगूरी भूमि में मदिरा का प्रचार बुरा नहीं समझा जाता, यूरोप के देशो में भी वह एक सामाजिक पेय है, किन्तु भारतीय सामाजिक मर्यादाएँ उसे निन्दित समझती हैं। अत छायावादी कवियो मे से जिस-किसीने हाला और मधुशाला का चित्रण किया है, उसे उनको निराशावादी रूप मे ही उपस्थित करना

1—While the Rose blows along the River Brink,
With old Khayyam the Ruby Vintage drink
And when the Angel with his darker Draught
Draws up to thee—take that, and do not shrink.
Rubaiyyat Omar Khayyam, 48

२— एकान्त सगीत (१६३८-३६ ई०) गीत-सख्या ११, पृष्ठ २६।

गान्त भाव

; प्याले

उत्पन्न

पड़ा है। खैयामवादी प्रतीक-पद्धति के द्वारा कवियों ने अपने हृदय की अतृप्ति, तृष्णा, दुःख और विषाद को ही प्राय. व्यक्त किया है, प्रेयसी के साथ एकान्त मे बैठकर हाला का आस्वादन करनेवाली सुखात्मक कल्पना को वे नहीं व्यक्त कर सके। अत हिन्दी-काव्य का मदिरावाद उमर खैयाम के मदिरावाद से कहीं अधिक निराशावादी है।

नियतिवाद—

उमर खैयाम के नियतिवाद का उल्लेख किया जा चुका है।[1] भारतीय दर्शन कर्म-व्यवस्था मे विश्वास करने के कारण नियतिवादी विचारों को नहीं अपना सका। मध्ययुग के अवनति काल मे यद्यपि "करमगति टारै नाहिं टरी" अथवा 'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ' जैसी उक्तियाँ मानव-प्रयत्नो को सीमित करके किसी वाह्य शक्ति के द्वारा जीवन की गति-विधि के सचालन की घोषणा करती रहीं; किन्तु भारतीय विधिवाद नियतिवाद नहीं बन सका। कर्म-गति या विधि, नियति जैसी क्रूर शक्ति नहीं मानी जा सकती क्योकि वह केवल मनुष्य के पूर्वकृत कर्मों का यथोचित शुभ और अशुभ फल देने वाली है। आधुनिक युग मे छायावादी कवियो की चेतना का नियतिवाद की ओर आकृष्ट होने का कारण व्यक्तिगत और राष्ट्रीय असफलताएँ थीं; दार्शनिक चिन्तन का उसमें कम हाथ था। नियतिवाद से सबसे अधिक प्रभावित बच्चन ने व्यक्तिगत और राजनीतिक परिस्थितियो एवं नियतिवाद के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया है, जिसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत कर देना आनुषंगिक होगा। व्यक्तिगत परिस्थितियो का उल्लेख करते हुए आप लिखते हैं—

"१९३० ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में मैंने यूनिवर्सिटी छोड़ दी और उसके पश्चात् मेरे जीवन में जो भीषण तूफान आया और मेरे विचार और भावनाओ में जो प्रबल उथल-पुथल मची उसने मुझे ठीक उस मन.स्थिति मे रख दिया जिसमें रुबाइयात उमर खैयाम मेरे प्राणों की प्रतिध्वनि हो गई। एक-एक रुबाई ऐसी मालूम होने लगी जैसे मेरे लिए ही लिखी गई हो। अब जब उन्हे मैं स्वयं पढ़ता या किसी को सुनाता तो उनमें अन्तर्निहित भावनाओ से मेरा हृदय

१—देखिए—पृष्ठ २-३।

असफलता से उत्पन्न निराशा रही हो, किन्तु कवि बच्चन ने उमर खैयाम के जीवन-दर्शन को—विशेषकर नियतिवाद को—जितना अपनाया है, उतना अन्य कवियों ने नहीं। कवि को जीवन और जगत् की गतिविधि नियति जैसे किसी 'जड़ नियम' के द्वारा आबद्ध प्रतीत होती है—

है चमकता जो सितारा
वह प्रभा से हीन होगा,
बढ रहा जो चाँद नभ में
एक दिन फिर क्षीण होगा,
× × ×
भ्रान्त इस आवर्त में ही
विश्व जीवन लीन होगा;
'किस विजय पर ढोल पीटूँ,
किस पराजय पर धुनूँ सिर,
रात-दिन-सा जड़ नियम है
बद्ध पतनोत्थान मेरा।[1]

उमर खैयाम ने जीवन और जगत् की ग्रन्थि सुलझाने के लिए पृथ्वी से लेकर शनिलोक तक चक्कर लगाए थे; किन्तु बेचारा निराश होकर लौटा था।[2] बच्चन भी 'कल्पना-पथ का अनुसरण करके नियति के घर पधारे' और उसके द्वारा लिखी हुई अपनी जीवन-पुस्तिका की 'भूमिका' देखकर रोपड़े।[3] 'मधुकलश' (१६३७ ई०) के पश्चात् की

१—मधु कलश (१६३६ ई०) 'कवि की निराशा'।

2—Up from Earth's Centre through the Seventh Gate
I rose, and on the Throne of Saturn sate,
And many Knots unravel'd by the Road,
But not the Knot of Human Death and Fate
Rubaiyyat Omar Khayyam, 31

३—कल्पना-पथ अनुसरण कर मैं नियति के घर पधारा,
आँख मूँदे लिख रही थी एक पुस्तक वह उदारा,
"यह कथा तेरी", कहा उसने, तथा वह पुस्तिका दी,
खोलते ही पृष्ठ पहला कँप उठा तन-प्राण सारा,
भूमिका पढ कर पड़ा रो यह गगन स्वप्नाभिलाषी।
मधुकलश (१६३७ ई०) पृ० ४८।

प्रमुख दो रचनाओं—'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' के गीतों की पृष्ठभूमि में यही नियतिवाद प्रच्छन्न है। कवि जब गाता है 'अब तो दुख के दिवस हमारे', 'मैं जीवन में कुछ कर न सका', 'मैं क्या कर सकने में समर्थ ?' 'हर जगह जीवन विफल है', 'जीवन भूल का इतिहास', अथवा 'अब क्या होगा मेरा सुधार' तो उसकी निराशा से नियतिवाद ही ध्वनित होता है। अस्तु। पूर्वनिश्चयवाद या नियतिवाद छायावादी युग के कवियों की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। हम यह भी कह सकते हैं कि आत्मविश्वासहीन तथा अपने पुरुषार्थ और प्रयत्नों में असफल छायावादी कवियों को आत्म-संतोष के लिए एक दर्शन की आवश्यकता थी और इस अभाव की पूर्ति खैयाम के नियतिवाद ने भली भाँति करदी है। नियतिवाद का परोक्ष वातावरण छायावादी युग के अधिकांश निराशावादी गीतों में उपस्थित है। छायावादी कवि अपनी दुर्दशा पर इसलिए आसूँ बहाता है कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं। वह जीवन के उत्थान-पतन, सफलता-असफलता आदि को पूर्वनिश्चित एवं अनिवार्य मान बैठा है। नियतिवादी विचारों ने छायावादी युग के निराशावाद को एक दार्शनिक रूप दे दिया है।

आत्मसन्देह और मृत्युभय—

उमर खैयाम की रुबाइयों में आत्मा जैसी किसी शाश्वत् सत्ता में विश्वास नहीं किया गया। जीवन की क्षणिकता और मृत्यु का भय उसकी अधिकांश रुबाइयों में व्यक्त है। संसार रूपी सराय में मनुष्य के पास विश्राम करने के क्षण बहुत थोड़े हैं, एक बार प्रस्थान करने के पश्चात् वह कदाचित् फिर न लौट सके।[1] समय-पक्षी तेजी से उड़ रहा है, उसे बहुत थोड़ा उड़ना शेष रह गया है।[2] इस विश्व में मनुष्य क्यों आता है ? कहाँ से आया है ? और मृत्यु रूपी वायु एक रजकण के समान उसे न मालूम कहाँ उड़ा कर ले जायगी ?[3] ऐसे प्रश्नों का खैयाम के पास कोई उत्तर नहीं है। मानव-जीवन इतना निरुपाय है कि मनुष्य की अनुमति के बिना ही उसे इस संसार में भेज दिया जाता है, बिना अनुमति के ही उठा लिया जाता है।[4] खैयाम पण्डितों में

१—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या ३।

२—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या ७।

३—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या २६।

४—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या ३०।

माथा-पच्ची कर चुका। सातों आसमान के चक्कर काट आया किन्तु उसकी मृत्यु की ग्रन्थि न सुलझ सकी।[1] निराश होकर उसने आकाश को पुकारा और पूछा—"अंधकार में भटकनेवाले मानव का पथ प्रदर्शित करनेवाला प्रकाश कौनसा है?" किन्तु उत्तर मिला—"एक अन्ध-विश्वास।"[2] खैयाम की जन्म-मृत्यु की शंका का समाधान नहीं हो सका। विवश होकर उसने मदिरा की शरण ली।

उमर खैयाम सन्देहवादी अथवा बुद्धिवादी था इसलिए वह अन्धविश्वास से, जिसे दूसरे शब्दों में आस्था कहते हैं, सन्तुष्ट न हो सका। किन्तु उसे उत्तर तो ठीक ही मिला था। एक बार नचिकेता इसी प्रकार की शंका लेकर यमराज के पास गया था। उसे सन्देह था कि आत्मा जैसी कोई वस्तु मृत्यूपरान्त रहती भी है या नहीं[3] तो यमराज ने उसे यही उत्तर दिया था—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥[4]

उमर खैयाम "वाचा और मनसा" आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता था इसलिए उसे उसी ड्योढ़ी से वापस आना पड़ा, जिससे उसने प्रवेश किया था। उसकी जन्म-मृत्यु की ग्रन्थि भी न खुल सकी। अध्यात्मवादी की मृत्यु की ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है। 'मैं शरीर हूँ' ऐसा वह नहीं सोचता। अतः वह मृत्यु-भय से, जो सम्पूर्ण खैयामवाद के मूल में है, मुक्त हो जाता है। भारतीय दर्शन का यही सार यमराज ने नचिकेता को समझाया था—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥[5]

१—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या २१-२२।

२—खैयाम की मधुशाला—रुबाई संख्या २३।

३—येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं, वराणामेष वरस्तृतीयः॥
कठोपनिषद्, १।१।२०।

४—कठोपनिषद्, २।३।१२।

५—कठोपनिषद् २।३।१५।

आधुनिक युग में जहाँ-जहाँ विज्ञान का बुद्धिवाद पहुँचा, आस्था, श्रद्धा और विश्वासों का विनाश करता गया। बच्चन जैसे अँगरेजी शिक्षा-दीक्षा से युक्त छायावादी कवियो की यही मानसिक स्थिति थी। ईश्वर, आत्मा और कर्म मे उनका विश्वास पहले ही नष्ट हो चुका था, जीवन मे जब उन्हे पराजय और असफलताएँ मिली तो वे नियतिवादी, सन्देहवादी और निराशावादी वन गए। उमर खैयाम ही ऐसे लोगो का जीवन-पथ-प्रदर्शक बन सकता था। बच्चन जब कहते है —

तेज था विश्वास का उर में कभी, अबतो अँधेरा
आज तो सदेह शका ने लिया है डाल डेरा,
पथ बताए कौन, सब तो हैं भटकते-भूलते से,
मच रहा है शोर—मत है ठीक मेरा, ठीक मेरा।
हर दिशा की ओर बढ़ता, लौटता फिर दौड़ता है,
है किधर मजिल, न पाया जान जीवन-यान मेरा।[1]

तब उनकी उद्भ्रान्ति में खैयामवादी आत्म-सन्देह ही छिपा रहता है। और जब आप कहते हैं—

'याला है, पर पी पाएँगे,
है ज्ञात नहीं इतना हमको,
इस पार नियति ने भेजा है
असमर्थ बना कितना हमको!
कहनेवाले, पर, कहते हैं,
हम कर्मों में स्वाधीन सदा,
करनेवालों की परवशता
है ज्ञात किसे, जितनी हमको?
कह तो सकते हैं, कहकर ही
कुछ दिल हल्का कर लेते हैं;
उस पार अभागे मानव का
अधिकार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा![2]

१—मधुकलश, पृ० ५२।

२—मधुबाला (१६३६ ई०) पृ० ७६-८०

तब खैयामवादी जीवन-दर्शन ही आपकी विचार-धारा का आधार रहता है।

इस प्रकार से फिट्जजेरल्डकृत उमर खैयाम की रुबाइयो का अनुवाद छायावादी युग के उत्तरार्द्ध के निराशावाद को पर्याप्त उद्दीप्त करता है, साथ ही युग का निराशावाद खैयामवादी प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। निराशा, आत्म-पराजय, क्षोभ और असन्तोष के युग में खैयामवादी दर्शन यदि कवियों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करे तो कोई आश्चर्य की बात नही। प्रगतिवादी युग में जैसे ही कवियों का दृष्टिकोण निराशा के स्थान पर आशावादी और पराजय के स्थान पर सघर्षवादी बन जाता है, उमर खैयाम के हाला-वाद, नियतिवाद, आत्म-सन्देह आदि निराशावादी विचारो का कोई कवि स्मरण तक नही करता। स्वय बच्चन प्रगतिवादी युग में लिखी गई 'सतरगिनी' (सन् १६४२-४४) में खैयामवाद की किसी प्रवृत्ति को नही व्यक्त करते। खैयामवादी भावनाएँ केवल व्यक्तवादी, निष्क्रियतावादी भोगवादी और निराशावादी मनोवृत्ति के लोगों को आकर्षित कर सकती हैं, इस बात को असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

स्वतन्त्ररूप से निराशावाद की अभिव्यक्ति—

छायावादी काव्य मे निहित निराशावादी विचारो और दुःखात्मक अनुभूतियो का अध्ययन हमने रहस्यवाद, प्रकृति-चित्रण, प्रणयगीत और खैयामवाद के प्रसंग में किया। किन्तु, छायावादी गीतो मे निराशावाद की अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी हुई है, जिसका सम्बन्ध हम युग की किसी अन्य प्रवृत्ति या उपधारा से स्थापित नहीं कर सकते। स्वतन्त्र रूप से निराशावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति को तीन शीर्षको मे वर्गीकृत किया जा सकता है—(क) दार्शनिक निराशावाद, (ख) व्यक्तिगत निराशावाद और (ग) समष्टिगत निराशावाद।

दार्शनिक निराशावाद मे जीवन और जगत् की अनित्यता, क्षणिकता, व्यर्थता आदि का चित्रण हुआ है, किन्तु किसी आध्यात्मिक सत्ता की ओर प्राय: सकेत नहीं किया गया। इस कारण उसे रहस्यवाद से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार व्यक्तिगत निराशावाद मे दुःखात्मक मन:स्थितियो और निराशात्मक अनुभूतियो को व्यक्त करते समय कवि ने प्रणय-असफलता जैसी जीवन की किसी परिस्थिति का उल्लेख नहीं किया जिससे उसकी निराशा को परिस्थिति के अनुसार वर्गीकृत किया जा सके। दूसरे शब्दो मे, छायावादी युग मे व्यक्तिगत निराशावाद एवं दार्शनिक निराशावाद स्वतन्त्र 'वाद' के रूपो मे भी व्यक्त हुए हैं, इसलिए उनका अध्ययन पृथक् रूप से करना समीचीन होगा।

व्यक्ति अपनी दुर्बलताओ और व्यक्तिगत असफलताओं आदि के कारण कभी-कभी आत्म-विध्वंस की कामना करने लगता है; हमने इस मनोदशा को व्यक्तिगत निराशावाद के अन्तर्गत माना है। भारतेन्दु और ठाकुर गोपालशरण सिंह ने सामाजिक अध पतन से विक्षुब्ध होकर भारतवर्ष के विध्वंस की कामना की थी; उनके विध्वंस-वाद को राष्ट्रीय निराशावाद में सन्निहित किया गया है। छायावादी कवि

तव खैयामवादी जीवन-दर्शन ही आपकी विचार-धारा का आधार रहता है।

इस प्रकार से फिट्जजेरल्डकृत उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद छायावादी युग के उत्तरार्द्ध के निराशावाद को पर्याप्त उद्दीप्त करता है, साथ ही युग का निराशावाद खैयामवादी प्रतीको के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। निराशा, आत्म-पराजय, क्षोभ और असन्तोष के युग में खैयामवादी दर्शन यदि कवियों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करे तो कोई आश्चर्य की बात नही। प्रगतिवादी युग में जैसे ही कवियों का दृष्टिकोण निराशा के स्थान पर आशावादी और पराजय के स्थान पर संघर्षवादी बन जाता है, उमर खैयाम के हाला-वाद, नियतिवाद, आत्म-सन्देह आदि निराशावादी विचारो का कोई कवि स्मरण तक नही करता। स्वय बच्चन प्रगतिवादी युग में लिखी गई 'सतरगिनी' (सन् १९४२-४४) में खैयामवाद की किसी प्रवृत्ति को नही व्यक्त करते। खैयामवादी भावनाएँ केवल व्यक्तवादी, निष्क्रियतावादी भोगवादी और निराशावादी मनोवृत्ति के लोगों को आकर्षित कर सकती हैं, इस बात को असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

स्वतन्त्ररूप से निराशावाद की अभिव्यक्ति—

छायावादी काव्य मे निहित निराशावादी विचारो और दुःखात्मक अनुभूतियों का अध्ययन हमने रहस्यवाद, प्रकृति-चित्रण, प्रणयगीत और खैयामवाद के प्रसंग मे किया। किन्तु, छायावादी गीतो मे निराशावाद की अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी हुई है, जिसका सम्बन्ध हम युग की किसी अन्य प्रवृत्ति या उपधारा से स्थापित नही कर सकते। स्वतन्त्र रूप से निराशावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति को तीन शीर्षको मे वर्गीकृत किया जा सकता है—(क) दार्शनिक निराशावाद, (ख) व्यक्तिगत निराशावाद और (ग) समष्टिगत निराशावाद।

दार्शनिक निराशावाद मे जीवन और जगत् की अनित्यता, क्षणिकता, व्यर्थता आदि का चित्रण हुआ है, किन्तु किसी आध्यात्मिक सत्ता की ओर प्रायः संकेत नही किया गया। इस कारण उसे रहस्यवाद से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार व्यक्तिगत निराशावाद में दुःखात्मक मनःस्थितियो और निराशात्मक अनुभूतियो को व्यक्त करते समय कवि ने प्रणय-असफलता जैसी जीवन की किसी परिस्थिति का उल्लेख नहीं किया जिससे उसकी निराशा को परिस्थिति के अनुसार वर्गीकृत किया जा सके। दूसरे शब्दों में, छायावादी युग मे व्यक्तिगत निराशावाद एवं दार्शनिक निराशावाद स्वतन्त्र 'वाद' के रूपों में भी व्यक्त हुए हैं, इसलिए उनका अध्ययन पृथक् रूप से करना समीचीन होगा।

व्यक्ति अपनी दुर्बलताओ और व्यक्तिगत असफलताओं आदि के कारण कभी-कभी आत्म-विध्वंस की कामना करने लगता है; हमने इस मनोदशा को व्यक्तिगत निराशावाद के अन्तर्गत माना है। भारतेन्दु और ठाकुर गोपालशरण सिंह ने सामाजिक अधःपतन से विक्षुब्ध होकर भारतवर्ष के विध्वंस की कामना की थी; उनके विध्वंस-वाद को राष्ट्रीय निराशावाद मे सन्निहित किया गया है। छायावादी कवि

सम्पूर्ण सृष्टि के विध्वस की कामना करता है, अत उसके विध्वसवाद को समष्टिगत निराशावाद माना जा सकता है। द्विवेदी-युग के कवि विधवा, अछूत आदि के प्रति अपनी निष्क्रिय समवेदना प्रकट किया करते थे और उस समवेदना में उनका दृष्टिकोण जातीय अथवा राष्ट्रीय हुआ करता था। हमने कवियों के दृष्टिकोण के आधार पर द्विवेदी-युग की निष्क्रिय समवेदना को राष्ट्रीय निराशावाद के अन्तर्गत सन्निहित किया है। छायावादी कवियो ने भी भिखारी, भिखारिन, मजदूर, वेश्या आदि के प्रति निष्क्रिय समवेदना व्यक्त की है, किन्तु उनकी समवेदना का आधार जातीय भावना न होकर मानवतावादी दृष्टिकोण है। अत मानव-समाज के शोषित और उत्पीड़ित अग के प्रति अभिव्यक्त निष्क्रिय समवेदना को समष्टिगत निराशावाद में सन्निहित किया जा सकता है। दार्शनिक, व्यक्तिगत और समष्टिगत रूपो मे अभिव्यक्त निराशावादी अनुभूतियो, मनोदशाओ और प्रवृत्तियो का अनुशीलन करने के पश्चात् छायावादी युग के निराशावाद का अध्ययन लगभग पूर्ण हो जाता है।

(क) दार्शनिक निराशावाद—

छायावादी युग का निराशावाद (i) जगत् की अनित्यता, (ii) शरीर की मरणशीलता एव (iii) जीवन की अन्य दुर्बलताओं के चित्रण तक सीमित है। छायावादी युग गीति-काव्य का युग होने के कारण कल्पना की उन्मुक्त उड़ान और भावप्रवणता को महत्व देता है। फलत छायावादी कवियो से हम किसी गम्भीर दार्शनिक विवेचन की आशा नही करते। फिर भी, जहाँ-कही दार्शनिक रूप मे निराशावाद की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ कवियो की दृष्टि मानव-जीवन के अशुभ पक्ष की ओर विशेषत गई है; जीवन का उज्ज्वल पक्ष उनकी आँखो से प्राय ओझल रहा है।

जिस युग मे व्यष्टि एव समष्टि जीवन में कोई जाति असन्तोष, क्षोभ, आत्मपराभव आदि निषेधात्मक अनुभूतियों का आखेट बनती है उस युग के कवियो का जीवन-दर्शन निराशावादी बन जाना स्वाभाविक है। मनुष्य का मानसिक जीवन अविभाज्य है। उसमें विचार और अनुभूतियाँ अपना-अपना पृथक् अस्तित्व नही रखती। छायावादी युग मे जो कवि अपने व्यक्तिगत जीवन मे असन्तोष

और पराजय का अनुभव कर रहे थे उनके दार्शनिक विचार भी आशावादी नहीं बन सकते थे। हमने रहस्यवाद और प्रणय-गीतों के प्रसंग में ज्ञात किया कि छायावादी युग की निराशा उत्तरोत्तर उग्र रूप धारण करती गई है। यही बात दार्शनिक निराशावाद का अध्ययन करने से भी ज्ञात होती है।)

छायावादी कवियों के दार्शनिक विचारों का सम्बन्ध हम यदि भारतीय दार्शनिक परम्परा से स्थापित करें तो भी हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि (जातीय एवं सांस्कृतिक पराभव के कारण हिन्दू-जाति के मानस में जीवन और जगत् को त्याज्य, मिथ्या, अनित्य आदि मानने के जो संस्कार शताब्दियों से अपनी जड़ें जमाए हुए थे वे परिस्थितियों की विषमता के कारण केवल उद्दीप्त हो उठे हैं। आधुनिक युग की तुलना में मध्यकालीन जीवन उतना अशान्त, संघर्ष-पूर्ण एवं क्षुब्ध नहीं था, इसलिए छायावादी कवियों का जीवन-दर्शन भी मध्यकालीन कवियों के जीवन-दर्शन से अधिक निराशावादी है। मध्यकालीन जीवन की शान्ति और संतोष श्रद्धा, विश्वास और भक्ति में सन्निहित था, जब कि छायावादी कवियों के जीवन-दर्शन में श्रद्धा, आस्था और विश्वास का अभाव है। छायावादी कवि जगत् की अनित्यता और जीवन की दुर्बलताओं पर केवल विषाद प्रकट करके मौन रह जाते हैं, किसी शाश्वत् जीवन की कल्पना नहीं कर पाते। नियतिवाद और आत्म-सन्देह उनके विचारों को पराभूत किए रहता है। खैयामवाद के प्रसंग में इस ओर संकेत किया जा चुका है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा का अध्ययन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में केवल छायावादी कवियों के दार्शनिक निराशावाद का अत्यन्त संक्षेप में अनुशीलन कर लेना पर्याप्त होगा। भारतीय दार्शनिक परम्परा की भूमिका में छायावादी युग के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने से प्राचीन दर्शन और छायावादी कवियों के दार्शनिक निराशावाद का अन्तर स्वयं स्पष्ट हो जायगा।

(१) जगत् की अनित्यता—

जगत् और जीवन सापेक्ष वस्तुएँ हैं। प्राचीन दर्शन जीवन और जगत् की अनित्यता पर बल देते समय मोक्षावस्था में एक ऐसी

स्थिति की कल्पना करते थे जो अनित्यता आदि दोषों से मुक्त हो। छायावादी कवि जीवन और जगत् की परिवर्तनशीलता, अनित्यता, क्षणिकता अथवा नश्वरता पर दुखी हैं किन्तु वे किसी परिवर्तनरहित, नित्य अथवा शाश्वत् जगत् की कल्पना नहीं कर पाते। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में जब उनको असफलताओं और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है तो निराशावादी बनकर जीवन का निषेध करने लगते हैं।

सुमित्रानन्दन पत को 'परिवर्तन' (अप्रेल, १९२४) में हम जगत् और जीवन की अनित्यता पर आँसू बहाते हुए पाते हैं—

हाय! सब मिथ्या-बात!—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर म भरता सूनी-साँस!
वही मधुऋतु की गुंजित-डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन के भार!
आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न-कराल;
प्रात का सोने का ससार
जला देती सध्या की ज्वाला!
अखिल यौवन के रग-उभार
हड्डियों के हिलते, कङ्काल;
कचों के चिकन, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार,
गूजते हैं सबके दिन-चार,
सभी फिर हाहाकार![1]

जगत् दुखद है क्योंकि मधुमास का शृंगार और उल्लास चार दिन में नष्ट होजाता है, उषा की लाली क्षण भर में नष्ट हो जाती है और मानव-जीवन में यौवन की श्री और उन्माद जरा के द्वारा सदैव के लिए नष्ट हो जाता है। जीवन में एक 'हाहाकार' के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं जाता। जगत् और जीवन में एक परिवर्तन ही सत्य है

१—'परिवर्तन' (एप्रिल, १९२४) पल्लव पृ० ११६-११७।

और सब मिथ्या है। इस प्रकार की भावनाएँ जीवन और जगत् के प्रति निराशा उत्पन्न करनेवाली है। 'परिवर्तन' की रचना कवि ने प्राचीन दर्शन के अध्ययन से प्रभावित होकर निराशावादी मन स्थिति में की थी, इस बात को उसने स्वयं स्वीकार किया है।[1] किन्तु केवल दर्शन-शास्त्र का अध्ययन ही किसी व्यक्ति को निराशावादी नहीं बना देता। राष्ट्रीय अध पतन की अनुभूति से उत्पन्न निराशा भी 'परिवर्तन' के निराशावाद का कारण है जिसकी सूचना हमें कविता की प्रथम पंक्तियों से मिलती है।[2]

पंत की भाँति दिनकर भी जगत् और जीवन को इसलिए दु:खमय मानते हैं कि ससार अनित्य है और जीवन क्षणिक है—फूलों का विकास और ऊषा का शृंगार क्षणिक है। इस नित्य जगत् में 'हास' के विनिमय मे आँसू मिलते हैं, जीवन की एक-एक श्वास मृत्यु को समीप बुलाती है। इस कारण विश्व 'विनश्वरता का एक चिरंतन राग' और जीवन 'क्षण भंगुरता का इतिहास' है। दीन मानव को मृत्यु के मूल्य मे जीवन देना पड़ता है।[3]

१—"दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव-जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप मे मृत्यु दिखाई देने लगी, वसन्त के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थि-पंजर दिखाई पड़ने लगा।" आदि।—आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत—भूमिका पृ० ४–५।

२—आज कहाँ वह पूर्ण-पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त-छवि जाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ? (आदि) पल्लव, पृ० १२५।

३—हँसते हो तो हँसो, अश्रुमय है जीवन का हास,
यहा श्वास की गति में गाता झूम-झूमकर नाश,
क्या है विश्व ? विनश्वरता का एक चिरन्तन राग,
हँसो, हँसो जीवन की क्षण भंगुरता के इतिहास !
× × ×
हास का अश्रु-साथ विनिमय, यही है जग का परिवर्तन,
मिलन से मिलता हमें वियोग, मृत्यु की कीमत है जीवन !
'समाधि के दीप से'—रेणुका पृ० ८०–८१।

छायावादी कवि जगत् की अनित्यता और जीवन की क्षणिकता पर इसलिए दुखी है कि वह आत्मा जैसी किसी अनित्य सत्ता में विश्वास नहीं करता। इस निराशावाद का एक कारण यह भी हो सकता है कि जगत् की अनित्यता प्रत्यक्ष है—अनुभव गम्य है, किन्तु आध्यात्मिक विचारों में विश्वास करने के लिए जिस आस्था की अपेक्षा है वह इस वैज्ञानिक बुद्धिवाद के युग में कवि के पास नहीं है। अतएव वह जीवन और जगत् की अनित्यता का अनुभव करके उनका केवल निषेध करके मौन हो जाता है। छायावादी कवियों के निराशावाद पर हम मध्यकालीन सत कवियों के निराशावादी विचारों का भी प्रभाव देख सकते हैं।[1] कवियों ने जहाँ-कहीं उपनिषदों से प्रेरणा ग्रहण की है, वहाँ उनके विचार वैदिक दर्शन के आशावाद को प्राय ग्रहण नहीं कर पाये हैं। एक उदाहरण से वैदिक साहित्य के प्रभाव और वैदिक दर्शन एव छायावादी कवियों के जीवन-दर्शन का अन्तर स्पष्ट हो सकेगा।

वैदिक विश्वास है कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है। सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व सब कुछ शून्य था केवल ब्रह्म ही था। उसने स्वयं तप करके (सकल्प-शक्ति के द्वारा) विश्व की रचना की। यह विचार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) से लेकर छादोग्य उपनिषद् (६।२।१-४), बृहदारण्यक उपनिषद् (१।२।१-२, १।४।१-४, १।४।१०, और २।१।२०) ऐतरेय उपनिषद् (१।१-३) और तैत्तिरीय उपनिषद् (२।७) मे बार-बार दोहराया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो व सदजायत। तदात्मान स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।[2]

१—मध्यकालीन सतों ने भी जगत् की निस्सारता और शरीर की मरणशीलता की ओर प्रायः सकेत किया है। जैसे—

यहु ऐसा ससार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रगि न भूल॥
हाड़ जलै ज्यूं लकड़ी, केसे जलै ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥

कबीर ग्रन्थावली—पृ० २१, २२

२—तैत्तिरीयोपनिषद्—२।७।

और रामकुमार वर्मा लिखते हैं—

इन्द्र धनुष-सा यह जीवन
दुख के काले बादल में
अंकित है इस क्षण या उस क्षण।

विश्व अश्रुमय था उससे,
निकली चित् की लघु एक किरण
जीवन के नूतन रंगों का,
हुआ शून्य में वक्र पतन।[1]

चित् की एक किरण के द्वारा शून्य मे इन्द्र-धनुष के समान जीवन के विभिन्न रंगो का (नामरूपात्मक जगत् और सुख-दुःख पूर्ण जीवन का) निर्माण हुआ—इस विचार मे हम सृष्टि-उत्पत्ति के वैदिक सिद्धान्त का आभास पा सकते हैं। किन्तु वेद सृष्टि को 'सुकृत' मानते हैं; क्योंकि ब्रह्म ने किसी वाह्य उपकरण से नही, अपितु अपनी सत्ता से उसका निर्माण किया है। ब्रह्म आनन्दमय है (आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्[2]), फलत उसकी सत्ता से उद्भूत जगत् भी आनन्दमय ही होगा। यह एक आशावादी विचार है। रामकुमार वर्मा 'इन्द्रधनुष-से जीवन' का निर्माण अश्रुमय जगत् मे चित् की किरण के प्रक्षेप से मानते हैं। किन्तु आप एक तो चित् के साथ आनन्द का उल्लेख नहीं करते, दूसरे जीवन का अपृथक् सम्बन्ध दुःख ('दुःख के काले बादल मे अंकित है इस क्षण या उस क्षण' से अभिव्यक्त) से मानते हैं। जीवन की उपमा इन्द्रधनुष से देने से उसकी क्षणिकता और आधारहीनता भी ध्वनित है। इस प्रकार छायावादी कवियो ने जहाँ-कहीं उपनिषदो से भाव ग्रहण किया है, वहाँ अपनी कल्पना के द्वारा औपनिषद विचारधारा को भी निराशावादी रूप दे दिया है। आशावादी वैदिक दर्शन छायावादी कवियो की लेखनी से व्यक्त होकर आंशिक रूप मे ही आशावादी रह गया है।

(ii) शरीर की मरणशीलता—

यद्यपि जीवन और जगत् की अनित्यता मे मरणशीलता का भाव

१—रूपराशि (१६३३ ई०), गीत-संख्या, १८, पृ० २१।
२—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक।

स्वय सन्निहित है; किन्तु कुछ कवियो ने अपने गीतो में उसको इतना अधिक महत्व दिया है कि मरणशीलता का पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। 'जीवन-सगीत' और 'परदेशी' शीर्षक गीतो मे दिनकर ने मृत्यु का वार-वार स्मरण किया है। 'जीवन-सगीत' मे कवि लिखता है कि "वैभव का उन्माद और रूपराशि का गर्व करना व्यर्थ है, पाप-पुण्य का ताना-वाना बुनना भी व्यर्थ है, ज्ञान और पांडित्य निष्फल प्रयास है; जगत् मे किसी वस्तु का सग्रह भी निष्प्रयोजन है, क्योकि जीवन नश्वर है। छवि के शुभ्र उपवन मे सर्वनाश का घर वना हुआ है। यह देश (जगत्) सपनों का घर है। प्रलय के वृन्त मे जीवन डोल रहा है। मृत्यु का मूल्य किसी दिन नि श्वासो के द्वारा चुकाना पड़ेगा। सारा नभ सर्वनाश के अट्टहास से गूँज रहा है। यहाँ किसी की तरी अमरत्व का किनारा नहीं छू सकती, क्योकि अकेला प्रलय एक-एक करके सब नावों को डुवा रहा है। अकेली मृत्यु सृष्टि को चाट जाने के लिए निर्भय वैठी हुई है। मृत्यु की एक हिलोर उठती है और उसमें ज्ञानी-अज्ञानी सभी डूव जाते हैं।"[1]

१— जीवन-सगीत

कचन-थाल सजा सौरभ से ओ फूलों की रानी
अलसाई-सी चली कहो करन किसकी अगवानी
वैभव का उन्माद, रूप की यह कैसी नादानी
उषे ! भूल जाना न ओस की करुणामयी कहानी
जरा देखना गगन गर्भ में तारा का छिप जाना
कल जो खिले आज उन फूलों का चुपके मुर्झाना
रूपराशि पर गर्व न करना जीवन ही नश्वर है
छवि के इसी शुभ्र उपवन में सर्वनाश का घर है
सपनों का यह देश सजनि किसका क्या यहाँ ठिकाना
पाप-पुण्य का व्यर्थ यहाँ वुनते हम ताना-वाना
प्रलय-वृन्त पर डोल रहा है यह जीवन दीवाना
अरे मौत का नि:श्वासों से होगा मोल चुकाना
सर्वनाश के अट्टहास से गूँज रहा नभ सारा
यहाँ तरी किसकी छू सकती वह अमरत्व-किनारा
एक-एक को डुवो रहा नावों को प्रलय अकेला
और इधर तट पर जुटता है वैभव मद का मेला

"अरथी-रथ से उतरकर एक दिन चिता का संसार देखना पड़ेगा। उस संसार में यौवन का सार खोजने पर भी नहीं मिलेगा। प्रिय-चुम्बित अधर और उन्नत उरोज एक न एक दिन स्वान और शृगालो के आहार बनेगे। प्रिय की मधुर सेज पर दो दिन प्रणय-विहार करने के पश्चात् एक दिन महाप्रलय का स्वाद चखना पड़ेगा। यहाँ किसी का बाग हरा-भरा नहीं रह सकता, क्योंकि महाप्रलय की भीषण-ज्वाला यहाँ निरन्तर जलती रहती है।" आदि।

दिनकर ने अपनी रचना को 'जीवन-संगीत' का नाम दिया है, किन्तु यदि उसे 'मृत्यु-संगीत' का नाम दिया जाता तो और भी उपयुक्त होता। कवि की विचार-धारा मृत्यु पर ही केन्द्रित है। मृत्यु को अपने भीषणतम रूप में उपस्थित करके वह जीवन के प्रत्येक भावात्मक पत्त का निषेध करता है। जीवन का निषेध करने के अतिरिक्त इस मृत्युवाद का और कोई प्रयोजन दिखलाई नहीं

सृष्टि नाश जाने को बैठी निर्भय मौत अकेली
जीवन की नाटिका सजनि! है जग में एक पहेली
यहा देखता कौन कि यह नत-मस्तक, वह अभिमानी।
उठती एक हिलोर, डूबते पडित औ' अज्ञानी

× × × ×

सुन्दरता पर गर्व न करना ओ स्वरूप की रानी
समय-रेत पर उतर गया कितने मोती का पानी
अरथी-रथ से उतर चिता का देखोगी ससार
जरा खोजना उन लपटों में इस यौवन का सार
प्रिय-चुम्बित यह अधर, और उन्नत उरोज सुकुमार सखी
आज न तो कल श्वान-शृगालों के होंगे आहार सखी
दो दिन प्रिय की मधुर सेज पर कर लो प्रणय-विहार सखी
चखना होगा तुम्हे एक दिन महाप्रलय का प्यार सखी
जिस दिन माझी आवेगा ले चलने को उस पार सखी
यह मोहक यौवन देना होगा उसको उपहार सखी

× × ×

हरा-भरा रह सका यहा पर नहीं किसी का बाग सखी
यहा सदा जलती रहती है सर्वनाश की आग सखी ॥

रेणुका, पृ० ८१-८५।

पड़ता। हम इस मृत्युवाद मे दर्शन की कोई गहराई न पाकर केवल उस पराजित मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति पाते हैं जो मनुष्य को जीवन से उदासीन वनाकर अकर्मण्य वना देती है।

मृत्यु-भय के कारण कवि स्वय पलायनवादी वन गया है। वह जीवन से पलायन करके कल्पना के किसी ऐसे लोक मे जाना चाहता है जहाँ उसे जीवन, यौवन और प्राण न गँवाना पड़े—

मैं न रुकूँगा इस भूतल पर
जीवन, यौवन, प्रेम गँवाकर
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको
जहाँ-कहीं इस जग के वाहर
मरते कोमल वत्स यहाँ वचती न जवानी परदेशी
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी।[1]

'जग के वाहर' जाने की कल्पना केवल पलायनवादी मनोवृत्ति का परिणाम है। यह मृत्युवाद कवियों की असतुलित मानसिक अवस्था एवं विकृत जीवन-दर्शन का ही परिचय देता है।

(ग) जीवन की अन्य दुर्वलताएँ—

छायावादी कवियों ने मानव-जीवन को दुखद, त्याज्य एव हेय सिद्ध करने के लिए उसकी अनित्यता, क्षणिकता एव मरणशीलता का ही वार-वार स्मरण नही किया अपितु मनुष्य के रूप और यौवन को अशुभ वतलाकर, जीवन को तृप्ति एव सतोपहीन कहकर और उसकी विवशता, दीनता एव दुर्वहता पर वल देकर भी उन्होंने जीवन के प्रति निराशा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। दुर्वलताओं पर दृष्टिपात करते समय कविगण जीवन के उज्ज्वल पक्ष से उदासीन ही रहे हैं।

रामकुमार वर्मा ससार को धूल समझकर छोड़ चुके हैं; क्योंकि आपको मानव-रूप और यौवन से घृणा हो गई है—

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का थोड़ा सा छवि जाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है वह भीषण ककाल;
× × × ×

---

[1]—'परदेशी'—रेणुका, पृ० २२।

इस यौवन के इन्द्र-धनुष में भरा वासना-रंग,
एक टूटता-स्वप्न आँख में कहता उसे 'अनंग'।

× × ×

छविमय कहते हो जिसको जिसमें है रूप अपार,
हाय! भरा है उसमें कितने, पापों का संसार!

× × ×

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार॥[1]

कलुषित संसार को धूल समझकर छोड़ने मे, छविमय शरीर के भीतर नग्न कंकाल का दर्शन करने मे एवं रूप और यौवन को वासनामय मानने में आध्यात्मिक अनुभवजन्य किसी वैराग्य या विवेक का हाथ नहीं है, अपितु इस दोष-दर्शन की पृष्ठभूमि मे कवि के व्यक्तिगत जीवन की विफल आशा और असफलताएँ छिपी हुई है।

दिनकर को जगत् और जीवन 'माया का मोहक वन' प्रतीत होता है; क्योंकि उन्होंने मानव-जीवन में केवल छल-कपट, असन्तोष, अतृप्ति एवं विकलता का अनुभव किया है। सुख, शान्ति और सन्तोष का कवि कभी अनुभव नहीं कर सका है—

एक बात है सत्य, कि झड़ जाते हैं खिलकर फूल यहाँ
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ
कितने ही कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ

× × ×

जगती में मादकता देखी, लेकिन अक्षय तत्त्व नहीं
आकर्षण में तृप्ति, और सुन्दरता में अमरत्व नहीं
यहाँ प्रेम में मिली विकलता, जीवन में परितोष नहीं
बाल-युवतियों के आलिंगन में पाया संतोष नहीं
हमें प्रतीक्षा में न तृप्ति की मिली निशानी परदेशी।
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी॥[2]

गीत की पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि मानव-जीवन की सभी सम्भावित दुर्बलताओं की ओर संकेत करके उसके प्रति निराशा

१—'कंकाल'—अभिशाप, पृ० ८, ९ और १४।
२—'परदेशी'—रेणुका, पृ० २०-२१।

उत्पन्न करना चाहता है। उसके पास जीवन का भावात्मक आदर्श कुछ भी नही है।

निराशावादी बच्चन जीवन को विवश, निरुपाय और हीन सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। आपकी चेतना व्यक्तिवादी है, इसलिए आप जग (समाज) में सुधार हो जाने पर भी व्यक्तिगत जीवन में सुख की कल्पना नही कर पाते। कवि का विश्वास है कि 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन।'[1] कवि की दृष्टि मे मानव स्वतन्त्र नही है। वह जगती के कठोर बन्धनो में जकडा हुआ है और जगती सृष्टि के बन्धनो मे आबद्ध है। और सृष्टि भी स्वतन्त्र नही वह भी (नियति जैसी) किसी अन्य शक्ति के बन्धन मे बँधी हुई है। हम सब तुच्छ तिनके के समान इन बन्धनो की प्रबल धारा मे बहे जा रहे हैं।[2] कवि की दृष्टि मे मनुष्य उस बैल के समान है जिसे चाहे-अनचाहे कर्म-चक्र रूपी जुए के नीचे अपनी गर्दन डालनी ही पडती है। वह जीवन-भार नही वहन करना चाहता, किन्तु बचने का कोई उपाय भी तो उसके पास नहीं—

जुए के नीचे गर्दन डाल !
देख सामने बोझी गाड़ी,
देख सामने पथ पहाड़ी,
चाह रहा है दूर भागना, होता है बेहाल ?
जुए के नीचे गर्दन डाल !

तेरे पूर्वज भी घबराए,
घबराए, पर क्या बच पाए,

१—निशा-निमन्त्रण—(१९३७–३८ ई०) गीत सख्या ५७, पृ० ८१।

२— साथी सब कुछ सहना होगा !
मानव पर जगती का शासन,
जगती पर ससृति का बधन,
ससृति को भी और किसी के प्रतिबधों में रहना होगा !
हम क्या हैं जगती के सर मे !
जगती क्या, ससृति-सागर में !
एक प्रबल धारा में हमको लघु तिनके-सा बहना होगा !
निशा-निमन्त्रण, १९३७–३८ ई० गीत सख्या ६५ पृ० ११९।

इसमें फँसना ही पड़ता है, है विचित्र यह जाल!
जुए के नीचे गर्दन डाल!

यह गुरु भार उठाना होगा,
इस पथ से ही जाना होगा;
तेरी खुशी-नाखुशी का है नहीं किसी को ख्याल!
जुए के नीचे गर्दन डाल![1]

उक्त गीत में कवि की दृष्टि मानव-जीवन के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वों पर है। उसके विचार से मानव-जीवन इसलिए तुच्छ है कि उससे अनेक सामाजिक एवं व्यक्तिगत कर्तव्य सम्बद्ध हैं, अतः विवश होकर उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। गीत से दार्शनिक गाम्भीर्य उतना प्रकट नहीं होता, जितनी कवि की पराजित मनोवृत्ति, जो निराशावाद का ही पर्याय है। जीवन-क्षेत्र में पराजित व्यक्ति को अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व अपरिहार्य एवं दुर्वह भार प्रतीत होना स्वाभाविक-सी बात है।

छायावादी कवियों ने मानव-जीवन के प्रति कुछ ऐसे निराशावादी विचार भी प्रकट किए हैं जिनका सम्बन्ध केवल वर्तमान समय से है। ऐसे गीतों में दार्शनिकता कम, किन्तु परिस्थितियों की विषमताओं से उत्पन्न निराशावादी प्रतिक्रिया अधिक व्यक्त हुई है। जैसे—

अकेला मानव आज खड़ा है!
दूर हटा स्वर्गों की माया,
स्वर्गाधिप के कर की छाया,
सूने नभ, कठोर पृथ्वी का ले आधार अड़ा है!
अकेला मानव आज खड़ा है!

धर्म-संस्थाओं के बन्धन
तोड़ बना है वह विमुक्त-मन,
संवेदना-स्नेह-संबल भी खोना उसे पड़ा है!
अकेला मानव आज खड़ा है।[2]

वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने मनुष्य की श्रद्धा और विश्वास को छीन लिया

१—एकान्त-संगीत (१९३८-३९ ई०) गीत-संख्या ६५, पृ० ८१।
२—एकान्त-संगीत (१९३८-३९ ई०) गीत-संख्या ९९, पृ० ११५।

था किन्तु जीवन मे सघर्ष और विषमताओ को और बढ़ा दिया था। धर्म-सम्थाओ के वन्धनो को अमान्य करके आधुनिक बुद्धिवादी मनुष्य ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का झडा तो फहराया, किन्तु उस स्वतन्त्रता अथवा वैयक्तिता के कारण, जिसे हम दूसरे शब्दो में अहंभाव भी कह सकते हैं; उसकी सामाजिक चेतना भी नष्ट होगई। अत न तो उसको धार्मिक विश्वासो की शान्ति और सतोप का सहारा मिल सका और न वह समाज से समवेदना और स्नेह ही पा सका। ऐसी परिस्थिति मे वह केवल यही अनुभव कर सकता था कि वह ससार में अकेला है, स्नेह, समवेदना से वचित है एव असहाय है।

छायावादी युग की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो की विपमता ने युवक कवियों की चेतना को कितना निराशावादी वना दिया था तथा उनको मानवता कितनी दुर्वह प्रतीत होने लगी थी, इसका आभास हम दिनकर की 'मनुष्य' शीर्षक कविता मे पा सकते है—

कैसी रचना! कैसा विधान!
हम कोमल, कान्त प्रकृति-कुमार
हम मानव, हम शोभा-निधान
जाने किस्मत में लिखा हाय
विधि ने क्यों दुख का उपाख्यान
कैसी रचना! कैसा विधान!
कलियों को दी मुसकान मधुर
कुसुमों को आजीवन सुहास
नदिया को केवल इठलाना
निर्झर को कम्पित स्वर-विलास
वन-मृग को शैलतटी - विचरण
खग कुल को कूजन, मधुर तान
सब हँसी-खुशी बँट गई
रुदन ही पड़ा हमारे भाग्य आन
कैसी रचना! कैसा विधान!

× × ×

मानवता की दुर्गति देखे
कोई सुनले यह आर्त्त नाद

कोई कह दे, क्यों आन पड़ा
हम पर ही यह सारा विषाद
उपचार कौन ? रे क्या निदान
कैसी रचना ! कैसा विधान ![1]

कवि ने अपनी रचना में मानवमात्र के जीवन को दुर्वह बतलाकर उसमें दार्शनिकता का पुट दिया है किन्तु उसकी पुकार में अपने समाज की व्यथा, वेदना और निराशा अधिक सन्निहित है । अस्तु । छायावादी कवियों ने अनित्यता, नश्वरता आदि के आधार पर जीवन और जगत् का जो निषेध किया है, उसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक परिस्थतियों की विषमता और व्यक्तिगत असंतोष का ही हाथ अधिक है। दार्शनिक गाम्भीर्य उनके गीतों में उतना नहीं मिलता । दार्शनिक निराशावाद का उल्लेख रहस्यवाद और खैयामवाद के प्रसग में भी किया जा चुका है ।

(ख) व्यक्तिगत निराशावाद—

रहस्यवाद और प्रणय-निराशा आदि के प्रसंग में हमने व्यक्तिगत निराशा की गहराई का अध्ययन किया था। प्रस्तुत प्रसग में केवल उस निराशा का अनुशीलन करना अपेक्षित है, जिसमें कवियों ने आध्यात्मिक वियोग अथवा प्रणय की असफलता जैसी किसी परिस्थिति का उल्लेख नहीं किया; अपितु अपनी गई-गुजरी हालत पर आँसू बहाए हैं। सामान्य व्यथा, वेदना, पीड़ा, रुदन आदि दुःखात्मक अनुभूतियाँ तो छायावादी युग में आदि से अन्त तक अभिव्यक्त होती रही हैं और गीति-काव्य का एक प्रकार से गुण अथवा लक्षण बन गई हैं। उनका विवेचन करना निवन्ध के कलेवर को बढ़ाना होगा। अतः यहाँ केवल उन मनःस्थितियों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा जिनमें निराशावादी अनुभूतियाँ उग्रतम रूप धारण कर गई हैं और ऐसी अनुभूतियों में (१) आशा और उल्लास का सर्वथा अभाव, (२) समाज से उदासीनता और अतिवैयक्तिकता, (३) हताशा और पराजय (४) पश्चात्ताप और विषाद (५) आत्म-सन्देह और आत्म-ग्लानि, (६) जीवन से उदासीनता और जड़ता, (७) भीत अवस्था, (८) मृत्युकामना और (९) मृत्यून्मुखता को परिगणित किया जा सकता है।

१—रेणुका (१९३५ ई०) पृ० २७-२८ ।

व्यक्तिगत निराशावाद और दार्शनिक निराशावाद की अभिव्यक्ति मे एव जीवन और मृत्यु के प्रति अध्यात्मवादी और सदेहवादी दृष्टिकोणो मे जो अन्तर है उसको समझ लेने के पश्चात् व्यक्तिगत निराशावाद के विषाद की गहराई का ठीक-ठीक अनुमान लग सकेगा।

व्यक्तिगत निराशावाद और दार्शनिक निराशावाद—

दार्शनिक निराशावाद के प्रसग मे हमने ज्ञात किया कि छायावादी कवियो ने व्यक्तिगत अभाव, असफलता एव सामाजिक परिस्थितियो की विषमताओं से प्रेरित होकर ही प्राय अपनी भावनाओं को दार्शनिक रूप दिया है। इस दृष्टि से विचार करने पर दार्शनिक निराशावाद और व्यक्तिगत निराशावाद में कोई मौलिक अन्तर नही है। किन्तु, दोनो की अभिव्यक्ति के प्रकारो मे अन्तर है। दार्शनिक निराशावाद मे जीवन और जगत् की समस्याओं को सार्वभौम रूप दिया गया है, जबकि व्यक्तिगत निराशावाद मे कवि की चेतना 'मैं' और 'मेरे' तक सीमित रही है। एक उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट हो सकेगा। रामकुमार वर्मा लिखते हैं—

जीवन ही करुण कथा है।
शब्दों में सुन्दरता है, अर्थो में भरी व्यथा है।
× × ×
यह जीवन समय-भवन में टूटा-सा टेढ़ा जाला;
जो रेशम-सा दिखता है, पर जीर्ण अन्त में काला।[1]

और महादेवी वर्मा का कथन है—

मै नीर भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।[2]

दोनो गीतो के भाव मे कोई मौलिक अन्तर नही है। दोनो जीवन की क्षणिकता अथवा मरणशीलता की ओर सकेत करते हैं। किन्तु भाव

१—चन्द्रकिरण (१९३७ ई०) पृ० ३२।
२—यामा, पृ० २२७।

की अभिव्यंजना के अन्तर से दोनो की संवेदनशीलता मे अन्तर आगया है। रामकुमार वर्मा अवैयक्तिक रूप से जीवन के विषय मे एक सामान्य बात कहते हैं। महादेवी अपने जीवन की क्षणिकता पर दु:ख प्रकट करती हैं। यद्यपि जीवन की क्षणिकता को हम दोनो गीतों मे पढ़ते हैं, उनके पढ़ने से हमारे ऊपर प्रतिक्रिया भी दु:खात्मक ही होती है, किन्तु रामकुमार वर्मा की जीवन की अनित्यता के विषय मे एक सामान्य उक्ति हमारे हृदय को उतना स्पर्श नहीं करती जितनी महादेवी वर्मा की व्यक्तिगत रूप मे व्यक्त की गई वेदना। वदली के समान हमारे लिए भी इस विस्तृत जगती मे कोई कोना खाली नहीं है; हमे भी ममता रहने पर एक दिन ससार का परित्याग करना पड़ेगा—यह विचार तो हमारे हृदय को व्यथित करते ही है, साथ ही महादेवी के गीत मे हम एक निष्फल जीवन का अवसाद भी पाते है और हमारी मानवीय समवेदना जागरित होकर जीवन की अनित्यता के अनुमान से उत्पन्न सामान्य अवसाद को और तीव्र कर देती है। अस्तु। जिन कवियो ने अपनी निराशावादी भावनाओ को दार्शनिक रूप न देकर जहाँ व्यक्तिगत शैली मे अभिव्यक्त किया है वहाँ उनकी भावनाएँ अधिक मर्मस्पर्शिनी वन गई हैं; फलत हृदय पर अधिक गहरा प्रभाव डालती हैं।

व्यक्तिवादी कवि अपने जीवन की असफलता और निराशा को दार्शनिक रूप सदा नहीं दे पाता। कभी-कभी तो अतृप्ति और असन्तोष को वह अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित पाता है। उसे आनन्द और उल्लास से भरे जग-जीवन मे कभी-कभी केवल अपना ही जीवन अभावमय प्रतीत होता है। जैसे—

यह भूमि है हाला-भरी,
मधुपात्र - मधुवाला - भरी,
ऐसा बुझा जो पा सके मेरे हृदय की प्यास को—
कोई नहीं, कोई नहीं।[1]

उक्त गीत मे कवि यह निषेध नहीं करता कि जगत् मे आनन्द देने वाले पदार्थों (मधुपात्र और मधुवाला के प्रतीकों से व्यक्त) का

१—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या १५, पृ० ३१।

अभाव है; औरों को तृप्ति प्रदान करने वाले पदार्थ हैं, किन्तु उसके निराश हृदय को सुख-सन्तोष देने वाली वस्तु (मेरे हृदय की प्यास को बुझाने से ध्वनित) उसे इतने वड़े विश्व में दिखलाई नही पड़ती। (आनन्दोल्लास से परिपूर्ण के वातावरण मे जब हम एक मानव-हृदय के अभावो और दुःखों का क्रन्दन सुनते हैं तब हमारी मानवीय समवेदना अधिक उद्दीप्त हो उठती है, साथ-ही-साथ हमारे व्यक्तिगत जीवन के अभाव और असन्तोप स्वय उद्बुद्ध होकर एक प्रकार की व्यथा का अनुभव कराने लगते हैं। अत निशावादी भावों की व्यजना व्यक्तिगत शैली मे किए जाने पर अधिक प्रभावोत्पादक बन जाती है।)

अभिव्यक्ति के प्रकारो मे अन्तर होने से स्थायी भावो में भी अन्तर आ जाता है। (दार्शनिक निराशावाद का स्थायी भाव निर्वेद रहता है, जब कि व्यक्तिगत निराशावाद का स्थायी भाव शोक ही रहेगा, इसलिए पाठको के हृदय पर भी व्यक्तिगत निराशावादी गीतो का प्रभाव दार्शनिक निराशावादी गीतों से अधिक गहरा और दुःखात्मक पडता है।) छायावादी गीतो के दार्शनिक निराशावाद और व्यक्तिगत निराशावाद मे यही अन्तर है। हम यहाँ केवल उन्ही गीतो पर विचार करेंगे जिनमें कवि ने अपने भावो को दार्शनिक रूप मे व्यक्त नही किया है।

जीवन और मृत्यु के प्रति अध्यात्मवादी और सन्देहवादी दृष्टिकोण—

(अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से हमारा अभिप्राय उस दृष्टि से है जो जीवन और मृत्यु की समस्याओं पर विचार करते समय आत्मा जैसी किसी शाश्वत् सत्ता मे विश्वास करती है। सन्देहवादी दृष्टि को अध्यात्मवादी दृष्टि का विपरीत माना जा सकता है। अध्यात्मवादियों की दृष्टि मे जीवन के अभाव और मृत्यु उतनी भयकर नहीं होती जितनी सन्देहवादियों की दृष्टि मे। अध्यात्मवादियों की दृष्टि जीवन के सुख और वैभव से उदासीन रहती है। रहस्यवाद के प्रसग मे हमने अध्यात्मवादियो को दुःख और पीड़ा की उपासना तक करते हुए देखा है। रहस्यवादी कवियो ने अपनी व्यक्तिगत निराशा को या तो आध्यात्मिक रूप दे दिया है या जीवन के अभाव, असफलता और हताशा मे उत्पन्न पीड़ा का उपचार शान्ति, निर्वाण और आत्मलय की आध्यात्मिक भावनाओ में पाया है। इसलिए अध्यात्मवादी गीतो में

हम पश्चात्ताप, आत्म-सन्देह और आत्मग्लानि जैसी उग्र निराशावादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नही पाते, जबकि व्यक्तिगत निराशावादी गीतों मे इन्हीं भावनाओ की अभिव्यक्ति का प्राधान्य है।

अध्यात्म प्रणयजन्य वेदना और व्यथा से विह्वल होकर रहस्यवादी कवियों ने जहाँ-कहीं आत्म-विसर्जन की कामना अथवा मृत्यून्मुखता का चित्रण किया है वहाँ भी उनके गीतो मे विषाद की तीव्रता व्यक्त नहीं हुई जैसी अध्यात्म विश्वासरहित व्यक्तिवादी गीतो मे। एक उदाहरण से यह अन्तर अधिक स्पष्ट हो सकेगा। आत्म-विसर्जन का भाव व्यक्त करती हुई महादेवी लिखती हैं—

मेघ-सी घिर झर चली मैं !
भीति क्या यदि मिट चली
नभ से स्खलित पग की निशानी
प्राण में भूके हरी है
पर सजल मेरी कहानी !
प्रश्न जीवन के स्वय मिट
आज उत्तर कर चली मैं !
मेघ-सी घिर झर चली मैं ![1]

और बुलबुल के रूप मे संसार रूपी चमन से विदा होते समय बच्चन लिखते हैं—

बुलबुल जा रही है आज !
प्राण सौरभ से भिदा है,
कंटकों से तन छिदा है,
याद भोगे सुख-दुखों की आरही है आज।
बुलबुल जा रही है आज !
× × ×
आरहा तूफान हर-हर,
अब न जाने यह उड़ाकर
फेंक देगा किस जगह पर !
तुम रहो खिलते, महकते कलि-प्रसून-समाज !
बुलबुल जा रही है आज ![2]

१—दीपशिखा (१६४२ ई०) पृ० २५।
२—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ४४, पृ० ६०।

महादेवी जीवन के प्रश्नों का उत्तर पाने के पश्चात् ससार से विदा हो रही हैं, और विदा भी नहा हो रही अपितु अपनी व्यक्तिगत व्यथा को समष्टिगत करुणा में लोन करके तिरोहित हो रही हैं, इसलिए विदा होते समय उन्हें कोई विषाद नही और न कोई पश्चात्ताप है। बच्चन के गीत का भाव दूसरा है। कवि को ससार से प्रस्थान करते समय जीवन के सुख-दुखों का स्मरण सता रहा है—एक प्रकार का पाश्चात्ताप हा रहा है। वह सन्देहवादी है, इसलिए मृत्यु उसके सम्मुख भीषण रूप मे ('आरहा तूफान हर हर' से व्यजित) उपस्थित हुई है। उसकी घबराहट का कारण अन्तिम पक्तियो में अभिव्यक्त है। बच्चन के गीत को पढकर पाठक के हृदय को जो आघात पहुँचता है वह महादेवी वर्मा के गीत को पढ़कर नहीं। और इस अन्तर का कारण केवल यही है कि जीवन और मृत्यु के प्रति दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। (दृष्टिकोणों मे भेद हाने के कारण ही महादेवी वर्मा के गीतो मे करुणा, व्यथा और वेदना की शीतलता तो मिल सकेगी, किन्तु पश्चात्ताप, आत्म-ग्लानि, विषाद आदि शोकपूर्ण अनुभूतियो की जलन नहीं मिल सकती। अस्तु। प्रस्तुत प्रसग से हमे केवल उन्हीं गीतों की निराशा का अनुशीलन करना अपेक्षित है, जिनमे हमें जीवन और मृत्यु के प्रति अध्यात्मवादी दृष्टि का अभाव मिलता है।

/उग्र निराशावादी मन स्थितियो की व्यजना करनेवाले गीत प्राय छायावादी युग के अन्तिम वर्षों मे लिखे गए हैं। सन् १६३५-४० ई० की पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ उलटने से ज्ञात होता है कि इस समय मे कोई नौसिखिया कवि भी काव्य-मच पर आया है, वह हृदय-वीणा के टूटे तारो की दर्दभरी झकार, अतीत के विनष्ट स्वप्नों का अवसाद और 'जग-जीवन का भार' लिए हुए ही उपस्थित हुआ है।/ छायावादी युग के कवि-सम्मेलनी कवि इसी कोटि मे आते हैं। 'खद्योत सम जहँ-तहँ प्रकास' करने वाले 'कविन्दों' की तो गणना करना तक सम्भव नहीं, विस्तारभय से प्रमुख निराशावादी कवियो तक की रचनाओं के छूट जाने की सम्भावना है। कुछ महत्वपूर्ण कवि तो जानबूझकर इसलिए छोड दिए गए हैं कि एक ही सग्रह मे प्रकाशित गीतों मे एक आशावादी है तो दूसरा निराशावादी। एक प्रणय-निराशा प्रकट करता है, तो दूसरा प्रेयसी

के साथ विहार करने के उल्लास को व्यक्त करता है। गीतो की तिथि भी अज्ञात है। ऐसे अस्थिर मन.स्थितिवादी गीतो का सम्बन्ध न तो युग की निराशा से ही स्थापित हो पाता है और न व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों से; अत ऐसे गीतो का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करना सम्भव प्रतीत नही हुआ। उग्र निराशावादी अनुभूतियो की सफल व्यंजना नरेन्द्र शर्मा द्वारा लिखित 'प्रवासी के गीत' (सन् १६३६) और वच्चन के 'निशा-निमन्त्रण' (१६३७-३८ ई०) एवं 'एकान्त संगीत' (१६३८-१६३६) मे हुई है। हम यहाँ इन्ही रचनाओं को व्यक्तिगत निराशावाद की प्रतिनिधि रचनाएँ मानकर निराशावाद की विभिन्न अनुभूतियो और मनोदशाओ का अध्ययन करेगे। व्यक्तिगत निराशावाद की पृष्ठभूमि समझने के लिए एक दृष्टि दोनो कवियो के काव्य के विकास पर भी डाल लेना अपेक्षित है।

नरेन्द्र और वच्चन के काव्य का विकास—

काव्य-क्षेत्र मे वच्चन और नरेन्द्र लगभग एक ही समय प्रवेश करते हैं। सन् १६३०-३२ के आस-पास से दोनो का रचना-काल प्रारम्भ होता है और दोनो का निराशावाद सन् १६३८-१६३६ ई० के समीप अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वच्चन की भाँति नरेन्द्र हालावादी कभी नहीं रहे। 'प्रभातफेरी' (१६३६ ई०) मे नरेन्द्र के सन् १६३२-३५ तक के गीत संग्रहीत हैं। इन गीतों में रूप की तृष्णा और प्रेम का आकर्षण अभिव्यक्त है, साथ ही राष्ट्रीय और समष्टिवादी समवेदना भी; निराशावादी अनुभूतियो का स्थान गौण है। किन्तु व्यक्तिगत अभाव और असंतोष की भावना कवि की प्रारम्भिक रचनाओं मे भी स्थान पाने लगती है। यथा—

काला अतीत, धुँधला भविष्य
आँसू का वर्तमान मेरा,
सूने अभावमय जीवन का
प्रिय धन है विरह-गान मेरा!

मैं हँसता हू, रो लेता हू,
फिर क्षणभर मन वहलाने को
सुख-दुख के पद गा लेता हू!

किस सुख को रे मैं जीवित हूँ ?
किस आशा से दिन गिनता हूँ ?
मैं हँसता, रोता, गाता हूँ ।[1]

सन् १९३५ के पश्चात् लिखे गए गीतो में धीरे-धीरे निराशावाद बढ़ता जाता है—हँसना और गाना समाप्त होकर केवल रोना शेष रह जाता है। और सन् १९३८ का अन्त आते-आते रोना भी एक विषाद-भरी चीत्कार बन जाता है। 'प्रवासी के गीत' घोर निराशावादी अवस्था की सूचना देते हैं। दिसम्बर, सन् १९३८ में लिखे हुए कवि के जितने भी गीत प्रकाशित हुए हैं, सबमे निराशावाद उग्र रूप धारण किए हुए है, इससे ज्ञात होता है कि उस निराशा का उसके व्यक्तिगत जीवन से अवश्य ही सम्बन्ध रहा होगा।

बच्चन का 'निशा-निमन्त्रण' (सन् १९३७-३८) और 'एकान्त सगीत' (सन् १९३८-३९) के पूर्व की रचनाओं का परिचय दिया जा चुका है।[2] यहाँ केवल तुलनात्मक दृष्टि से एकाध बात कह देना पर्याप्त होगा। नरेन्द्र ने रूप का आकर्षण और यौवन की तृष्णा लिए हुए काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था, जब कि बच्चन ने 'प्रेयसी' के साथ।[3] इसलिए नरेन्द्र के अधिकाश गीत प्रणय की असफलता से उत्पन्न विषाद की सूचना देते हैं, जब कि बच्चन के गीतों में जीवन की असफलता और आत्म-पराभव से उत्पन्न विषाद प्राय व्यक्त हुआ है। बच्चन की 'प्रारम्भिक रचनाएँ' (१९२९-३३ ई०) कवि की स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति प्रकट करती हैं, किन्तु वे सर्वथा आत्मकेन्द्रित नहीं हैं। सन् १९३३ मे कवि फिट्जजेरल्ड द्वारा अनूदित उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद करता है और

१—'काला अतीत' (नवम्बर, १९३२) प्रभातफेरी (१९३९ ई०) पृ० ७२।

२—देखिए—पृष्ठ २१८-२१९।

३—बच्चन की सन् १९२९-३३ की प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। कवि उन रचनाओं मे प्रेम के सयोग-पक्ष के गीत गाता है। गीत प्राय. प्रेयसी या प्राण को सम्बोधित करके लिखे गए हैं। यथा—
सौन्दर्य ने तेरे प्राण ! मुझे प्रेम का पाठ पढाया,
मेरे ईश्वर तक पहुचाया, इससे कहूँ इसे मै अपना ईश्वर दूत सुजान !
'मेरा धर्म'—प्रारम्भिक रचनाएँ पृ० ४२।

'मधुकलश' (सन् १६३७) तक उसके गीत खैयामवाद से प्रभावित रहते हैं। किन्तु 'मधुबाला' (१६३६) और 'मधुकलश' में जहाँ-कहीं उसने स्वतन्त्र अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं वहाँ कवि का स्वच्छन्दतावादी और विद्रोही रूप ही प्रधान रहा है। 'मधुकलश' में सकलित 'सुषमा', 'माँझी' 'मधुकलश' और 'लहरों में निमन्त्रण' गीत कवि के आशावादी और विद्रोही व्यक्तित्व की सूचना देते हैं। 'मधुकलश' प्रकाशित होने के पूर्व ही बच्चन की जीवन-सङ्गिनी का देहान्त हो गया था और 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त सङ्गीत' के गीतों में हम उसे एक भिन्न दिशा में प्रवाहित होता हुआ देखते हैं। उक्त रचनाओं का एक भी गीत कवि की स्वस्थ और सन्तुलित मानसिक अवस्था की सूचना नहीं देता। प्रत्येक गीत में निराशा और अवसाद एक उग्र रूप धारण किए हुए है। स्थान-संकोच के कारण हम उक्त रचनाओं के कतिपय गीतों का ही उल्लेख कर सकते हैं।

व्यक्तिगत निराशावाद की अनुभूतियों के आधार पर हमने जो वर्गीकरण किया है वह कृत्रिम और अवैज्ञानिक है। हमने उसे केवल विषय प्रतिपादन की सुविधा के लिए ही अपनाया है। मानव-मन में जिस प्रकार उदासीनता, निराशा, पश्चात्ताप, अवसाद, आत्मग्लानि आदि विभिन्न दुःखात्मक अनुभूतियों का अनुभव एक संश्लिष्ट रूप में होता है, उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति भी संश्लिष्ट रूप में ही हो सकती है। उदाहरणतः नरेन्द्र शर्मा का अधोलिखित गीत समाज से उदासीनता, जीवन से ग्लानि, निराशा और विषाद की एक साथ अभिव्यंजना करता है—

क्यों मुझको कोई भी आकर मनचाहे ठुकरा जाता है ?
उसे महत्व दिया होता, था
अर्थहीन अस्तित्व न जिसका,
थी मेरी बिसात कितनी-सी
भला रोकता पथ किस किस का?
पथ में पड़ा हुआ हूँ, मेरा दुनिया से इतना नाता है ![1]

[1]—प्रवासी के गीत—गीत-संख्या ४४, (दिसम्बर, १६३८) पृ० ६६।

अपने अस्तित्व को अर्थहीन मानने और अपने आपको पथ में पड़े हुए ठीकरे के समान तुच्छ समझने से कवि की व्यथित चेतना, पश्चात्ताप, ग्लानि और विषाद की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है। अन्तिम पंक्तियाँ जीवन से उदासीनता व्यक्त करती हैं, जब कि प्रथम पंक्ति से समाज के दुर्व्यवहार की व्यंजना होती है—समाज को गिरे हुए में ठोकर लगाने मे जैसे आनन्द आता हो और सम्पूर्ण गीत से कवि के आहत अहंभाव एवं असंतुलित मानसिक अवस्था की सूचना मिलती है। अस्तु। आलोच्य गीतो के द्वारा अनेक अनुभूतियों और मनोभावो की व्यंजना होते हुए भी उनमे से किसी एक प्रधान मानसिक अवस्था या अनुभूति की ओर संकेत कर दिया गया है। निराशावादी गीत अपनी अनुभूतियो की इतनी स्पष्ट और तीव्र अभिव्यंजना करते हैं कि उनको और अधिक स्पष्ट करना अनावश्यक है।

(१) आशा और उल्लास का अभाव—

मनुष्य की निराशावादी मन स्थिति उस समय अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है जब उसे अपने जीवन में कोई आशा और उल्लास शेष दिखलाई नही पडता। ऐसी अवस्था में जीवन एक व्यर्थ का भार-सा बन जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने जीवन से ऊब जाता है और वह या तो सुखद अतीत की ओर पलायन करने लगता है या फिर अपनी असफलताओ और आशाओ के विनाश पर पश्चात्ताप करने लगता है। कभी-कभी समाज में हर्ष और उल्लास देखकर वह अपने पराभव की तुलना समाज के आनन्दोल्लास से करके और भी क्षुब्ध हो जाता है। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' मे बच्चन ने इस मनोदशा का सफल चित्रण किया है। यथा—

साथी घर-घर आज दिवाली!
हास उमंग हृदय में भर-भर
घूम रहा गृह-गृह, पथ-पथ पर,
किन्तु हमारे घर के अन्दर डरा हुआ सूनापन खाली!
साथी घर-घर आज दिवाली![1]

अथवा

विश्व मनाएगा कल होली!

१—निशा-निमन्त्रण (१६३७–३८ ई०) गीत-संख्या २७, पृ० ५१।

आँसू की दो धार बहेगी,
दो-दो मुट्ठी राख उड़ेगी,
और अधिक चमकीला होगा जग का रंग जगत की रोली !
विश्व मनाएगा कल होली ![1]

गीत में एक ऐसे व्यक्ति की मनःस्थिति का चित्रण है जिसके जीवन में सूनेपन और विषाद के अतिरिक्त कोई आशा और उल्लास शेष रह ही नहीं गया। समाज में उल्लास की लहर कवि के सूने जीवन को और दुखी बना रही है।

सामान्य स्थिति में जन्म-दिन इसलिए प्रसन्नता का अवसर समझा जाता है कि व्यक्ति अपने जीवन का एक अमूल्य वर्ष कुशल-पूर्वक व्यतीत कर चुका। भविष्य के लिए उज्ज्वल कामनाएँ भी ऐसे अवसरों पर प्रकट की जाती हैं। कवि बच्चन का हृदय भी अपने जन्म-दिवस पर प्रसन्न है किन्तु उस प्रसन्नता का कारण दूसरा है—

जन्मदिन फिर आ रहा है !
वर्ष गाँठों पर मुदित - मन
मैं पुनः, पर अन्य कारण—
दुखद जीवन का निकटतर अंत आता जा रहा है !
जन्मदिन फिर आ रहा है ![2]

दुखद जीवन का अन्त समीप लाने के अतिरिक्त कवि का जन्म-दिन उसके लिए कोई और प्रसन्नता का समाचार नहीं ला सकता। जन्म-दिवस पर वह अपने इकतीस वर्ष के जीवन की सफलता और असफलताओं का हिसाब लगाता है—

बीता इकतीस बरस जीवन !
मैं जोड़ सका यह निधि सयत्न—
खंडित आशाएँ, स्वप्न-भग्न,
असफल प्रयोग, असफल प्रयत्न,
कुछ टूटे-फूटे शब्दों में अपने टूटे दिल का क्रन्दन !
बीता इकतीस बरस जीवन ![3]

१—निशा-निमन्त्रण (१९३७–३८ ई०) गीत-संख्या ४६, पृ० ७३।
२—एकान्त संगीत (१९३८–३९ ई०) गीत-संख्या २६, पृ० ४५।
३—एकान्त संगीत (१९३८–३९ ई०) गीत-संख्या २६, पृ० ४२।

क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी ? क्या करूँ ?

× × ×

दूसरों की वेदना में वेदना जो है दिखाता,
वेदना से मुक्ति का निज हर्ष केवल वह छिपाता,
तुम दुखी हो तो सुखी मैं विश्व का अभिशाप भारी !
क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी ? क्या करूँ ?[1]

गीत का एक-एक शब्द समाज की कृत्रिम समवेदना पर प्रहार करता है। निराश हृदय प्राय समाज से उदासीन बन जाता है, और जितना अधिक वह समाज की ओर से निराश, उदासीन और क्षुब्ध होता जाता है उतना ही अधिक वह आत्मकेन्द्रित, वैयक्तिक और निराशावादी बनता जाता है।

छायावादी गीतो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि निराशा और वैयक्तिकता सापेक्ष अनुभूतियाँ हैं। कवियो ने निराशावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति वैयक्तिकता की पृष्ठभूमि मे ही की है। कवियो की चेतना जितनी अधिक आत्मकेन्द्रित और अहवादी बनती गई है, उनकी निराशा भी उतना ही विकराल रूप धारण करती गई है। इसका कारण यही हो सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने सुख-दुखो का उपभोग समाज के साथ मिलकर करना चाहता है। किन्तु सामाजिक सहानुभूति मे उसका जैसे-जैसे विश्वास नष्ट होता जाता है वैसे-वैसे वह अपने आपको इस विस्तृत जगत् मे असहाय, निरवलम्ब और अकेला अनुभव करने लगता है। वह 'नर-नारी से भरे जगत् मे' दु ख का भार वहन करने के लिए अपने आपको 'अकेला' पाता है और अपने एकाकीपन से घबराने लगता है। बच्चन ने अपने एकाकीपन की भीषणता अनेक गीतो मे व्यक्त की है। जैसे—

कितना अकेला आज मै !
संघर्ष में टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मै !
कितना अकेला आज मै !

१—आकुल अन्तर (१९४०-४२ ई०) गीत-संख्या ५१, पृ० ७४-७५।

भटका हुआ संसार में,
अकुशल जगत व्यवहार में,
असफल सभी व्यापार में, कितना अकेला आज मैं !
कितना अकेला आज मैं ![1]

बच्चन के गीत में एक ऐसे हृदय की चीत्कार सुनाई पड़ती है जो समाज से पूर्ण निराश तथा उदासीन और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पराजित हो चुका है। जीवन में आशा और उल्लास का अभाव एवं समाज से उदासीनता और अतिवैयक्तिकता ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण छायावादी कवियों की चेतना अत्यन्त विक्षुब्ध और निराशावादी बनगई है।

(३) हताशा और पराजय-भावना—

छायावादी गीतों में हताशा और पराजय-भावना की प्रचुर अभिव्यक्ति की गई है। जीवन की आशा-आकांक्षाएँ विफल होकर मनुष्य के हृदय में आत्म-पराभव की भावना को छोड़ जाती हैं। बच्चन की हताश चेतना अपनी आशा-आकांक्षाओं के विनाश पर व्यथित है—

टूट गिरीं इच्छा की कलियाँ
अभिलाषा की कच्ची फलियाँ
शेष रहा जुगनू की लौ में
आशामय उजियाला मेरा ।[2]

इच्छा और अभिलाषा का विनाश और जीवन में बार-बार असफल होना मनुष्य के दृष्टिकोण को पराजयवादी बना देता है। वह अपनी शोचनीय दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त परिस्थितियों का सामना करने से घबराने लगता है। बच्चन के अनेक गीत पराजयवादी मनोवृत्ति की सूचना देते हैं, जैसे—'हर जगह जीवन विफल है !'[3] अथवा 'जीवन भूल का इतिहास'।[4] ऐसी अवस्था में ही मनुष्य नियति जैसी शक्ति में विश्वास करने लगता है।

१—एकान्त संगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या १००, पृ० ११६।
२—निशा-निमन्त्रण (१६३७–३८ ई०) गीत-संख्या २०, पृ० ४५।
३—एकान्त संगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या ७२, पृ० ८७।
४—एकान्त संगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या ७४, पृ० ६०।

(४) पश्चात्ताप और विषाद—

पश्चात्ताप और विषाद व्यक्तिगत निराशावादी मानसिक अवस्था के स्थायी भाव हैं। जीवन मे बार-बार असफल, पराजित और दुर्भाग्य की ठोकरे खाने के पश्चात् एक अवस्था ऐसी भी आती है जब मनुष्य अपने पराभव और जीवन की असफलताओ पर विषादपूर्ण पश्चात्ताप करने को विवश हो जाता है। प्रणय-निराशा के प्रसग मे, जो व्यक्तिगत निराशावाद का ही एक रूप है, हमने प्रणय की असफलता पर पश्चात्ताप और विषाद की अनुभूतियो की ओर सकेत किया था।[1] किन्तु विषाद की जितनी तीव्र अभिव्यक्ति जीवन की असफलता पर पश्चात्ताप करने के प्रसग मे हुई है, उतनी प्रणय-निराशा के प्रसंग में भी नही हो सकी। कारण, प्रणय जीवन का एक अग है। मानव-जीवन में हृदय के कोमल पत्त का चाहे जितना महत्व क्यो न हो, उसे सम्पूर्ण जीवन नही कहा जा सकता, इसलिए प्रणय की असफलता पर विषाद और पश्चात्ताप व्यक्त करनेवाले गीत पाठकों के हृदय पर उतना आघात नही करते, जितना आघात वे गीत करते हैं जो सम्पूर्ण जीवन की असफलता पर पश्चात्ताप और विषाद की व्यजना करते हैं। गीत की प्रथम पक्ति ही हृदय को मानो बलपूर्वक झकझोर देती है, जैसे—'मैंने खेल किया जीवन से।'[2] 'मैं जीवन में कुछ न कर सका।'[3] 'हा मुझे जीना न आया।'[4] अथवा 'जीवन में शेष विषाद रहा।'[5] ऐसी भावनाओ की अभिव्यक्ति हम उन्ही कवियों के गीतो मे पाते हैं, जिनका आत्म-विश्वास नष्ट हो चुका है।

(५) आत्म-सन्देह और आत्म-ग्लानि—

हताशा, आत्म-पराजय, पश्चात्ताप और विषाद की निरन्तर अनुभूति आत्म-सन्देह और आत्म-ग्लानि के सस्कार उत्पन्न विना किए नही रह सकती। हताश व्यक्ति अपने पराभव, दुर्भाग्य और असफलता पर पश्चात्ताप तभी करता है, जब उसे अपने पुरुषार्थ में

१—देखिए, २४४-४६ पृष्ठ।
२—निशा-निमन्त्रण (१९३७—३८ ई०) गीत-सख्या ६६, पृ० ६०।
३—एकान्त सगीत (१९३८—३९ ई०) गीत-सख्या २१, पृ० ३७।
४—एकान्त सगीत (१९३८—३९ ई०) गीत-सख्या ८२, पृ० ९८।
५—एकान्त सगीत (१९३८—३९ ई०) गीत-सख्या ७८, पृ० ९४।

भरोसा नहीं रहता। अत निराशावादी मनुष्य स्वभाव से आत्म-सन्देहवादी बन जाता है। धीरे-धीरे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जब वह अपने व्यक्तित्व से स्वयं घृणा करने लगता है। छायावादी कवियो की हताशा आत्म-सन्देह और आत्म-ग्लानि जैसी उग्र निराशावादी अवस्थाओ तक बढ़ी हुई है। अपनी सामर्थ्य पर अविश्वास प्रकट करते हुए कवि बच्चन लिखते है—

मैं क्या कर सकने में समर्थ ?
मै आधि-ग्रस्त, मै व्याधि-ग्रस्त,
मै काल त्रस्त, मै कर्म-त्रस्त,
मै अर्थ ध्येय में रख चलता, मुझसे हो जाता है अनर्थ !
मै क्या कर सकने में समर्थ !

मुझ से विधि, विधि की सृष्टि क्रुद्ध,
मुझसे ससृति का क्रम विरुद्ध,
इसलिए व्यर्थ मेरे प्रयत्न, इस कारण सब प्रार्थना व्यर्थ !
मै क्या कर सकने में समर्थ ?[1]

अपने आपको आधि-व्याधिग्रस्त, काल-कर्मत्रस्त और भाग्य का कोप-भाजन मानने का केवल यही अभिप्राय है कि कवि का आत्म-विश्वास नष्ट हो गया है और आत्म-विश्वास नष्ट हो जाने के कारण ही वह अपनी सामर्थ्य, सफलता और पुरुपार्थ मे सन्देह करने लगा है। कवि के प्रयत्न इसलिए व्यर्थ नही हो रहे कि भाग्य उसके प्रतिकूल है, अपितु वह भाग्यवादी इसलिए बन गया है कि उसके प्रयत्न वार-बार असफल हो चुके हैं। आत्म-सन्देह के कारण ही वह सोचने लग गया है, 'अब क्या होगा मेरा सुधार !'[2] ऐसे गीत आत्म-ग्लानि और आत्म-सन्देह की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति करते है।

(६) जीवन से उदासीनता और जड़ता—

सामान्य परिस्थितियो मे मनुष्य जीवन के किसी एक क्षेत्र से उदासीन हो जाता है तो अपना ध्यान किसी अन्य क्षेत्र मे लगा देता है। इस उदासीनता का कारण भी कोई असफलता अथवा

१—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-सख्या ३५, पृ० ५१।
२—एकान्त सगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या ८३, पृ० ६६।

निराशा ही होती है। किन्तु, निराशा उस समय बड़ा ही उग्र रूप धारण कर लेती है जब आन्तरिक अथवा बाह्य परिस्थितियाँ जीवन को ही उदासीन बना देती हैं। कभी-कभी जीवन इतना उदासीन, नीरस और गतिहीन बन जाता है कि उसके भार से मनुष्य स्वय घबरा उठता है। नीरसता और जडता से क्षुब्ध होकर वह या तो किसी परिवर्तन की कामना करता है या फिर आत्मघात की बात सोचने लगता है। बच्चन का अधोलिखित गीत जीवन की केवल गतिशून्यता अथवा जड़ता की व्यजना करता है—

ठहरा-सा लगता है जीवन !
एक ही तरह से घटनाएँ
नयनों के आगे आती हैं,
एक ही तरह के भावों को
दिल के अन्दर उपजाती हैं,
एक ही तरह से आह उठा,
आँसू बरसा,
हल्का हो जाया करता मन।
ठहरा-सा लगता है जीवन ![1]

बच्चन का मन अपनी उदासीन स्थिति मे हल्का-भारी फिर भी हो जाया करता है, नरेन्द्र शर्मा के जीवन में एकरसता, उदासीनता और जडता की अनुभूति इतनी दु:खद हो गई है कि कवि उसे नष्ट करने के लिए किसी दुर्घटना तक का स्वागत करने को प्रस्तुत है—

घड़ी-घड़ी गिन, घड़ी देखते काट रहा हूँ जीवन के दिन,
क्या साँसों को ढोते ढोते ही बीतेंगे जीवन के दिन ?
× × ×
कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही मेरे इस नीरस जीवन में !
और न हो तो लगे आग ही इस निर्जन बाँसी के बन में !
ऊब गया हूँ सोते सोते, जागें मुझे जगाने लपटें,
गाज गिरे, पर जगे चेतना प्राणहीन इस मन-पाहन में ![2] (आदि)

पाषाणवत् जड अवस्था अनुभूतिगत निराशावाद की पराकाष्ठा है।

१—आकुल अन्तर (१९४०–४२ ई०) गीत-सख्या २४, पृ० ३१।
२—प्रवासी के गीत, गीत-सख्या ४३ (दिसम्बर, १९३८) पृ० ६२।

विषाद की तीव्रता जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था ला देती है जब मनुष्य अनुभूतिशून्य हो जाता है। नरेन्द्र का युवा हृदय इस जड़ता से ही परित्राण चाहता है।

(७) भीत अवस्था—

निराशा और विषाद की तीव्र अनुभूति जीवन-शक्ति को क्षीण करके एक ऐसी मानसिक अवस्था उत्पन्न कर देता है कि मनुष्य मृत्यु के भय से पीड़ित रहने लगता है। उसे क्षण-क्षण अपने हृदय की गति बन्द होती हुई-सी प्रतीत होने लगती है। यह स्थिति मानसिक संघर्ष की अत्यन्त दुखद अवस्था होती है। एक ओर निराशा और विषाद की कटुता के कारण मनुष्य प्राणान्त की बात सोचने लगता है, दूसरी ओर जीवन की बलवती इच्छा मृत्यु के विचार को अन्त करण में उठने देना नहीं चाहती। यह मानसिक संघर्ष एक विचित्र मृत्यु-भीति को जन्म देता है। नरेन्द्र का अधोलिखित गीत इसी भीत अवस्था की व्यंजना करता है—

उड़ा उड़ा-सा जी रहता है
चूरचूर विश्रान्त शरीर,
दूर देश जाने को आतुर
अकुलाए-से प्राण अधीर !

जाने क्यों मुझको घर बाहर,
सब कुछ हुआ पराया आज ?
छिन जिसका आधार गया हो
हूं मैं ऐसी छाया आज !

खोया खोया मन रहता है
सोया-सा लगता संसार !
कभी-कभी ऐसा लगता है
अब टूटा जीवन का तार ![1]

ऐसी भीत अवस्था में मनुष्य अपने ही हृदय का साहस बँधाने लगता है। मन का हिम्मत हार जाना बड़ी-ही विषम परिस्थिति होती है। आवेशपूर्ण अवस्था में प्राणान्त की बात सोचने लगना एक बात

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ४३ (दिसम्बर, १९३८), पृ० ६५।

निराशा ही होती है। किन्तु, निराशा उस समय बड़ा ही उग्र रूप धारण कर लेती है जब आन्तरिक अथवा बाह्य परिस्थितियाँ जीवन को ही उदासीन बना देती हैं। कभी-कभी जीवन इतना उदासीन, नीरस और गतिहीन बन जाता है कि उसके भार से मनुष्य स्वयं घबरा उठता है। नीरसता और जड़ता से क्षुब्ध होकर वह या तो किसी परिवर्तन की कामना करता है या फिर आत्मघात की बात सोचने लगता है। बच्चन का अधोलिखित गीत जीवन की केवल गतिशून्यता अथवा जडता की व्यजना करता है—

ठहरा-सा लगता है जीवन !
एक ही तरह से घटनाएँ
नयनों के आगे आती हैं,
एक ही तरह के भावों को
दिल के अन्दर उपजाती हैं,
एक ही तरह से आह उठा,
आँसू बरसा,
हल्का हो जाया करता मन ।
ठहरा-सा लगता है जीवन ![1]

बच्चन का मन अपनी उदासीन स्थिति मे हल्का-भारी फिर भी हो जाया करता है, नरेन्द्र शर्मा के जीवन में एकरसता, उदासीनता और जड़ता की अनुभूति इतनी दु खद हो गई है कि कवि उसे नष्ट करने के लिए किसी दुर्घटना तक का स्वागत करने को प्रस्तुत है—

घड़ी-घड़ी गिन, घड़ी देखते काट रहा हूँ जीवन के दिन,
क्या साँसों को ढोते ढोते ही बीतेंगे जीवन के दिन ?
× × ×
कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही मेरे इस नीरस जीवन मे !
और न हो तो लगे आग ही इस निर्जन वोसी के वन में !
ऊब गया हूँ सोते सोते, जागें मुझे जगाने लपटें,
गाज गिरे, पर जगे चेतना प्राणहीन इस मन-पाहन में ![2] (आदि)

पाषाणवत् जड अवस्था अनुभूतिगत निराशावाद की पराकाष्ठा है।

१—आकुल अन्तर (१६४०–४२ ई०) गीत-सख्या २४, पृ० ३१ ।
२—प्रवासी के गीत, गीत-सख्या ४३ (दिसम्बर, १६३८) पृ० ६२ ।

विषाद की तीव्रता जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था ला देती है जब मनुष्य अनुभूतिशून्य हो जाता है। नरेन्द्र का युवा हृदय इस जड़ता से ही परित्राण चाहता है।

(७) भीत अवस्था—

निराशा और विषाद की तीव्र अनुभूति जीवन-शक्ति को क्षीण करके एक ऐसी मानसिक अवस्था उत्पन्न कर देता है कि मनुष्य मृत्यु के भय से पीड़ित रहने लगता है। उसे क्षण-क्षण अपने हृदय की गति बन्द होती हुई-सी प्रतीत होने लगती है। यह स्थिति मानसिक संघर्ष की अत्यन्त दुखद अवस्था होती है। एक ओर निराशा और विषाद की कटुता के कारण मनुष्य प्राणान्त की बात सोचने लगता है. दूसरी ओर जीवन की बलवती इच्छा मृत्यु के विचार को अन्त करण में उठने देना नहीं चाहती। यह मानसिक संघर्ष एक विचत्र मृत्यु-भीति को जन्म देता है। नरेन्द्र का अधोलिखित गीत इसी भीत अवस्था की व्यंजना करता है—

उड़ा उड़ा-सा जी रहता है
चूरचूर विश्रान्त शरीर,
दूर देश जाने को आतुर
अकुलाए-से प्राण अधीर !

जाने क्यों मुझको घर बाहर,
सब कुछ हुआ पराया आज ?
छिन जिसका आधार गया हो
हूं मैं ऐसी छाया आज !

खोया खोया मन रहता है
सोया-सा सूना संसार !
कभी-कभी ऐसा लगता है
अब टूटा जीवन का तार ![1]

ऐसी भीत अवस्था में मनुष्य अपने ही हृदय को साहस बँधाने लगता है। मन का हिम्मत हार जाना बड़ी-ही विषम परिस्थिति होती है। आवेशपूर्ण अवस्था में प्राणान्त की बात सोचने लगना एक बात

१—प्रवासी के गीत, गीत-सख्या ४३ (दिसम्बर, १६३८), पृ० ६५।

है और प्रत्येक पल मृत्यु-भय का सामना करना दूसरी बात है। नरेन्द्र अपने भीत और साहसहीन हृदय को ढाढ़स बँधाते हुए कहते हैं—

डर न, मन!
असमय घिरे घन जो,
स्वयम् हट जायेंगे,
फट जायँगे,
जब विष-सदृश, वह वज्र उर का—
(किसी विधवा की अभागी कोख के जारज-सदृश ही)—
निकल उल्कापात-सा, धँस जायगा सहसा धरा में!
उपल-दल गल जायेंगे!
तू डर न, मन![1]

मन को इस प्रकार साहस बँधना भीत अवस्था की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे मनोविज्ञान शास्त्र की भाषा में रक्षात्मक युक्ति (Defensive mechanism) कहा जाता है। मृत्यु-भय की सतत अनुभूति निराशावादी मन स्थिति की चरमावस्था है और छायावादी कवि युग के अन्तिम वर्षों (सन् १९३८-३९) में इस अवस्था तक पहुँच गए हैं।

(८) मृत्युकामना—

आत्म-पराजय और आत्म-ग्लानि की दंशनकारी अनुभूति जीवन के समस्त भावात्मक स्रोतों को अवरुद्ध कर देती है। वर्तमान दुःख और भविष्य की निराशा जीवन को व्यर्थ का भार-सा बना देती है, फलत मनुष्य मृत्यु-कामना करने लगता है। मृत्यु-कामना एक क्षणिक आवेश ही क्यों न हो किन्तु व्यक्तिगत निराशावाद की चरम परिणति मृत्यु-कामना में ही हो सकती है। मृत्यु-कामना अथवा मृत्युवाद छायावादी काव्य की एक प्रवृत्ति-सी बन गई है। अध्यात्मवाद में यह कामना आत्मलय के रूप में, दुःखवाद में आत्मविसर्जन अथवा आत्म-निर्वाण के रूप में, खैयामवाद में हालावाद के रूप में (क्योंकि आत्म-विस्मृति भी अस्थायी मृत्यु है) और व्यक्तिगत निराशावाद में मृत्यु की आकांक्षा

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ५२, (दिसम्बर, १९३८) पृ० ८०।

के रूप मे व्यंजित हुई है। बच्चन के अनेक गीत मृत्यु की अभिलाषा प्रकट करते हैं। जैसे—

आओ सो जाएँ, मर जाएँ ![1]

अथवा

जल जाऊँगा अपने कर से रख अपने ऊपर अंगारे ![2]

इस मृत्युकामना की पृष्ठ-भूमि मे कितना विषाद छिपा हुआ है, इसका अनुमान कवि के अधोलिखित गीत से लग सकता है—

मेरे उर पर पत्थर धर दो !
जीवन की नौका का प्रिय धन
लुटा हुआ मणि-मुक्ता-कंचन
तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो !
मेरे उर पर पत्थर धर दो !

पर क्यों मुझको व्यर्थ चलाओ ?
पर क्यों मुझको व्यर्थ बहाओ ?
क्यों मुझसे यह भार ढुलाओ ? क्यों न मुझे जल मे लय करदो !
मेरे उर पर पत्थर धर दो ![3]

नरेन्द्र शर्मा जीवन से घृणा तो करते है किन्तु आत्महत्या करने का साहस अपने अन्दर नहीं पाते। दूसरे शब्दों मे, जीवन की विषमताओं का सामना करने की शक्ति भी कवि के पास नही है और आत्महत्या करने के लिए भी जिस साहस की अपेक्षा होती है वह भी उसके पास नहीं। इस विवशता के परिणामस्वरूप उसके जीवन की गति 'हृदय की कायरता' और 'मन की छलना' के सहारे चली जा रही है—

एक, हृदय की कायरता है,
और दूसरी, छलना मन की,
इन दोनों के संग-सहारे
चलती जाती गति जीवन की !

× × ×

१—निशा-निमन्त्रण (१६३७–३८ ई०) गीत-संख्या २३ पृ० ४७।

२—एकान्त संगीत (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या ७ पृ० २३।

३—एकान्त संगीत, (१६३८–३६ ई०) गीत-संख्या २ पृ० १८।

कई बार सोचा, मर जाऊँ,
किन्तु कहाँ से साहस पाऊँ
ऐसी शक्ति कहाँ से लाऊँ—
जाऊँ अपने लिए सजाऊँ
सुख की सेज अगर-चन्दन की ।[1]

किन्तु हृदय की कायरता और मन की छलना के सहारे चलने-वाले जीवन की गति हृदय के विषाद और निराशा को दूर नहीं कर सकती। कवि अपने अन्दर आत्मघात करने का साहस न पाकर अपने प्राणों से ही प्रस्थान करने की अनुनय-विनय करने लगता है—

अनचाहे मेहमान प्राण मेरे, जाओ ! न निकल जाते क्यों ?
सभी छोड़कर चले गए जब,
रुके हुए किस आशा से अब,
मेरे आकुल प्राण ? छोड़ मुझको तुम भी न चले जाते क्यों ?
× × ×
आज शान्ति से मरने का भी
क्यों मेरा अधिकार छिन गया ?
मेरी अनुमति लिए विना विधि,
किस विधि मेरे श्वास गिन गया ?
मैं न बुलाता जिन्हे, बुलाए विना श्वास आते जाते क्यों ?[2]

जीवन की नीरसता, जड़ता और शून्यता की सतत अनुभूति आत्मघात की आवेशमयी कामना को ही उत्पन्न कर सकती है, और छायावादी युग की निराशा इस मनोदशा तक पहुँची हुई है।

(६) मृत्यून्मुखता—

अपनी आत्म-पराजय, दुर्दशा और पराभव की अभिव्यक्ति करने के लिए छायावादी कवियों ने अपने आपको संसार से विदा होते हुए चित्रित किया है। अध्यात्मवादियों की भाँति यह 'महाप्रस्थान' शान्ति और आत्म-विश्वास के वातावरण में नहीं उपस्थित किया

१—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ५१ (दिसम्बर, १९३८) पृ० ७८ ।
२—प्रवासी के गीत, गीत-संख्या ६२ (दिसम्बर, १९३८) पृ० ९३ ।

गया। कवि संसार से विदा होते समय पश्चाताप, विषाद और आत्मसन्देह की भावनाएँ लिए हुए मृत्यु की ओर उन्मुख होता है; फलत मृत्यु का चित्रण और भी भीषण बन गया है। यथा—

अब तो दुख के दिवस हमारे !
मेरा भार स्वयं लेकर के,
मेरी नाव स्वयं खेकर के,
दूर मुझे रखते थे श्रम से, वे तो दूर सिधारे !
अब तो दुख के दिवस हमारे !
× × ×
डूब रही है नौका मेरी,
बन्द जगत है आँखें तेरी,
मेरी संकट की घड़ियों के साखी नभ के तारे।[1]

अथवा

अब खँडहर भी टूट रहा है !
गायन से गुंजित दीवारें,
दिखलाती हैं दीर्घ दरारें,
जिनसे करुण, कर्णकटु, कर्कश, भयकारी स्वर फूट रहा है !
अब खँडहर भी टूट रहा है !

बीते युग की कौन निशानी
शेष रही थी आज मिटानी ?
किन्तु काल की इच्छा ही तो, लुटे हुए को लूट रहा है !
अब खँडहर भी टूट रहा है !

महानाश में महासृजन है,
महामरण में ही जीवन है,
था विश्वास कभी मेरा भी, किन्तु आज तो छूट रहा है।
अब खँडहर भी टूट रहा है।[2]

बच्चन ने—'बुलबुल जारही है आज' ![3], 'व्याकुल आज तन-मन-प्राण' ![4]

१—एकान्त संगीत (१६३८–३६) गीत-संख्या १७, पृ० ३३।
२—एकान्त संगीत (१६३८–३६) गीत-संख्या ६१, पृ० १०७।
३—एकान्त संगीत (१६३८–३६) गीत-संख्या ४४, पृ० ६०।
४—एकान्त संगीत (१६३८–३६) गीत-संख्या [redacted], पृ० ६४।

'जीवन का विप बोल उठा है'[१], 'विप का स्वाद बताना होगा'[२] आदि—अनेक गीतो में मृत्यून्मुखता का करुण चित्रण किया है। सभी गीतों में मृत्यु का वातावरण भीषण और विपादपूर्ण है।

व्यक्तिवादी कवि अपनी निराशावादी स्थिति को मृत्यून्मुखता के चित्रण से अधिक करुण रूप में व्यक्त नही कर सकता था। अत हम मृत्यु-कामना और मृत्यून्मुखता को व्यक्तिगत निराशावाद की चरम सीमा मानकर इस प्रसग को समाप्त करते हैं। छायावादी युग के व्यक्तिगत निराशावादी गीत ही निराशावाद की सबसे अधिक विषादपूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं। निराशावादी अवस्था मे मनुष्य जो कुछ भी विचार कर सकता है, जिस-किसी प्रकार से भी अपने व्यक्तिगत जीवन की निराशा को भीपण, विकराल और विकृत रूप दे सकता है, छायावादी गीतो में वे सब विचार और अभिव्यक्ति के प्रकार मिल सकेंगे। सन १९३५-४० ई० के बीच मे जब व्यक्तिगत निराशावाद 'अपने कर मे अपने ऊपर अगारे' रखने की तैयारी कर रहा था तभी उसकी उतनी ही उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी थी। अत अपनी निजी दुर्बलताओं के कारण व्यक्तिगत निराशावाद अधिक दिनो तक काव्य-क्षेत्र पर शासन न कर सका। सन् १९४० ई० के पश्चात् एक नवीन युग का निर्माण होता है, जो जीवन की विपमताओ से सघर्प करने की आशावादी प्रेरणा देता है। नवीन युग के आशावाद का अध्ययन हम आगे के अध्याय मे करेंगे।

(ग) समष्टिगत निराशावाद—

छायावादी युग गीति-काव्य का युग है। व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावाद इस युग के गीतो की विशेपताएँ हैं। भारतेन्दु और द्विवेदी-युगो के राष्ट्रीय काव्य मे अन्न-वस्त्र के अभाव पर जो खेद प्रकट किया जाता था अथवा समाज के अध पतन पर जो चिन्ता और निराशा व्यक्त की जाती थी, छायावादी गीत उस खेद, चिन्ता और निराशा को अपने भाव-क्षेत्र मे प्राय सन्निहित न कर सके। व्यक्तिगत निराशावाद के विपय मे अधिक-से-अधिक

१—एकान्त सगीत (१९३८–३९) गीत-सख्या ७२, पृ० ८८।

२—एकान्त सगीत (१९३७–३९) गीत-सख्या ८७, पृ० १०३।

हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की विषमता से उत्पन्न युग की वेदना और निराशा को छायावादी कवियों ने आत्मसात करके आत्मानुभूति के रूप में व्यक्त किया है। छायावादी युग की व्यक्तिवादी चेतना के विषय में यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि एक निराशावादी कवि अपने व्यक्तिगत जीवन के अभाव, असफलता, पीड़ा और निराशा से इतना अधिक निमग्न है कि वह समाज की व्यथा-वेदना की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं पाता। कवि जब स्वयं दूसरों की दया और समवेदना का याचक है तो समाज के प्रति समवेदना क्या प्रकट करे। वह अपने आपको संसार का सबसे अधिक दीन-दुखी प्राणी समझता है, अतः समाज के प्रति समवेदना प्रकट करने का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता।

व्यक्तिगत चेतना की प्रधानता होते हुए भी सामाजिक चेतना का छायावादी युग में नितान्त अभाव नहीं है। छायावादी युग के सभी कवि पूर्णतः व्यक्तिवादी नहीं हैं और जिन कवियों ने व्यक्तिगत निराशा के गीत लिखे हैं वे भी प्रारम्भ से ही व्यक्तिवादी नहीं थे। परिस्थितियों की विषमता के कारण जैसे-जैसे वे अधिक निराशावादी बनते गए हैं, वैसे-वैसे उनकी चेतना आत्मकेन्द्रित होती गई है। बच्चन की 'प्रारम्भिक रचनाएँ' और नरेन्द्र शर्मा की 'प्रभातफेरी' इस कथन की पुष्टि कर सकेंगी।

माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी और सुभद्राकुमारी चौहान आदि कवियों के कतिपय गीतों में राष्ट्रीय भावना को वाणी मिली है। किन्तु, उनके गीतों में देश की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने की भावना का प्राधान्य है। आत्मोत्सर्ग की यह भावना दुःख और निराशा से प्रेरित होकर मृत्यु के प्रति विवशतापूर्ण आत्म-समर्पण नहीं है अपितु आत्मोत्सर्ग के मूल में राष्ट्रोद्धार के लिए हँसते-हँसते प्राण-निछावर करने की आशावादी कामना सन्निहित है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी आत्म-बलिदान की कामना से वीर रस का स्थायीभाव उत्साह व्यंजित होता है और उत्साह तथा निराशा परस्पर विरोधी मनोवैज्ञानिक तत्व हैं, इसलिए राष्ट्रीय कवियों के वे गीत, जो आत्म-बलिदान की कामना व्यक्त करते हैं,

निराशावाद के विषय-क्षेत्र मे नही आते। अवैयक्तिक अथवा समष्टिगत निराशावाद में हम (*i*) समवेदना और (*ii*) समष्टि-विध्वस की कामना जैसी दो प्रमुख प्रवृत्तियो की गणना कर सकते है।

(*i*) समवेदनावादी काव्य—

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में विधवा, अछूत, अनाथ आदि के दुःखो का चित्रण करने के साथ-साथ उनके प्रति जो समवेदना प्रकट की जाती थी, उसमे समाज-सुधार की भावना सन्निहित रहती थी। द्विवेदी-युग के कवियों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय अथवा जातीय दृष्टिकोण था। छायावादी कवियो का दृष्टिकोण मानवतावादी दृष्टिकोण है; इसलिए उनकी सहानुभूति 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा' के समान पवित्र कुलीन हिन्दू-विधवा से लेकर स्त्री-समाज मे सबसे अधिक पतित समझी जानेवाली वेश्या तक विस्तृत है। छायावादी कवियों ने सामान्य स्त्री-समाज और समाज के उत्पीड़ित अग भिखारी, कगाल आदि के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की है।

स्त्री-समाज—

स्त्री-समाज छायावादी युग के कवियो की समवेदना का प्रमुख विषय रहा है। ठाकुर गोपालशरण सिंह ने स्त्री-समाज की समवेदना में अनेक स्फुट कविताएँ लिखी हैं। 'मानवी' (१६३८ ई०) इस विषय की प्रशस्त रचना है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' की आत्मा मे सम्पूर्ण स्त्री-समाज की करुण कहानी निहित है—

अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी,
अचल में है दूध और आँखों में पानी।[1]

निराला की 'विधवा' पवित्रता और दीनता मे निरीह है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की विधवा है।[2]

१—यशोधरा, पृ० ४७।
२—'विधवा' (१६१६ ई०) अपरा, पृ० ५६।

दिनकर की 'विधवा' जीवन की समस्त आशा-आकांक्षाओं के स्वाह हो जाने के पश्चात् 'जीवन के शून्य सदन में' अपने दिन व्यतीत कर रही है—

नव-यौवन की चिता बनाकर
आशा-कलियों को स्वाहाकर
भग्न मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में
जीवन के इस शून्य सदन में।[१]

नरेन्द्र शर्मा की सहानुभूति भिखारिन और वेश्या तक फैली हुई है। भिखारिन के प्रति समाज की उदारता वस्तुत उसकी स्वार्थपरता से प्रेरित है—

वह निर्धन नादान जानती है भगवान्—नाम केवल !
वही अवलम्ब, वही है बल, वही दो दाने देता है,
उन दानों के संग जीवन में, पाप, कलुष, व्यभिचार—
हाय क्या-क्या भर देता है ?

× × ×

हाय पग-पग पर ठोकर खाती, चली आती निर्धन !
भिखारिन ॥[२]

समाज भिखारिन के दरिद्र से द्रवित होकर 'दो दाने' नहीं देता है। उन दो दानो के साथ में 'पाप, कलुष, और व्यभिचार' आदि उसकी कलुषित भावनाएँ भी छिपी रहती हैं। कवि का व्यंग्य समाज की उदारता के प्रति स्पष्ट और तीव्र है। वह भिखारिन से अधिक वेश्या को सहानुभूति का पात्र मानता है। वेश्या अपने निर्मल रूप से ताँबे के टुकड़ों का विनिमय इच्छापूर्वक नहीं करती; अपितु बेचारी भूख की ज्वाला के कारण विवश है वेश्या-वृत्ति के लिए। वस्तुत. वह भी सामाजिक अत्याचार का शिकार है—

सत्य प्रेम से हो निराश, मैले ताँबे के टुकड़ों पर
बेच रही है रूप विमल !
तुम पिशाच-से हँस-हँस लेते मुट्ठी भर कौड़ी भर देते,
हीरा छीन रहे हो, पापी ! लूट रहे हो तुम निर्बल,

१—'विधवा'—रेणुका (१६३५ ई०) पृ० ७३।
२—'भिखारिन' (सितम्बर, १६३३) प्रभातफेरी, पृ० ६७।

पैसों के पैशाचिक बल से हर लेते हो रूप विमल !
हो हताश करती है वारि-विलास ! हा, निष्ठुर परिहास !
हा स्वार्थी, अन्यायी मानव ! पैशाचिक सुख के हित तुमने
निर्वासित की वेश्या गृह से ! यह क्या जाने, क्या है मधुर
सुहाग, क्या पति का अनुराग ![1]

भिखारिन, विधवा और वेश्या आदि के प्रति व्यक्त की गई समवेदना आधुनिक युग की मनोवृत्ति को व्यक्त करती है। आधुनिक युग स्त्री-समाज के प्रति समवेदना, सहानुभूति और आदर-भावना का युग है। आधुनिक साहित्य के विभिन्न अङ्गो—नाटक, उपन्यास, कहानी आदि—के द्वारा स्त्री-समाज के प्रति सहानुभूति और आदर-भाव व्यक्त किया जा रहा है। आजकल स्त्री के अधिकारो का समर्थन करने का भी प्रचलन होने लगा है किन्तु छायावादी युग में स्त्री के अधिकारो की चर्चा नहीं थी, उसके चरित्र को भव्य रूप में अकित किया जाता था और उसके प्रति समवेदना व्यक्त की जाती थी। आत्मानुभूतिप्रधान होने के कारण छायावादी काव्य स्त्री-समाज के दुख-दर्द को अधिक व्यक्त नहीं कर सका और न उसको आदर्श रूप में अधिक चित्रित ही कर सका है किन्तु सन् १९२०-२२ से १९४० ई० तक के कहानी, उपन्यास और नाटकों मे स्त्री के भव्य रूप का विशद चित्रण किया गया है। उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचन्द और नाटक के क्षेत्र मे जयशकर प्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

समाज के शोषित अग—

भिखारी, अनाथ, निर्धन आदि समाज के वे शोषित अग हैं जिनके प्रति छायावादी कवियों की विशेष सहानुभूति रही है। दो बच्चों को साथ लिये हुए एक भिखारी को आता हुआ देखकर निराला का 'कलेजा दो टूक' हो जाता है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों हैं मिलकर एक, चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—

१—'वेश्या' (सितम्बर, १९३३) प्रभातफेरी, पृ० ९८-९९।

दो टूक कलेजे को करता, पछताता पथ पर आता।

× × ×

साथ दो बच्चे भी हैं, सदा हाथ फैलाये,

× × ×

चाट रहे हैं जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।[1]

ठा० गोपालशरणसिंह का हृदय अनाथों की कथा कहते-कहते 'भर आता' है—

देखकर ही है इन्हें, होती बड़ी मन में व्यथा;
क्या न हैं ये देहधारी करुण रस ही सर्वथा
हाय ! भर आता हृदय है और रुकता है गला
इन अनाथों की कथा कैसे कहे कोई भला।[2]

निर्धन प्राणियों की करुण दशा को देखकर नरेन्द्र का विश्वास ईश्वर और उसकी दया से उठ गया है—

कृश कंकाल, नसों के नीले जाल,
अस्थि-पंजर निष्प्राण, शून्य श्वासों का भार,
यही हैं वे नादान भटकते भूले बाल,
दीन कंगाल, नग्न कंकाल !

× × ×

कौन सुनता है करुण-पुकार ? किसे रुचता है हाहाकार ?
अरे निर्धन नादान ! जिसे तुम कहते हो 'भगवान्',
जो बरसाता है जीवन में रोग-शोक, दुख-दैन्य अपार,
जिसने तुमको उदर दिया है और अँगारों का संसार,
उसे सुनाने चले पुकार ?

× × ×

भूल गया है ईश्वर जग को पा मादक अधिकार ![3]

इस समवेदनावादी अथवा दयावादी काव्य की यह विशेषता है कि कवि को समाज के द्वारा उत्पीड़ित, शोषित अथवा तिरस्कृत

१—'भिक्षुक' (१६२१ ई०) अपरा, पृ० ६६।
२—'अनाथ' (जून, १६२४) संचिता, पृ० ११४।
३—'कंगाल' (सितम्बर, १६३३) प्रभातफेरी, पृ० १००, १०१, १०२।

प्राणियों के प्रति सहानुभूति तो है, किन्तु वह सहानुभूति एक दु ख अथवा वेदना का ही रूप धारण किए रहती है, उत्पीड़क अथवा शोषक के प्रति रोष में परिणत नही होती। कवि विधवा, भिखारी, वेश्या आदि के दु खों को तो पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है, किन्तु उन दु खो और अभावो का विनाश करने की आशावादी प्रेरणा नही देता ओर न उनके स्वत नष्ट होने की सम्भावना ही प्रकट करता है। इस दृष्टि से समवेदना व्यक्त करने वाले गीतों को हम निराशावादी काव्य के अन्तर्गत सन्निहित कर सकते हैं।

(11) विध्वसवाद—

छायावादी कवियो ने सृष्टि के विध्वस की कामना प्रकट की है। विध्वसवादी गीतो को विप्लववाद, प्रलयवाद, क्रान्तिवाद आदि अनेक नाम दिए गए हैं। विध्वसवादी गीतों की विशेषता यह है कि उनमे कवि उन परिस्थितियो का प्राय उल्लेख नही करता, जिनसे विक्षुब्ध होकर उसका हृदय सृष्टि के विनाश की कामना करने लगा है। इसलिए विध्वसवाद का मनोवैज्ञानिक आधार खोजना कुछ कठिन प्रतीत होता है। भारतेन्दु अथवा गोपालशरण सिह जैसे कवि जब भारतवर्ष के सर्वनाश का भाव प्रकट करते थे तो राष्ट्रीय पराभव से उत्पन्न आत्म-ग्लानि, क्षोभ आदि उन अनुभूतियों को भी साथ-ही-साथ व्यक्त किया करते थे, जो उनके हृदय में सर्वनाश की इच्छा उत्पन्न करनेवाली थीं। अत अनुमानित रूप से हम विध्वसवाद की पृष्ठभूमि मे निम्नलिखित भावनाओं का हाथ मान सकते हैं—

(१) राष्ट्रीय आकांक्षाओ के विनाश से उत्पन्न क्षोभ—

छायावादी युग का श्रीगणेश एक राष्ट्रीय सघर्ष की विफलता के पश्चात् हुआ था। अपने विकासकाल में उसने सन १६२६-३३ ई० के दूसरे राष्ट्रीय सघर्ष की विफलता भी देखी। गाधीजी की अहिंसा की नीति युवको के रक्त के उबाल को शान्त कर रही थी। फिर भी कुछ नौजवान देश-प्रेम की वेदी पर अपने प्राण निछावर कर रहे थे। किन्तु गाधी के अहिंसात्मक सग्राम अथवा युवको के बलिदान का परिणाम कुछ भी नहीं निकल रहा था। हिन्दू-मुसलमानो के परस्पर वैमनस्य से राष्ट्रीय शक्ति क्षीण हो रही थी। साम्राज्यवाद टस से मस

नहीं हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों से उत्पन्न क्षोभ प्रलय का स्वागत करने के लिए तत्पर था।[1] वह ऐसे देश और समाज को भस्मसात रूप में देखना चाहता था जिसमें अन्याय और अत्याचारों का शासन हो। जहाँ पाशविक बल के द्वारा जनता को मानवीय अधिकारों से वंचित किया जाता हो। देश के पराभव से उत्पन्न क्षोभ सक्रिय होकर देशोद्धार के लिए आत्म-बलिदान की प्रेरणा दे रहा था जबकि निष्क्रिय क्षोभ केवल प्रलय अथवा विप्लव का ही स्वागत कर सकता था। आत्म-विध्वंस की भाँति सृष्टि के विध्वंस की कामना एक आवेशपूर्ण भावना से अधिक महत्व नहीं रखती।

(२) व्यक्ति और समाज—

छायावादी कवि समाज से, सामाजिक मान्यताओं और आदर्शों से विक्षुब्ध था। वह अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से—अपने आदर्शों की कसौटी पर—समाज को परखता था। मनुष्य जिस वस्तु से असन्तुष्ट होता है और उसमें किसी प्रकार का सुधार करने में अपने आपको असमर्थ पाता है तो वह उसको विनष्ट हुआ देखना चाहता है। छायावादी गीतों में यह व्यक्तिगत असंतोष अन्तर्मुखी होकर आत्म-विध्वंस के रूप में व्यक्त हुआ है और बहिर्मुखी होकर प्रलय या विप्लव के रूप में। दोनों के मूल में व्यक्तिगत असन्तोष ही छिपा हुआ है।

(३) समाजवादी विचारों की प्रेरणा—

छायावादी युग के अन्तिम वर्षों में समाजवादी विचार कवियों के हृदय को प्रभावित करने लगे थे। समाजवादी विचारों से प्रेरित कवि एक ऐसे समाज का स्वप्न देखने लगे थे जिसमें न वर्ग-भेद हो न जाति-भेद। वर्गहीन समाज की कल्पना उनको अपने समाज से असन्तुष्ट कर रही थी। जिस समाज में अन्न के एक-एक दाने के लिए मानव और कुत्तों में युद्ध छिड़ जाता हो, जहाँ ताँबे के टुकड़ों पर विमल रूप बेचा जाता हो, जिस समाज में पाशविक शक्ति के

१—(i) छायावादी युग की राजनीतिक परिस्थितियों के लिए देखिए—'ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया' अध्याय २०, 'दी गांधियन एरा' पृ० ४०६–४३४।
(ii) देखिए—पृष्ठ २६०–६१।

सहारे न्याय और अधिकारों का अपहरण किया जाता हो और जहाँ जन्म से ही एक कुलीन और दूसरा अछूत उत्पन्न होता हो उस समाज के विध्वंस की कामना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। समाज का पुनर्निर्माण करने के लिए उस समय यदि स्वतन्त्रता होती तो कवियों का क्षोभ और निराशा कदाचित् विध्वंस की कामना न करती, किन्तु देश साम्राज्यवाद की लौह शृंखला में जकड़ा हुआ था, फलतः कवि की क्षुब्ध और निराशा चेतना विध्वंसवाद की कल्पना करने को विवश थी। अस्तु। राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विनाश से उत्पन्न क्षोभ, समाज की व्यवस्था से उत्पन्न असन्तोष और समाजवादी आदर्शों की प्रेरणा ऐसे मनोवैज्ञानिक तत्व हो सकते हैं, जो कवियों के हृदय में क्रान्ति, विप्लव अथवा प्रलय की कामना उत्पन्न कर रहे थे। विध्वंसवाद की रूप-रेखा को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उद्धरण पर्याप्त होंगे।

सृष्टि का विध्वंस करनेवाली शक्तियों में छायावादी कवियों का ध्यान प्रलयकर बादल और शिव के ताण्डव नृत्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। छायावादी युग में महाकवि निराला ने सबसे पहले प्रलय-कामना व्यक्त की थी। 'बादल राग' में कवि की वर्ग-सहानुभूति स्पष्टतः व्यक्त हुई है। यथा—

> बार बार गर्जन,
> वर्षण है मूसलधार,
> हृदय थाम लेता संसार,
> सुन-सुन घोर वज्र-हुङ्कार।
> अशनि-पात से शायित उन्नत शत शत वीर,
> क्षत-विक्षत-हत अचल-शरीर,
> गगनस्पर्शी स्पर्धा-धीर।
> हँसते हैं छोटे पौधे लघु-भार—
> शस्य अपार।[1] (आदि)

कवि के विप्लव के 'बादल' प्रलय के स्थान पर क्रान्ति करने वाले हैं। बादलों की वज्र-हुङ्कार सुनकर केवल गगनस्पर्शी पर्वत काँपते हैं, छोटे-छोटे पौधे नहीं। दूसरे शब्दों में, क्रान्ति के नाम से केवल धनी

१—बादल-राग (१९२० ई०), अपरा पृ० २।

वर्ग की चिन्ता होती है, जन-साधारण के लिए वह नव आशाओं का सन्देश लाती है। 'बादल-राग' सन् १९२० में लिखा गया था जब राष्ट्रीय चेतना क्रान्ति की कामना कर रही थी। इसलिए 'बादल-राग' में बादल को सम्पूर्ण सृष्टि का विध्वंस करते हुए नहीं चित्रित किया गया। सन् १९३२ में भगवतीचरण वर्मा सृष्टि का विनाश करने के लिए प्रलयंकर 'बादल' का स्वागत करते हैं—

रुको पल भर, सुन लो तुम आज
धधकती हुई धरा की बात।
यहाँ है सदा भ्रान्ति का राज्य
यहाँ है अपने ही का घात!
यहाँ नीचे नीचे प्रतिकाल
रुदन ही रुदन यहाँ दिन रात!
× × ×
गगन पर घिरो मडलाकार!
अवनि पर गिरो वज्र सम आज!
गरज कर भरो रुद्र हुङ्कार!
यहाँ पर करो नाश का साज!
मने ताण्डव नर्तन फिर आज
चुका ले महाकाल निज व्याज![1]

भगवतीचरण वर्मा की चेतना व्यक्तिवादी है। कवि को ससार में 'भ्रान्ति का राज्य', 'अपने ही का घात' और 'रुदन ही रुदन' सुनाई पड़ रहा है, इस भ्रान्ति और रुदन से विक्षुब्ध होकर वह सृष्टि का विनाश चाहता है। समाज के कलुष से क्षुब्ध होकर कवि सृष्टि के विध्वंस की कामना करने लगा है।

'शिव स्तुति' (सन् १९३२) में नरेन्द्र शर्मा भी इसलिए 'निखिल विश्व को अवघट मरघट' बनाना चाहते हैं कि 'जग निर्दय है', 'अन्यायी है' और 'आडम्बरपूर्ण' है। कविता का एक अंश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—

नाचो, रुद्र, नृत्य प्रलयङ्कर!
नाचो ताण्डव नृत्य भयंकर!

१—'बादल' (मधुकण, १९३२ ई०) पृ० ६७–६९।

डर से डोले डगमग अवनी!
सिगरे सागर कांपे अम्बर!
नाचो, रुद्र, नृत्य प्रलयङ्कर!

नाचो, शिव, इस निर्दय जग पर,
अन्यायी के आडम्बर पर,
ज्वाला के भूधर से नाचो,
पहन चिता के चपल लपट-पट
निखिल विश्व हो अवघट मरघट
नाचो, रुद्र, नृत्य प्रलयङ्कर!
नाचो ताण्डव नृत्य भयकर![1]

वालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारीसिंह 'दिनकर' और सोहनलाल द्विवेदी की चेतना राष्ट्रीय असतोष के कारण सृष्टि-विध्वस की कामना प्रकट करती है। कवि नवीन का विध्वसवाद क्रान्ति-कामना से प्रेरित प्रतीत होता है क्योंकि कवि किसी दिव्य शक्ति के द्वारा प्रलय नही करवाना चाहता। वह अपनी वाणी मे वह शक्ति भरना चाहता है कि उसके क्रांति भरे गीतों को सुनकर प्रलय मच जाय। सामाजिक और राजनीतिक क्राति को प्रलय का रूप देकर कवि लिखता है—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छा जाए
बरसे आग जलद जल जाएँ भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य सदसद भावों की धूल उड़ उठे दाएँ-वाएँ।
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए।[2]

इस क्रान्तिवाद अथवा विप्लववाद मे चाहे जितना जोश-खरोश क्यो न व्यक्त किया जाय, उसकी पृष्ठभूमि मे जो निराशा छिपी हुई है वह उसे सघर्ष की आशावादी कल्पना से वचित करती है। निराशावादी मनुष्य प्राय दिवास्वप्नवादी वन जाया

१—शिव-स्तुति (अक्टूबर, १६३३) प्रभातफेरी, पृ० २०३।
२—डॉ० धीरेन्द्रवर्मा द्वारा सपादित 'आधुनिक काव्यधारा' से उद्धृत।

करता है। और बैठे-बैठे सृष्टि के विध्वंस की कल्पना करना दिवा-स्वप्न से अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती।

दिनकर के प्रलयवाद में राष्ट्रीय पराधीनता से उत्पन्न क्षोभ कुछ अधिक स्पष्ट रूप मे व्यजित हुआ है। कवि भगवान शंकर से प्रलय-नृत्य दिखलाने की प्रार्थना करता हुआ लिखता है—

प्रभु ! तव पावन नील गगन-तल
विदलित अमित निरीह-निबल-दल
मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र-जन,
आह ! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित-शोषण,
पूछो, साक्ष्य भरेंगे निश्चय, नभ के ग्रह-नक्षत्र-निकर,
नाचो, हे नाचो नटवर

नाचो अग्निखंड भर स्वर में
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर मे
वैभव के उच्चाभिमान में
अहकार के उच्च शिखर में
स्वामिन्, अधड़-आग बुला दे
जले पाप जग का क्षण भर में
रच दे फिर से इसे विधाता, तू शिव, सत्य और सुन्दर
नाचो, हे नाचो नटवर[1]

दिनकर का गीत साम्राज्यवाद और उसकी 'असहायों का रक्त शोषण' करनेवाली पूँजीवादी सभ्यता की ओर बार-बार संकेत करता है। कवि 'वैभव के उच्चाभिमान' और 'अहंकार के उच्च शिखर' में आग लगी हुई देखना चाहता है। दूसरे शब्दों मे, दिनकर का विध्वंसवाद राष्ट्रीय निराशावाद से प्रेरित है। सोहनलाल द्विवेदी का 'विप्लव-गीत' भी विधि-विधान को इसलिए नष्ट-भ्रष्ट देखना चाहता है कि सृष्टि के विनाश के साथ-ही-साथ भारतवर्ष की पराधीनता भी नष्ट हो जायगी—

१—'ताण्डव'—रेणुका, १९३५ ई० पृ० २-३।

रवि गिरने दे, शशि गिरने दे
गिरने दे तारक सारे,
अचल हिमाचल चल होने दे
जलधि खौलकर फुंकारे;
× × ×
खण्ड खण्ड भूखण्ड, अड ब्रह्माड
पिंड नभ में डोले
मेरे मृत्युंजय की टोली
जब मा की जय-जय बोले!
× × ×
महाप्रलय होने दे निष्ठुर!
कर विनाश की तैयारी।
सर्वनाश हो पराधीनता
यों ही भारत की सारी![1]

विध्वंसवाद अथवा प्रलय की भावना ने कवियों की क्षुब्ध चेतना को इतना अधिक प्रभावित किया कि प्रगतिवादी युग के कवि भी विश्व के कलुष को समाप्त करने के लिए शिव-ताण्डव का स्वागत करते रहे हैं। उदाहरणत कवि 'हसरत' 'ताण्डव' (१६४२ ई०) में वर्ग-संघर्ष की उत्तेजना देनेवाले अनेक गीत लिखते हैं, किन्तु पुस्तक का नाम उन्होंने ताण्डव रखा है और उसका पहला गीत शिव-नृत्य के विध्वंसक रूप का चित्रण करता है।

इस विध्वंसवाद के मूल मे निराशा, विवशता और क्षोभ ही छिपा हुआ माना जायगा। व्यक्तिगत अभाव अपनी पूर्ति का कोई उपाय न पाकर जिस प्रकार दार्शनिक रूप धारण करके जगत् और जीवन को त्याज्य और मिथ्या घोषित करने लगता है अथवा आत्म-विध्वंस की निष्क्रिय इच्छा उत्पन्न करता है उसी प्रकार समाज में अन्याय, अत्याचार और उत्पीडन आदि से विक्षुब्ध किन्तु निराश मानव-चेतना समाज की अमगल-कामना ही प्रकट कर सकती है—[illegible]गज मे स्वग उलट-फेर करने की बात नहीं सोच सकती। दूसरे [illegible] में हम यह कह सकते हैं कि छायावादी युग का असतोष उग्र

[1] 'मिलन गीत'—भैरवी (१६४१ ई०) पृ० १२०, १३२।

रूप धारण करके विप्लव, प्रलय अथवा विध्वंस की निष्क्रिय कल्पना के रूप मे प्रकट हुआ है। अस्तु।

छायावादी युग प्रमुखतः व्यक्तिगत निराशावाद का युग है। इस युग की प्रत्येक प्रवृत्ति मे व्यक्तिगत असंतोष और निराशा विभिन्न रूप धारण करके अभिव्यक्त हुई है। व्यक्तिगत निराशावाद रहस्यवादी गीतो मे वेदना, पीड़ा, दुःख आदि अभावात्मक अनुभूतियो की उपासना एव आत्म-विसर्जन की कामना के रूप मे व्यक्त हुआ है। प्रकृति का चित्रण करनेवाले गीतो के माध्यम से प्राय व्यक्तिगत निराशा ही व्यक्त हुई है। प्रणय-गीतो मे प्रणय की असफलता का ही अधिकतर चित्रण किया गया है। उमर खैयाम की रुबाइयो और खैयामवादी प्रतीको—हाला, प्याला, मधुशाला आदि—के माध्यम से भी कवियो ने अपने हृदय की निराशा, विवशता एवं विषाद को ही वाणी दी है। नियतिवाद, छायावादी कवियो का जीवन-दर्शन वन गया है।

जिन गीतो मे कवियो ने अपने दार्शनिक विचारो को व्यक्त किया है उनमे भी जीवन और जगत् को त्याज्य, मिथ्या और दुःखपूर्ण ही सिद्ध किया है जो उनके निराशावादी दृष्टिकोण की सूचना देता है। जिन कवियो ने जगत् को त्याज्य सिद्ध नही किया उनमे से अधिकाश ने उसके विध्वंस की कामना प्रकट की है, जो निराशावाद का ही एक रूप है। जिन कवियो ने अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियो और अपने हृदय के अभावो को वाणी दी है उन्होने परिस्थितियो की विषमता पर केवल ऑसू वहाए है या मृत्यु की तैयारी की है। युग की निराशा ऑसू, उच्छ्वास और व्यथा-वेदना के अनुभव से लेकर मृत्युकामना और मृत्यून्मुखता तक बढ़ी हुई है। इन सब वातो को ध्यान मे रखकर छायावादी युग को यदि निराशावाद का युग मानलिया जाय तो अनुचित न होगा।

छायावादी युग के निराशावाद का मूल्यांकन—

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग का निराशावाद राष्ट्रीय निराशावाद था। छायावादी युग का निराशावाद व्यक्तिगत निराशावाद है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के कवियो ने चिन्ता, क्षोभ आदि जिन निराशावादी भावनाओं को अपने काव्य में व्यक्त किया था, वे भावनाएँ एक पूरे राष्ट्र अथवा समाज की भावनाएँ थी। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग का कवि वही अनुभव कर रहा था, वही सोच रहा था, और वही कह रहा था जो उसके समय का प्रत्येक जागरूक व्यक्ति सोच-विचार कर रहा था। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के कवियो की वाणी समूचे राष्ट्र की वाणी थी। छायावादी कवि प्रमुखत अपना ही प्रतिनिधित्व करता है। उसकी भावनाएँ जन-साधारण का प्रतिनिधित्व कभी नहीं करतीं। 'बच्चन, नरेन्द्र आदि कवियो का निराशावाद केवल उस भावुक युवक-वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकता है जिसका मानसिक संतुलन बिगड चुका हो। इस वर्ग में केवल वे ही शिक्षित नव युवक आ सकेंगे जिन्होंने परिस्थितियों की विषमता के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया होगा और जिनको न तो सामूहिक शक्ति मे ही विश्वास रहा होगा और न आध्यात्मिक शक्ति मे। अत भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों के कवियो की भाँति छायावादी युग के कवियो का निराशावाद सामाजिक निराशावाद नहीं कहा जा सकता।'

भारतेन्दु और द्विवेदी-युगो के कवि लोक-मगल (जो केवल स्वदेश और स्वजाति तक सीमित था) की पूत कामना से प्रेरित होकर सामाजिक जागत्ति के उद्देश्य से राष्ट्रीय पराभव और सामाजिक अध पतन का रोना रोया करते थे। उनके आँसुओं का एक उपयोग था, फलत मूल्य भी था। छायावादी कवि 'कला कला के लिए है', इस आदर्श के समर्थक थे। उनके आँसू और रुदन मे काव्य-कला

का सौन्दर्य चाहे जितना निखरा हो, उपादेयता की कसौटी पर परखने पर उनका मूल्य दो कौड़ी भी नहीं ठहरता। अनुपादेय होने के साथ-साथ छायावादी युग का निराशावाद सामाजिक जीवन के लिये अहितकर भी है।

छायावादी कवियो ने अपने निराशावाद की स्वयं ही आलोचना भी की है और समाज मे निकृष्ट भावनाओ का प्रचार करने के अपराध मे स्वय को धिक्कारा भी है। छायावादी युग के निराशावाद की निकृष्टता का इससे अधिक विश्वस्यनीय और कोई प्रमाण नहीं मिल सकता। व्यक्तिगत निराशावाद के सबसे समर्थ कवि बच्चन 'आकुल-अन्तर' (१६४०-४२ ई०) मे अपनी निराशावादी प्रवृत्तियो की घोर निन्दा करते हैं। एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे। अपने निष्क्रिय रुदन और एकाकीपन को 'नारीपन' स्वीकार करता हुआ कवि लिखता है—

यह नारीपन,
तू बन्द किए अपने किवाड़
बैठा करता है इन्तजार,
कोई आए,
तेरा दरवाजा खटकाए,
मिलने को बाहें फैलाए,
तुझसे हमदर्दी दिखलाए,
आँसू पोंछे औ' कहे, हाय, तू जग में कितना दुखी-दीन।[1]

इसी प्रकार अपने हालावाद की आलोचना करता हुआ कवि लिखता है—

वह व्यक्ति रचा,
दी डुबा जगत की चिन्ताएँ
जिसने मदिरा की प्याली में,
मधुबाला की कंकण-ध्वनि में
जो भूला जगती का क्रन्दन,
जो भूला जगती की कटुता
उसके आनन में मूँद नयन।[2]

१—आकुल अंतर (१६४०-४२ ई०) गीत-संख्या ५५, पृ० ८३।
२—आकुल अंतर (१६४०-४२ ई०) गीत-संख्या ५६, पृ० ८४।

और जब 'मदिरा की प्याली' एवं 'मधुबाला का आँचल' जीवन की वास्तविकता से भागे हुए व्यक्ति के मन को सांत्वना प्रदान न कर सका था तो वह निराशावाद के गीत गाने लगा था—

वह व्यक्ति रचा,
जो बैठ गया दिन ढलने पर दिन भर चलकर सूने पथ पर,
खोकर अपने प्यारे साथी, अपनी प्यारी सपंति खोकर,
बस अन्धकार ही अंधकार रह गया शेष जिसके समीप,
जिसके जलमय लोचन जैसे झंझा से हों दो बुझे दीप,
टूटी आशाओं, स्वप्नों से जिसका अब केवल नाता है,
जो अपना मन बहलाने को एकाकीपन में गाता है,
जिसके गीतों का करुण शब्द, जिसके गीतों का करुण राग,
पैदा करने में है समर्थ, आशा के मन में भी विराग।[1]

बच्चन के गीत निराशावादी और अकर्मण्य मनोवृत्ति के पोषक थे—कवि इसे स्वयं स्वीकार करता है। कवि के निराशावादी गीत अप्रौढ़ विचारवाले नवयुवकों में कितनी निष्क्रियता का प्रचार कर रहे थे, यह भी बच्चन के ही शब्दों में सुनिए—

१— वेदना भाग,
जो उर के अन्दर आते ही मुरझा-सा वदन बनाती है,
सारी आशा-अभिलाषा को पल के अन्दर खा जाती है,
पी जाती है मानस का रस जीवन शव-सा कर देती है,
दुनिया के कोने-कोने को निज क्रन्दन से भर देती है,
इसकी संक्रामक वाणी को जो प्राणी पलभर सुनता है,
वह सारा साहस-बल खोकर, युग-युग अपना सिर धुनता है;
यह बड़ी अशुचि रुचि वाली है संतोष इसे तब होता है,
जब जग इसका साथी बनकर, इसके रोदन में रोता है।[2]

२—तू कैसी रचना करता है? अपने आँसू की बूँदों में—
अविरल आँसू की बूँदों में, विह्वल आँसू की बूँदों में,
कोमल आँसू की बूँदों में, निर्बल आँसू की बूँदों में—

१—आकुल अंतर (१९४०–४२ ई०) गीत संख्या ५६, पृ० ८५-८६।
२—आकुल अंतर (१९४०–४२ ई०) गीत संख्या ५७, पृ० ८८–८९।

लेखनी डुबाकर बारबार, लिख छोटे-छोटे गीतों को;
गाता हूँ अपना गला फाड, करता इनका जग में प्रचार।
इनको ले बैठ अकेले में तुझ-से बहुतेरे दुखी-दीन,
अपनी पीडा को दुलराते, कहते हैं, 'जीवन है मलीन,
यदि बचने का कोई उपाय तो वह केवल है एक मरण।'[1]

किसी भी युग के काव्य की निराशा इससे अधिक विकृत रूप नहीं धारण कर सकती थी। छायावादी युग के दार्शनिक निराशावाद का भी उद्देश्य जीवन का निषेध करना ही था। मृत्यु-कामना छायावादी गीतों में प्रायः व्यक्त हुई है।

नरेन्द्र शर्मा, यह स्वीकार करते हुए कि 'प्रवासी के गीत' मानसिक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीत हैं, पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"इसके लिए भी उसे (कवि को) अपने सीने पर कुण्डली मार कर बैठे हुए सर्प जैसी निराशा को तोड़ डालना होगा, वरना आज का निराशावादी कवि समाज के शरीर में दरद करते हुए 'एपेंडिक्स' की तरह निरर्थक हो जाएगा और उसके लिए समाज-शरीर में स्थान नहीं रहेगा।"[2]

अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता पर देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद, वैराग्य-भावना आदि प्राचीन दर्शन की विभिन्न निराशावादी प्रवृत्तियों का प्रभाव स्वीकार करते हुए श्री सुमित्रानन्दन पंत लिखते हैं—"अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्म-समर्पण सिखलाता है, सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है। संसार को असार, जीवन को क्षणभंगुर आदि माननेवाली भावनाएँ "मनुष्य को अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करतीं, बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। दार्शनिक निराशावाद के संस्कार हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी

१—आकुल अन्तर (१९४०-४२ ई०) गीत-संख्या ६२, पृ० ६७-८।
२—वक्तव्य (२८-५-१९३९ ई०) प्रवासी के गीत, पृ० ५।

गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातीय दृष्टि से हम अपने स्वाभाविक आत्म-सरक्षण के सस्कारों को खो बैठे हैं और अपने प्रति किए गये अत्याचारो को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर चुपचाप सहन करना सीख गए हैं—जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगो में सीढी दर सीढ़ी नीचे गिरते गए है।"[1] सामाजिक दृष्टि से छायावादी कवियो का जीवन-दर्शन कितना निकृष्ट था, इसका अनुमान पतजी के 'वक्तव्य' से लगाया जा सकता है।

'छायावादी कविता का विनाश क्यो हुआ?' शीर्षक निबन्ध मे निराशावाद के विभिन्न तत्वो की आलोचना करते हुए इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं—"छायावादी कवियो ने हमें दिया क्या? केवल अपने रुग्ण हृदयो (निराशावादी मनोवृत्तियो) की अलस रसावेशमयी भावनाओं के वासनोद्गारो से सारे साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त उन्होंने और किया क्या? मधुर-कोमल-कान्त पदावली के माध्यम से ये सब आत्मघाती और क्षयरोग के कीटाणुओ की तरह विनाशकारी तरल-गरलमय भाव हिन्दी-जगत् की जनता के मर्मस्थल पर 'इनजेक्ट' किए जाते रहे। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे एक क्षयरोगग्रस्त सुवृहत् कवि-समाज उस घातक अफीम के रस से मद-विभोर हो उठा, और चारो ओर से एक अस्वास्थ्यकर मीठी और झूठी वेदना की बाढ़ ने समस्त साहित्य-ससार को आप्लुत कर लिया।"[2]

हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि जोशीजी स्वय छायावादी कवि हैं, आपकी 'विजनवती' (२६ मार्च, १९३७) मे सग्रहीत अनेक रचनाएँ प्रणय-निराशा की 'गरल-तरलमय' अभिव्यंजना करती हैं, जिनके विषय मे श्री जोशी का मत है—"मैं अब अपने सम्बन्ध में भी स्पष्ट शब्दो मे यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि मेरी अधिकांश कविताओ में भी कल्पना के इन्द्रजाल की झूठी चमक-दमक निष्प्राण आत्म-विलास तथा निःशक्त अहमन्यता का पोपलापन वर्तमान है, जो अन्य छायावादी कवियो की कविता मे।"[3]

१—'पर्यालोचन' (१५ दिसम्बर, १९४१ ई०) आधुनिक कवि पृ० ४, —सुमित्रानन्दन पत।

२—विवेचना, पृ० ४१–४२।

३—विवेचना, पृ० ५०।

बच्चन, नरेन्द्र, पंत और जोशी द्वारा की गई आलोचना से छायावादी युग की विभिन्न निराशावादी प्रवृत्तियों का सम्यक् मूल्यांकन होजाता है। कवियों की मान्यताओं से असहमत होना कठिन है। किन्तु, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि छायावादी गीतों में व्यक्त व्यथा, वेदना, निराशा आदि की अभिव्यक्ति में जो मार्मिकता, स्वाभाविकता एवं रसात्मकता है, वह आधुनिक युग के अन्य किसी काव्य में नहीं मिलती। यह सचमुच बड़े ही खेद का विषय है कि आधुनिक काव्य का सबसे अधिक सम्पन्न युग इतने निकृष्ट भाव और विचारों से आक्रान्त हुआ। किन्तु, इस विकृति को हम केवल कवि की रुचि के दूषित होने का परिणाम नहीं मान सकते, आखिर छायावादी युग की परिस्थितियों का भी तो उसमें पर्याप्त हाथ था।

अध्याय ५

प्रगतिवादी युग (१९४० ई०)

प्रगतिवादी युग के निराशावाद की सीमा—

द्विवेदी-युग के समान प्रगतिवादी काव्य-धारा में भी निराशावाद का अभाव है। छायावादी काव्य ने राष्ट्रीयता, उपादेयता आदि द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियों का निरादर करके सौन्दर्योपासना, आत्माभिव्यक्ति और आवेगपूर्ण अनुभूतियों को अपने गीतों का विषय बनाया था। प्रगतिवादी विचार-धारा ने छायावादी प्रवृत्तियों का तिरस्कार करके यथार्थवाद, उपादेयता और समष्टिवादी भावनाओं को पुन अपने काव्य का लक्ष्य बनाया। प्रगतिवाद ने छायावादी काव्य के वेदनावाद, वैयक्तिकता और निराशावाद का तीव्र विरोध करके संघर्ष, सामाजिक चेतना और आशावादी भावनाओं की साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिष्ठा की। व्यक्तिवाद से समष्टिवाद, वेदना से संघर्ष और निराशा से आशावाद की ओर यह प्रतिगमन एक युग के अन्त और दूसरे युग के आगमन की सूचना देता है।

प्रगतिवादी युग में व्यक्तिगत निराशावाद या तो व्यक्तिगत आशावाद में परिणत हो जाता है या फिर व्यक्तिगत व्यथा, वेदना आदि निराशावादी प्रवृत्तियाँ समष्टिगत करुणा, सहानुभूति और संघर्ष में परिणत हो जाती हैं। निराशावाद की परिणति आशावाद में होने के परिणामस्वरूप कवियों के जीवन-दर्शन में भी परिवर्तन हो जाता है। प्रगतिवादी युग का कवि जगत् को मिथ्या और जीवन को त्याज्य सिद्ध नहीं करता। उसी प्रकार प्रकृति के अभावात्मक दृश्यों के स्थान पर कवि उल्लासमय दृश्यों का वर्णन करने लगते हैं और प्रणय-निराशा के स्थान पर प्रेम के संयोग पक्ष के गीत गाने लगते हैं। प्रगतिवादी कवि वर्तमान में कष्ट और अभाव देखता है, किन्तु भविष्य के प्रति वह आस्थावान है। उसके पास आत्म-विश्वास है एवं उसको जन-शक्ति की अजेयता में विश्वास है, अत उसे निराशावादी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत अध्याय में

इस युग-परिवर्तन की समीक्षा करके और निराशावाद की आशावाद में परिणति प्रदर्शित करके प्रतिपाद्य विषय का अनुशीलन समाप्त हो जाता है।

युग-परिवर्तन—

छायावादी युग के व्यक्तिगत निराशावाद का अन्त और एक आशावादी युग का निर्माण करने में दो शक्तियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। (१) छायावादी युग की निराशावादी प्रवृत्तियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया और (२) मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव। इन दो तत्वों का थोड़ा अनुशीलन कर लेने से युग-परिवर्तन की प्रक्रिया को सरलतापूर्वक समझा जा सकेगा।

(१) छायावादी युग की निराशावादी प्रवृत्तियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया—

छायावादी युग के व्यक्तिगत निराशावाद के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया का सम्यक् अनुशीलन करने के लिए हमें छायावादी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों पर पुनः एक दृष्टि डालनी पड़ेगी। छायावादी कवि ने मध्ययुग की भक्तिवादी दीनता-हीनता और द्विवेदी-युग की मर्यादावादिता के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का झंडा फहराया था। रीतिकालीन शृंगारिक भावना के स्थान पर उसने अशरीरी और सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को कल्पना की उन्मुक्त उड़ान और शैली की लाक्षणिकता के द्वारा मर्मस्पर्शी रूप से अभिव्यक्त करना प्रारम्भ किया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि छायावाद काव्य-क्षेत्र में मर्यादा, रूढ़ियों और स्थूल चित्रण के विरुद्ध एक विद्रोह की भावना लेकर आया था। किन्तु, व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण उसका विद्रोह असफल हुआ और काव्य-क्षेत्र में निराशा का वातावरण सघनतर होता गया। धीरे-धीरे विद्रोह की भावना क्षीण होती गई और आत्मपराजय, आत्मग्लानि एवं आत्मघात जैसी निष्क्रिय और निकृष्ट भावनाएँ प्रबल होती गईं। काव्य-क्षेत्र में ऐसी परिस्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकती थी। अतः छायावादी भाव-धारा को शीघ्र ही काव्य-क्षेत्र से तिरोहित होना पड़ा। इस तिरोधान के दो कारण प्रमुख थे। एक तो छायावादी युग केवल राष्ट्रीय पराभव का युग ही नहीं, राष्ट्रीय

जागर्त्ति का भी युग था। सन् १६३६ में राष्ट्रीय कांग्रेस ने मन्त्रि-मण्डलों से त्यागपत्र देकर साम्राज्यवाद से संघर्ष करने का कार्य-क्रम पुन अपनाया। देश के राजनीतिक वातावरण में पुन. उभार आया और इस उभार के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना जन-जागरण का रूप धारण करके पुन हुङ्कारने लगी। सघर्ष के युग में वेदना और पराजय के गीत किसे सुहाते? छायावादी भाव-धारा के तिरोधान होने का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि उसकी निकृष्ट भावुकता के विरुद्ध सामाजिक चेतना स्वयं विद्रोह करने लगी थी। इस विद्रोह का आभास देने के लिए एक-दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

१—उच्छ्वासों की खटोलिया पर सोती है मधुपीड़ा मूक।
आलिङ्गन की दुःखदायिनी घड़ियों में लगती है कूक।
अरी वेदने! आली आज करदे अब दिल के दो टूक।
मैं न रहूंगी, कौन लिखेगा, टूटी हृतन्त्री की हूक।

× × ×

मधुपीड़ा हो या मधुमूर्च्छा स्पन्दन हो या हो अविपाक।
हृतन्त्री का 'पञ्चर' हो या 'फेन्सी' हो या हो अभिशाप।
हिचकी हो या हों उच्छ्वासें, नीरवता हो, फालिज हो।
क्यों न एक छायाखोरों का अलग मेडिकल कालिज हो।[1]

—पं० जगन्नारायण शर्मा 'कविपुष्कर'

२—इसलिए चलो अब पाठक! उस नग्न नृत्यशाला में।
जिसमें अनन्त के आशिक हों झूम रहे हाला में॥
अपनी अदृश्य माशूका पर मूक वेदना वाले।
नीरव गानों की तानें लेते हों जहां निराले।

× × ×

जिस जगह स्फुरित हो जीवन हृतन्त्री की क्रीड़ा का।
रति-पति के हाथ निधन हो, हो रोग मूक पीड़ा का।

× × ×

जिस जगह बिना आयू के हो व्यर्थ दुःखमय जीना।
हो सुधाबिन्दु से बढ़कर विष के प्याले का पीना।[2]

—ज्वालाराम नागर 'विलक्षण'

१—ठहर तो नानी!!!—पृ० ७०-७२।
२—छायापथ—पृ० २५, २६, ३३ और ५७।

दोनों उद्धरणों में छायावादी भावुकता और निराशावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों के विरुद्ध जो व्यग्य और घृणा व्यक्त की गई है, वह उस विद्रोह का आभास देती है जो छायावाद की निकृष्ट भावनाओ के प्रति सामाजिक चेतना स्वय करने लगी थी। विद्रोह इतना तीव्र था कि वेदना और निराशावादियों का काव्य-क्षेत्र में अधिक दिनों तक टिक सकना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि निराशावादी और वेदनावादी कवियों की हिन्दी-काव्य में जो बाढ़ आ रही थी, वह रुक गई। सन् १९३९–४० ई० के पश्चात् जिन प्रतिभाशाली युवक कवियो ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया है, वे प्राय वेदनावादी और निराशावादी न होकर सघर्षवादी हैं। उनके गीतों मे यदि व्यथा, वेदना और अभावो की अभिव्यक्ति हुई है अथवा हो रही है तो वह व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत है। आज का युवक कवि समाज के अभाव और कष्टो का वर्णन करके ही मौन नही रह जाता, अपितु अभावो की पूर्ति और कष्टो की निवृत्ति का आशावादी सन्देश भी देता है। अस्तु। युवक कवियो की मनोवृत्ति के परिवर्तन में उस प्रतिक्रिया का महत्वपूर्ण हाथ है जो छायावादी गीतो की वेदना और निराशा के विरुद्ध स्वयमेव उत्पन्न होने लगी थी।

(२) मार्क्सवादी विचारो का प्रभाव—

व्यक्तिगत व्यथा, वेदना आदि निराशावादी और निष्क्रिय प्रवृत्तियो को समष्टिगत सघर्ष की ओर मोड़ने मे मार्क्सवादी विचारो का पर्याप्त हाथ था। वस्तुत छायावादी युग की भावुकता और निराशा के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही थी, मार्क्सवादी साहित्यकारो ने उसे सगठित किया और राष्ट्रीय असतोष को उद्दीप्त करके एक जनवादी मोर्चा बनाया। मार्क्सवादी विचारो की अभिव्यक्ति ही हिन्दी-साहित्य मे प्रगतिवाद कहलाई। आज साहित्यकारो मे प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्दो की व्याख्या के विषय में मतभेद है। किन्तु, सामान्यत प्रगतिवादी साहित्य से उसी साहित्य का बोध होता है जो कम्युनिज्म के सिद्धान्तो को मूलरूप मे स्वीकार करता है। प्रगतिवादी शब्द का प्रयोग यदि मार्क्सवाद के अर्थ मे स्वीकार कर लिया जाय तो यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उसके दर्शन या भाव-सामग्री ने निराशावाद को किसी भी रूप मे कोई स्थान नहीं है और आधुनिक हिन्दी-कवियो

ने मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण करके जैसे ही काव्य-रचना प्रारम्भ की वैसे ही उनके गीतों में निराशावादी भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वयं समाप्त हो गई। हिन्दी-साहित्य पर इस प्रभाव को भली भाँति समझने के लिए हमें थोड़े विस्तार के साथ मार्क्सवादी दर्शन पर विचार करना पड़ेगा।

मार्क्सवादी दर्शन—

मार्क्सवादी दर्शन भौतिक (जड़) दर्शन है, जिसमें अध्यात्मवाद को कोई स्थान नहीं। मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। हेगेल इस विश्व को द्वन्द्वात्मक रूप से विकसित और विज्ञानमय मानता था। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का विचार हेगेल से लिया, विकासवाद को भी स्वीकार किया किन्तु वह विज्ञान (मन, चेतन सत्ता अथवा आत्मा) को भौतिक तत्वों से निरपेक्ष कोई सत्ता नहीं मानता। मार्क्स के विचार से भूतों के गुणात्मक परिवर्तन (Qualilative change) के द्वारा ही चेतन सत्ता उत्पन्न होती है, जिसे न तो जड़ ही कहा जा सकता है और न जड़ से सर्वथा भिन्न कोई निरपेक्ष तत्व ही—जैसे वर्फ न तो जल है और न जल से पृथक् कोई अन्य वस्तु। द्वन्द्वात्मक विकास का अर्थ है विरोध और विरोध-निषेध के द्वारा विकास होना। मार्क्स के विचार से विश्व की गति-विधि का सचालन किसी चेतन सत्ता के द्वारा नहीं होता। भौतिक तत्वों में कुछ असगतियाँ स्वत विद्यमान रहती हैं जो सक्रिय होकर सृष्टि में विकास उपस्थित करती है। मार्क्स का विकासवाद एक आशावादी विचार है, जिसमें जगत् की क्षणिकता, अनित्यता, नश्वरता आदि निराशावादी भावनाओं को कोई स्थान नहीं है। प्रगतिवादी काव्य में हम नश्वरता आदि के आधार पर जगत् और जीवन का निषेध नहीं पाते।

मार्क्सवादी दर्शन में पूर्वनिश्चयवाद को भी, जिसे हिन्दी-कवियों ने 'नियतिवाद' का नाम दिया है, कोई स्थान नहीं है। १८ वीं शताब्दी के दार्शनिक यान्त्रिक भौतिकवाद में विश्वास करते थे। उनके विचार से चाभी लगी हुई घड़ी की भाँति सृष्टि की प्रत्येक घटना कार्य-कारण नियम में जकड़ी हुई है। कार्य-कारण नियम अविकल गति से एक वृत्ताकार रूप में कार्य करता है और सृष्टि का विकास

एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार वृत्ताकार रूप मे होता है। मानव-शक्ति इस कार्य-कारण नियम में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। मार्क्स का विचार था कि सृष्टि का विकास अविकल रूप से न होकर मेढक-कुदान की भाँति विच्छेदयुक्त प्रवाह के रूप में होता है। उसके विकास की गति-विधि पूर्वनिश्चित नही है, अपितु सर्वथा अनिश्चित है। मनुष्य भौतिक शक्तियो पर जितना अधिक अधिकार करता जायगा, वह उतना ही अधिक सृष्टि के विकास को मानव-हित के अनुकूल मोड़ता जायगा। भौतिक शक्तियों के द्वारा मानव-समाज के इतिहास का निर्माण नही होगा, अपितु भौतिक शक्तियों पर अधिकार करके मनुष्य स्वय अपने इतिहास का निर्माण करेगा। दर्शन और विज्ञान मार्क्सवादी विचार के लिए परस्पर विरोधी तत्व न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। मार्क्सवादी दर्शन का नाम ही वैज्ञानिक भौतिकवाद है। इस वैज्ञानिक भौतिकवाद में मनुष्य की विवशता और पराजय की किसी भी रूप में स्वीकृति नही है। भौतिकवादी जीवन-दर्शन भौतिक जीवन को सम्पन्न बनाना मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य और परम पुरुषार्थ मानता है।

मार्क्स का सामाजिक आदर्श—

मार्क्स जिस प्रकार जगत् का मूल आधार भौतिक तत्वों को मानता था उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास का आधार आर्थिक व्यवस्था—उत्पादन-शक्ति के अनुसार व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध—को मानता था। मनुष्य की राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि उसकी उत्पादन-शक्ति और अर्थ के वितरण के सम्बन्धो पर आश्रित हैं। वन्य-सभ्यता से लेकर नागरिक सभ्यता तक मनुष्य ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो कुछ उन्नति की है, जो उत्थान और पतन देखे हैं, उनके मूल में उसकी उत्पादिका शक्ति और वितरण के सम्बन्धो का इतिहास छिपा हुआ है। मार्क्स मानव-समाज के इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या करता है। समाजशास्त्र के प्रत्येक अग का आधार वह अर्थ को ही मानता है।

मार्क्स के अनुसार वर्त्तमान समाज मे जो दुःख, क्लेश, वैषम्य, असतोष आदि फैला हुआ है, उसका कारण है वस्तुओं के उत्पादन और

वितरण पर थोड़े से पूँजीपतियों का अधिकार। समाज आज दो वर्गों मे विभक्त है। एक है पूँजीपति वर्ग और दूसरा है सर्वहारा। समाज से यदि पूँजीपति-वर्ग का अस्तित्व नष्ट कर दिया जाय तो वर्त्तमान वैषम्य और तज्जनित दुख और क्लेश स्वयमेव नष्ट हो जावेंगे। पूँजीपति-वर्ग का विनाश वर्ग-क्रान्ति द्वारा सम्भव है, जिसके लिए वर्ग-चेतना उत्पन्न करना आवश्यक है। मार्क्स और गांधीवादी दर्शन में मौलिक अन्तर यही है कि वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए गांधीजी प्रेम, सत्य और अहिंसा के द्वारा पूँजीपतियों के हृदय-परिवर्तन मे विश्वास करते थे। किन्तु मार्क्स हृदय-परिवर्तन मे विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि से धनियों की दया-दाक्षिण्य सर्वहारा वर्ग के असतोष को दबाने का कुटिल उपाय है। मार्क्स साहित्य को वर्ग-चेतना उत्पन्न करने का उपयोगी साधन मानता था, इसलिए मार्क्सवाद दल-साहित्य (Party literature) को उत्पन्न करने मे विश्वास करता है।

मार्क्सवाद व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष स्वतःपूर्ण इकाई नहीं मानता। मनुष्य को समाज ही व्यक्तित्व प्रदान करता है, अतः वह समाज से निरपेक्ष अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। व्यक्ति के विचार, आदर्श और भाव सामाजिक वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। यदि सामाजिक परिस्थितियों मे परिवर्तन कर दिया जाय तो व्यक्ति के दृष्टिकोण और आचार-विचार मे स्वतः परिवर्तन हो जायगा। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य सामाजिक सुख और समृद्धि मे अपना योग देना है। सामाजिक समृद्धि मे योग देना उसकी व्यक्तिगत समृद्धि में अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होना है। मनुष्य अपनी संतति के रूप मे अमर है अतएव उसको अपने प्रयत्न और शक्ति के द्वारा समाज को अधिक-से-अधिक सम्पन्न बनाना चाहिए। समष्टि-कल्याण के लिए व्यष्टि का बलिदान मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का चरम आदर्श है।

हिन्दी-साहित्य में इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति प्रगतिवाद कहलाई, जिसका एक छोटा सा इतिहास है। सन् १९१८ ई० की रूसी क्रान्ति का द्विवेदी-युग के कवियों ने स्वागत

था।[1] भारत में मार्क्सवादी सिद्धान्तो का अनुयायी एक नस्ट दल सन् १६२७ मे स्थापित हुआ था जिसमें कुछ युवक ।लित थे। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल की स्थापना (१६३७ ई०) तक दल गैरकानूनी रहा और साहित्य को अधिक प्रभावित न कर

१—(अ) समदर्शी फिर 'साम्य' रूप धर जग में आया।
समता का सन्देश गया घर घर पहुँचाया॥
धनद रङ्क का ऊँच नीच का भेद मिटाया।
विचलित हो वैषम्य वहुत रोया चिल्लाया॥
काँटे बोये राह में फूल वही बनते गये।
साम्यवाद के स्नेह में सुजन सुधी सनते गये॥

× × ×

फैले हैं ये भाव नया युग लानेवाले,
घोर क्रान्तिकर उलट फेर करवानेवाले।
कलि में सतयुग सत्यरूप धर लानेवाले;
समता का सन्देश सप्रेम सुनानेवाले।
समता सरि की बाद में ऊँच नीच वह जायगा।
समतल जल की ही तरह एक रूप रह जायगा॥

—त्रिशूल

'साम्यवाद'—राष्ट्रीय मन्त्र (जनवरी, १६२१) पृ० १६, १८।

(आ) ईश्वर ने इस जग को रचकर सबको स्वत्व समान दिया,
नहीं किसी का अब तक उसने न्यूनाधिक सम्मान किया।
मुट्ठी बाँधे भेज सभी को हाथ पसारे बुलवाता,
और सभी को आदि-अन्त में धरा-सेज पर सुलवाता।
औरों के श्रम से धन पाकर चैन उड़ाना भाग्य नहीं,
यही स्वार्थ है, यही कपट है, यही अनय है, पाप यही।
दीनों को तुम बैल बनाकर निलज बने हो मनुज वृथा,
प्रथा यही क्या सदा रहेगी? रह जावेगी अयश-कथा।

× × ×

जहा आय से कर का लेना बढ़कर देखा जाता है,
साम्यवाद भी वहाँ प्रकट हो भीषण रूप दिखाता है।

—रामचरित उपा[illegible]

'साम्यवाद'—राष्ट्र-भारती, (१६२१ ई०) पृ० ३६, ३७ और ४

सका। फिर भी पंत और निराला आदि कवि मार्क्सवादी विचारों से अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होते रहे। सन् १९३० ई० के पश्चात् लिखे हुए गीतों में प्रगतिवादी विचारों की हम क्षीण किन्तु स्पष्ट अभिव्यक्ति पाते हैं।[1]

हिन्दी-साहित्य में मार्क्सवादी विचारों का प्रचार करने में भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ का प्रमुख हाथ रहा है। प्रगतिशील लेखक-संघ[2] की स्थापना सन् १९३५ ई० के नवम्बर की शाम को इङ्गलैण्ड की गावरस्ट्रीट के नानकिंग रेस्तारां में हुई थी। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी, जिसके मूल प्रवर्तकों में भारतीय विद्यार्थी मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर सम्मिलित थे। भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ का प्रथम अधिवेशन १९३६ ई० में लखनऊ में मु० प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुआ और दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में।

प्रगतिवादी विचार धीरे-धीरे साहित्य के विभिन्न अङ्गों—उपन्यास, कहानी, काव्य, आलोचना आदि—को प्रभावित करने लगे और छायावादी युग में फैली हुई वेदना, निराशा और निष्क्रियता पर संघर्ष और आशावादिता की भावनाएँ अधिकार करने लगीं। 'युग-वाणी' (१९४० ई०) में पंत जी ने लिखा—

१—(क) जग पीड़ित है अति-दुख से, जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव जग में बँट जावे, दुख सुख से औ' सुख दुख से।

—सुमित्रानन्दन पंत

आधुनिक कवि पृ० ५० 'सुख-दुख' (१९३२ ई०)

(ख) द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र! हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत, तुम वीतराग, जड़ पुराचीन॥

× × ×

मंजरित विश्व में यौवन के जगकर जग की पिक, मतवाली,
निज अमर प्रणय स्वर-मदिरा से भरदे फिर नव-युग की प्याली।

—'पतझर' (फरवरी, १९३४)।

—आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत पृ० ६२

२—प्रगतिशील लेखक-संघ के इतिहास के लिए देखिए—

तारिक-सन्देश, फरवरी, १९४० ई०।

कहता भौतिक वाद, वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण :—
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर दर्पण।
स्थूल, सत्य, आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।
राष्ट्र-वर्ग, आदर्श, धर्मगत रीति-नीति औ' दर्शन,
स्वर्णपाश हैं, मुक्ति-योजना सामूहिक जन-जीवन।
दर्शन-युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का सघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।

× × ×

नवोद्भूत इतिहास भूत सक्रिय, सकरण, जड़-चेतन
द्वन्द्व तर्क से अभिव्यक्ति पाता युग-युग में नूतन
ग्रस्त आज साम्राज्यवाद धनपति-वर्गों का शासन
प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन।
साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।[1]

पत जी ने उक्त गीत मे मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तो को सूत्र-रूप से व्यक्त कर दिया है। मार्क्सवाद ने प्राचीन सभ्यता और सस्कृति को पूँजीवादी सभ्यता-सस्कृति कहकर तिरस्कृत किया था। मानव-समाज को वर्गों, जातियो और धर्मों में विभक्त करनेवाली सभ्यता और उस सभ्यता के द्वारा प्रतिष्ठित कहलानेवाले धार्मिक, उपदेशक, आदि मार्क्सवादी दृष्टि से लोक-प्रतारक और कुत्सित हैं। साहित्य में 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' का नारा जन-विरोधी नारा है। पूँजीवादी सभ्यता का विनाश निश्चित है। इस प्रकार के विचार पत जी ने 'युग-वाणी' मे स्थान-स्थान पर व्यक्त किए हैं।[2] साम्यवाद वर्ग-सघर्ष के द्वारा वर्गहीन समाज की व्यवस्था का पक्षपाती है।

१—'भूत-दर्शन', युगवाणी, पृ० ६८।

२— मूल्यांकन

आज सत्य, शिव, सुन्दर, करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ' सस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
सस्कृति, कला, सदाचारों से भव-मानवता पीड़ित,
स्वर्ण-पींजड़े में है बन्दी मानव-आत्मा निश्चित।
आज असुन्दर लगते सुन्दर प्रिय पीड़ित, शोषित जन,

वर्ग-संघर्ष की चेतना जागरित करने के लिए पूँजीपतियों के प्रति अशुभ दृष्टि और श्रमजीवियों के प्रति सहानुभूति रखना साम्यवादी विचारों की पहली शर्त है, जिसका प्रचार हम 'युग-वाणी' में पाते हैं।[1] पंत जी कवि-समाज से नव-युग के गीत गाने का आग्रह करते हैं।[2] और कवि की 'युग-वाणी' नव युग की वाणी प्रमाणित होती है। देश

जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख हरता मन।
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित, दूषित ही भू के उपकारक,
धार्मिक, उपदेशक, पंडित, दानी हैं लोक-प्रतारक।
धर्म-नीति औ' सदाचार का मूल्यांकन है जन-हित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण-सम्बन्धित।
आज स-य, शिव, सुन्दर केवल वर्गों में हैं सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति का होना अधोमूल है निश्चित।

युगवाणी, पृ० ३५।

१— धनपति

वे नृशंस हैं! वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।
नहीं जिन्हें करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अन्त अपरिचित।
शय्या की क्रीड़ा कन्दुक है जिनको नारी,
अहमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी।
सुरागना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नर पशु वे! भू भार! मनुजता जिनसे लज्जित।
दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत।
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अन्तिम हैं उनके क्षण।

युगवाणी, पृ० ४२।

२— कवि! ....

कवि, नव युग की चुन भाव-राशि, नव छन्द, आभरण, रस-विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के जाग्रत भावों के गीत यान?

युगवाणी, पृ० ४३।

ने-कोने में सघर्ष की आवाज गूँजने लगी। मार्क्सवादी विचारों वक कवि विशेष रूप से प्रभावित हुए और हिन्दी-काव्य में वेदना जो आँधी उठ रही थी वह सघर्ष के रूप में परिणित हो गई।

मार्क्सवादी विचारो ने सन् १६४० ई० तक छायावादी भावुकता ोर निराशावाद को काव्य-क्षेत्र से अपदस्थ कर दिया था। बच्चन, नरेन्द्र, गिरिजाकुमार माथुर, तारा पाण्डेय आदि सभी कवियो ने उक्त समय के पश्चात् व्यक्तिगत निराशावाद का परित्याग कर दिया। नरेन्द्र ने 'प्रवासी के गीत' (१६३६ ई०) की भूमिका में अपने ही गीतो को क्षय ग्रस्त मानसिक अवस्थावाले युवक कवि के गीत कहा और बच्चन ने 'आकुल अन्तर' (१६४०-४२ ई०) में अपने एकाकी रुदन को नारीपन कहके अपने मन से 'जीवन का नया पृष्ठ बदलने' का आग्रह किया। नरेन्द्र और बच्चन जैसे निराशावादियों के हृदय और दृष्टिकोण के परिवर्तन को हम युगान्त अथवा युगारम्भ का विन्दु मानकर प्रगतिवादी युग का आरम्भ सन् १६४० से मान सकते हैं।

कतिपय उद्धरणो के आधार पर (क) व्यक्तिगत निराशावाद की समष्टिगत संघर्ष में परिणति और (ख) व्यक्तिगत निराशावाद की व्यक्तिगत आशावाद में परिणति प्रदर्शित करने के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्त निराशावाद का अनुशीलन हम समाप्त करेंगे।

(क) व्यक्तिगत निराशावाद की समष्टिगत संघर्ष में परिणति—

सन् १६३६-४० ई० से प्रगतिवादी विचार-धारा के प्रभाव ने व्यक्ति वादी प्रवृत्तियों को समष्टिवादी भावनाओं की ओर मोड़ दिया था कवि अपनी व्यक्तिगत व्यथा-वेदना को विश्व के कष्टो पर निछा करने के लिए उद्यत हो उठे थे। परम निराशावादी और नित एकाकी बच्चन अपने ही हृदय को सम्बोधित करके लिखते हैं—

तू एकाकी तो गुनहगार।
अपने प्रति होकर दयावान
तू करता अपना अश्रु पान,

जब खड़ा माँगता दग्ध विश्व
तेरे नयनों की सजल धार।[1]

'आकुल अन्तर' (१६४२ ई०) मे कवि अपने 'नयनो की सजल धार' (समवेदना) को विश्व के प्रति अर्पित कर देता है। वह व्यक्तिगत अभाव और पीड़ा के गीत नही गाता। वह निश्चय कर लेता है कि अबसे उसकी हृत्तन्त्री से जगत् का चीत्कार ही निकलेगा।[2] उसकी वाणी में अब केवल रुदन ही नहीं होगा; अपितु मानव के प्रति किए गए अत्याचारो का शोध करने की भीषण ज्वाला भी समाहित होगी—

वेदना जगा
जो जले मगर जिसकी ज्वाला
प्रज्वलित करे ऐसा विरोध,
जो मानव के प्रति किए गए
अत्याचारों का करे शोध।[3]

अत्याचारो का प्रतिशोध लेने की भावना को मार्क्सवादी विचार-धारा ने उद्दीप्त किया था। इधर राष्ट्रीय चेतना भी साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने जारही थी। राष्ट्रीय कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलो से त्यागपत्र देकर संघर्ष के लिए प्रस्तुत थी। कविगण संघर्ष की आवाज बुलन्द करने लगे थे। श्री पुरुषोत्तम विजय साम्राज्यवाद से मोर्चा लेने के लिए प्रस्थान करते हुए गाते हैं—

१—आकुल अन्तर (१६४०–४२) गीत-संख्या ७०, पृ० १०८।

२— बजा तू वीणा और प्रकार।
कल तक तेरा स्वर एकाकी,
मौन पड़ी थी दुनिया बाकी,
तेरे अन्तर की प्रतिध्वनि थी तारों की झनकार!
× × ×
क्या कर की वीणा धर देगा,
या नूतन स्वर से भर देगा,
जिसमें होगा एक राग तेरा, जग का चीत्कार!
बजा तू वीणा और प्रकार।
आकुल अंतर (१६४०–४२ ई०) गीत-संख्या ६७, पृ० १०४।

३—आकुल अन्तर (१६४०–४२ ई०) गीत-संख्या ५७, पृ० ८६।

आज नाश की घिरी घटाएँ
आज देश पर संकट छाया
हुई पुकार वीर मर्दों की,
मुझे निमन्त्रण रण का आया
× × ×
कब्र खोदकर मैं दफना दूँ
पूँजीशाही———शाहंशाही
प्रजातन्त्र करदूँ स्थापित,
हो जनता की दूर तबाही।[1]

इसी प्रकार बालेश्वर गुप्त ने साम्राज्य को चेतावनी दी—

पीड़ित आहुति चढ़ा चुके
अब जल्लादों की बारी है;
नृप सभलें, साम्राज्य सजग हों,
जगी क्रान्ति चिनगारी है।[2]

हरिकृष्ण 'प्रेमी' अपनी 'प्रेयसी' से भी हाथ में तलवार उठाने का आग्रह करने लगे—

तुम भी प्रेयसि वीणा छोड़ो, हाथों में तलवार उठाओ,
तारों की झंकार नहीं अब खड्गे की खनकार सुनाओ।[3]

श्री वैजनाथ प्रसाद सिनहा 'विस्मृत' ने क्रान्ति की 'आहट' सुनकर रण-क्षेत्र को प्रस्थान कर दिया—

मैं चला अनय के अजय दुर्ग
को जड़ से खोद गिरा देने
मैं चला सत्य की ध्वजा आज
अवनीतल पर फहरा देने!
× × ×

१—'रण-प्रयाण', अगारा (१९४१ ई०) पृ० १०१ और १११।
नोट—गीत के अन्त मे कवि ने लिखा है—"सत्याग्रह-सग्राम में हरद (मध्यप्रान्त) से पैदल दिल्ली पहुँच कर लिखी गई कविता—१ दिसम्बर, १९४०।"
२—'क्रान्ति-गीत' (सुधा, मार्च, १९४०)।
३—'नव-निर्माण'—अग्निगान।

मैं चला आज जग को देने
अपने बल का सच्चा परिचय
करने बेकस का त्राण चला मैं
मेरी होगी जय निश्चय ![1]

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी शोषित मानव-हृदय की 'धूमिल आग' जगाने के लिए 'जागरण गीत' गाने लगे—

जग रे जीवन के राग जाग, प्राणों की धूमिल आग जाग।
जो गिरते-गिरते उठ न सके
जो रोते-रोते हँस न सके
उन मरणशील इतिहासों के
उपवन के सुमन पराग जाग।
जग रे जीवन के राग जाग, प्राणों की धूमिल आग जाग।
अन्तः निसृत निःश्वासों में
अपमान भरे उपहासों में
जिनका अणु-अणु होगया भस्म
उनके संस्मरण विहाग जाग।
जग रे जीवन के राग जाग, प्राणों की धूमिल आग जाग।
पीड़ित जन की परवशता में
शोषितदल की दुर्बलता में
जो चिनगारियाँ सुप्त पड़ीं
उनकी लपटों के नाग जाग।
जग रे जीवन के राग जाग, प्राणों की धूमिल आग जाग।[2]

राष्ट्रीयताभिमानी कवि श्यामनरायण पाण्डेय ने युवकों को उत्तेजित किया—

वार पर वार हो रहा है दम्भियों का किन्तु।
एक ही लपेट में कलेजा दहला दो तुम॥
चाहो तो उखाड़ दो उभाड़ दो रसातल को।
सिंह-सी दहाड़ से पहाड़ को हिलादो तुम॥

१—'आहट'—आहट (१९४१ ई०) पृ० १३-१४।
२—'जागरण-गीत', ओस की बूँद, पृ० १।

घर के दबा दो महीधर चरक उठे।
दर से गिरीश की दरक उठे त्रिकुटी॥
लरक उठे भूमि खमण्डल खरक उठे।
युवक तुम्हारी जो फरक उठे भृकुटी॥

खून पर खून देख क्यों न खौल उठे खून।
चाटका चला के चटके-से चढ़ते चलो॥
साहस बढ़ाके भौंह सिंह-सी चढ़ा के सदा।
युवक हमारे तुम आगे बढ़ते चलो॥[1]

उक्त प्रकार के संघर्ष और क्रान्ति की सूचना देनेवाले गीत सन् १६३६ से १६४२ ई० तक की पत्रिकाओं में भरे पड़े हैं। जिस समय सम्पूर्ण देश क्रान्ति की तैयारी कर रहा हो, उस समय कोई भी जागरूक कवि अपनी व्यथा वेदना में लीन नहीं रह सकता था। संघर्ष का शंखनाद सुनकर निराशावादी कवि बच्चन मानो अपनी चिता पर से ही आवाज लगाने लगे—

उठ समय से मोर्चा ले।
देखता कोई नहीं है
निर्बलों की यह निशानी,
लोचनों के बीच आँसू औ' पगों के बीच छाले!
धूलि धूसर वस्त्र मानव—
देह पर फबते नहीं है,
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रँगाले।
उठ समय से मोर्चा ले।[2]

गिरिजाकुमार माथुर कुछ समय पहले गारहे थे—'हम जीवित हैं मरने भर को'[3] और क्रान्ति की आवाज सुनकर अब गाने लगते हैं—

मैं अचल अनत, अजेय हूँ,
नीला शिखर इवरेस्ट का,[4]

१—आरती, पृ० ७७-७८।
२—आकुल अंतर (१६४०-४२) गीत-संख्या ६२, पृ० ६६।
३—नाश और निर्माण, गीत-संख्या १४, पृ० २७।
४—नाश और निर्माण, गीत-संख्या ५३, पृ० १२४।

इतने उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सन् १६४० के पश्चात् एक नवीन-युग का निर्माण हो जाता है, जिसमें निराशा, वेदना और आत्म-पराजय को कोई स्थान नहीं था। कवियों की व्यक्तिगत वेदना समष्टिगत समवेदना बन गई थी और समष्टिगत समवेदना क्रान्ति की कामना प्रकट करने लगी थी।

इस प्रसग मे एक बात और उल्लेखनीय है। द्विवेदी और छायावादी युगो की समवेदना दुखियो के प्रति केवल सहानुभूति प्रकट करके मौन हो जाती थी जबकि प्रगतिवादी युग की समवेदना रोष और प्रतिशोध की प्रेरणा भी देती है। जैसे कवि 'करुण' का 'मजदूर' अपने ऊपर होने वाले अत्याचारो को वर्णन करने के साथ-साथ अत्याचारी को उलट देने का साहस भी प्रकट करता है—

वे मेरी आशा कुचल हाय ले गए सदा ही कौर छीन,
मेरे क्रन्दन से मिला हँसे अपनी वीणा के स्वर महीन।
वे करते मुझ पर वार रहे, मैं करता हाहाकार रहा,
मै भीख दया की माँग मग, रोया गाया बेजार रहा।

× × ×

अब उलट पलट दूँगा समाज, अपने अपार बलिदानों से,
अब और न माँगूगा भिक्षा, गिड़गिड़ा कभी धनवानों से।[1]

द्विवेदी-युग का अछूत या किसान इस प्रकार की बात सवर्ण हिन्दू या जमीन्दार से कभी नहीं कह सकता था। वह भगवान को अपना दुखड़ा सुना कर अथवा हाय-हाय करके मौन रह जाता था। द्विवेदी-युग का कवि अछूत या किसान के मन मे प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना नहीं भरना चाहता था। उसका उद्देश्य शान्तिमय उपायो के द्वारा समाज मे सुधार करना था जब कि प्रगतिवादी कवि अपने किसान और मजदूरो मे पूँजीपति-वर्ग के प्रति घृणा की भावना भरना चाहता है। शोषित वर्ग मे प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना को उद्दीप्त करके सशस्त्र क्रान्ति कराने की तैयारी करना प्रगतिवादी कवियो की नीति है। अत प्रगतिवादी युग का

१—'मजदूर'—वनधा (१६४२ ई०)।

समवेदनात्मक काव्य अमर्ष, उत्साह और आत्म-विश्वास की भावनाओं से ओत-प्रोत है।

संघर्षवादी होने के नाते प्रगतिवादी कवि को निराशावादी नहीं माना जा सकता। संघर्ष करने का उत्साह व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो ही नहीं सकता जब तक कि उसको अपने संघर्ष की सफलता में विश्वास न हो। प्रगतिवादी कवि को जनता की—मजदूर और किसानों की—संगठित शक्ति की अजेयता में विश्वास है, तभी वह वर्ग-संघर्ष की भावना उद्दीप्त करता है। वह आज के पराभव के पश्चात् कल का उत्थान देखता है। प्रगतिवादी कवि देखता है कि आज पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था जल रही है, उसी की राख की ढेरी से एक नवीन मानवता जन्म लेगी। इसी आशावादिता के साथ वह संघर्ष के गीत गाता है। वर्तमान पराभव में भविष्य की आशा का समावेश प्रगतिवादी काव्य की अपनी विशेषता है। जैसे—

१— आज कवि का मूक क्यों स्वर ?
कर रहा चीत्कार जब संसार सारा नष्ट होकर,
× × ×
इस महा संक्रान्ति में असहायता का चीर तम-बल
क्या न जीवन का उठेगा उल्लसित विजयी महाबल ?[1]

—अंचल

२— जल रहा है आज मानव ?
पाप-ज्वाला में जला जाता घृणित इतिहास लेकर,
आत्मघातक जीर्ण मानव विश्व-भक्षक प्यास लेकर,
क्या प्रलय के बाद के युग को मिलेगा मनुज अभिनव ?[2]

—मिलिन्द

दोनों गीत संघर्ष अथवा विनाश के पश्चात् नवीन मानवता के उत्थान की आशावादी सम्भावना व्यक्त करते हैं। गीतों की अन्तिम पंक्तियों को यदि निकाल दिया जाय तो शेष पंक्तियाँ केवल निराशावादी भावना व्यक्त करेंगी। वर्तमान में पराभव व्यक्त करने

१—'आज कवि का मूक क्यों स्वर ?' (सरस्वती, फरवरी, १९४२)।
२—'मानव की चिता पर', नवयुग के गान, (१९४२ ई०) पृ० ९६।

के पश्चात् भविष्य के उत्थान की ओर संकेत कर देने से अंचल और मिलिन्द के गीत आशावाद अथवा आशोन्मुख निराशावाद की श्रेणी में सन्निहित किए जायँगे। यह आशावादिता ही प्रगतिवादी काव्य को छायावादी काव्य-धारा से पृथक् कर देती है। सन् १९४२ के युद्ध के वातावरण में लिखे जाने के कारण गीतों में कवियों के उद्‌गार स्वाभाविक-से प्रतीत होते हैं; हम उन्हें केवल आवेश अथवा कल्पना की उड़ान नहीं कह सकते। अस्तु।

सन् १९४०-४२ ई० तक आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा में पुनः एक युगान्तर उपस्थित हो जाता है। हम इस नवयुग का सूत्रपात सन् १९३५-३६ में ही पाते हैं, किन्तु छायावादी युग की निराशावादी प्रवृत्तियों—व्यक्तिगत वेदना, निराशा, पराजय, आत्म-ग्लानि, आत्म-संदेह, मृत्युकामना आदि—का काव्य क्षेत्र से तिरोभाव सन् १९४० के पश्चात् ही होता है। इसी समय से समष्टिवादी भावनाएँ, संघर्ष और आशावादिता काव्य-धारा पर प्रभाव पूर्ण अधिकार जमाती है। इसलिए छायावादी युग का अन्त और प्रगतिवादी युग का प्रारम्भ सन् १९४० के पूर्व या पश्चात् नहीं माना जाना चाहिए।

(ख) व्यक्तिगत निराशावाद की व्यक्तिगत आशावाद में परिणति—

छायावादी युग जिस प्रकार व्यक्तिवादी गीतों का युग था प्रगतिवादी युग समष्टिवादी गीतों का युग है, इसलिए व्यक्तिगत आशावादी गीतों की अभिव्यक्ति उसमें अधिक नहीं मिलती। किन्तु, आज के युग में जितने भी व्यक्तिवादी गीत लिखे जा रहे हैं, उनकी भाव-धारा आशावाद की ओर प्रवाहित हो रही है। हृदय में आशावाद का सचार होते ही कवियों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो जाता है। सन् १९४० के पश्चात् प्रणय-गीत, प्रकृति-चित्रण और जीवन एवं जगत् के प्रति कवियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया है। व्यक्तिगत आशावाद की अभिव्यक्ति की ओर संकेत करने के लिए (क) प्रणय-गीत, (ख) प्रकृति-चित्रण और (ग) जीवन-दर्शन के माध्यम से व्यक्त आशावादिता का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

(क) प्रणय-गीत—

प्रणय-व्यापार सर्वथा व्यक्तिगत परिस्थिति है। उसकी आशा-निराशा से भौतिक-परिस्थितियो का सम्बन्ध बहुत थोड़ा है। आज के युग में भी, जिसे हम प्रगतिवादी युग कहते हैं, प्रणय-निराशा के गीत लिखे और पढ़े जा रहे हैं, किन्तु प्रणय-व्यापार की असफलता पर जो पश्चात्ताप छायावादी कवियो ने व्यक्त किया था वह आज के गीतों में नही मिलता। प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ में प्रणय की असफलता या तो सफलता में परिणत होगई है या फिर कवियों का हृदय प्रणय-निराशा के विषाद को जीत चुका है। छायावादी युग में प्रणय की असफलता पर पश्चात्ताप करनेवाले एव 'हम जीवित हैं मरने भरको' की घोषणा करनेवाले गिरिजाकुमार माथुर अब प्रणय की असफलता के विषाद से ऊँचे उठ चुके हैं। उनके हृदय के किसी कोने से साहस और वल का सचार होने लगा है। प्रणय-रुदन उनके लिए अब जीवन-इतिहास के विगत युग की बातें हैं—

आज अपरिचित वल आया है,
जीवन भर की थकी हुई मेरी बाँहों में,
फिर से नई चमक दौड़ी है,
हारे हुए सिपाही की नीची आँखों में,
याद नहीं आते पिछले निशान आँसू के,
टूटे सपनों की सुधि भी अब छूट चुकी है,
उन रगीन मिलन, उदास बिछुड़न की बातें,
जीवन के इतिहासों से भी दूर हुई हैं।[1]

प्रणय की असफलता पर विवशतापूर्ण सतोप कर लेना एक बात है, जिसे हम आशावाद नही मान सकते, किन्तु निराशावादी मन स्थिति पर अधिकार करके जीवन मे एक शक्ति का अनुभव करना निस्सन्देह एक आशावादी मनोदशा है। यह नवीन शक्ति प्रगतिवादी आदर्शों के द्वारा ही आई है। सन् १९४० ई० के पश्चात् लिखे गए गीतों में कवि पर प्रगतिवादी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने गीतों के सग्रह को उसने 'नाश और निर्माण' का नाम दिया है। पहला खण्ड 'नाश' का है जो सन् १९४० ई० तक लिखा गया है, वह

१—नाश और निर्माण, गीत-सख्या, २१, पृ० ४५।

निराशावादी है। दूसरा खण्ड 'निर्माण' का है, जो सन् १६४० के पश्चात् लिखा गया है, वह आशावादी है।

सन् १६४० के पश्चात् नरेन्द्र शर्मा भी प्रणय-निराशा के कारण अपने आपको 'मरघट का पीपल तरु' नहीं मानते, अपितु प्रणय के संयोग-पक्ष के गीत गाने लगते हैं। जैसे—

खुली हवा है, खिली धूप है,
दुनिया कितनी सुन्दर रानी,
आओ सारस की जोड़ी से,
निकल चलें हम दोनों प्राणी।[1]

बच्चन जैसा निराशावादी कवि भी अब आशावाद के गीत गाता है। 'निशा-निमन्त्रण' (१६३७-३८ ई०) का जैसे एक भी गीत आशावादी नहीं था उसी प्रकार 'सतरंगिनी' (१६४२-४४ ई०) का एक भी गीत निराशावादी नहीं है। 'आकुल-अन्तर' (१६४०-४२) में कवि ने व्यक्तिगत वेदना को समष्टिगत समवेदना पर निछावर करने का संकल्प किया था। किन्तु उसका अन्तःकरण 'आकुल' ही था। 'सतरंगिनी' के रचना-काल तक उसकी व्याकुलता शान्त हो जाती है। मनःस्थिति संतुलित हो जाती है और दृष्टिकोण आशावादी हो जाता है। 'सतरंगिनी' (१६४२ ई०) तक बच्चन के उजड़े हुए 'नीड़ का पुनर्निर्माण' भी हो जाता है। कवि अब प्रणय को 'मानव-जीवन की लाचारी' नहीं मानता। प्रेम के विषय में अब उसका विचार है—

भूल नहीं शूल नहीं चिन्ता का मूल नहीं
पाप नहीं शाप नहीं संकट संताप नहीं,
जाल नहीं जाल नहीं दुर्दिन की नाल नहीं,

प्रेम अजर प्रेम अमर जो कुछ भी सुन्दरतर,
जगती में जीवन में लाता है मंथन कर,
मंथन से सिहर-सिहर उठते हैं नारी नर।[2]

प्रेम की यह पूर्ण आशावादी व्याख्या है। 'सतरंगिनी' (१६४२-४४ ई०)

१—'खुली हवा' (सरस्वती, अप्रैल, १६४०)।
२—'प्रेम'—सतरंगिनी, (१६४२-४४) प्रथम-खण्ड, पृ० ५०।

और 'मिलन-यामिनी' (१९४५-४९ ई०) के सभी गीत प्रणय के आशावादी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं। छायावादी युग मे प्रणय-निराशा व्यक्तिगत निराशावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी जो प्रगतिवादी युग में प्राय आशावाद मे परिणत हो जाती है।

(ख) प्रकृति-चित्रण—

छायावादी युग में निराशावादी कवियों ने अपनी विषादपूर्ण परिस्थितियों से पलायन करके प्रकृति-सेवन में एक प्रकार की सान्त्वना पाई थी। प्रगतिवादी कवि सघर्पवादी है। वह जीवन-क्षेत्र से पलायन करके प्रकृति की सुखद गोद मे विश्राम पाने के लिए नही जाता। फिर प्रकृति-सेवन एक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है, प्रगतिवादी कवि व्यक्तिवादी नही है, इसलिए भी वह प्रकृति में विशेप अनुराग नही दिखलाता। इस प्रकार के अनेक कारणों से छायावादी गीतों जैसा भावपूर्ण प्रकृति-चित्रण प्रगतिवादी युग के काव्य में नही मिलता।

छायावादी कवियों ने अपनी व्यक्तिगत निराशा की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से की थी। प्रगतिवादी युग में जिन कवियो ने अपनी आशावादी मन स्थिति को वाणी दी है उन्होंने प्रकृति के उज्ज्वल पक्ष का ही चित्रण किया है। जैसे—

तूने देखी दुनिया जिसपर उतरी ऊपा की लाली,
तूने देखी दुनिया जिसपर बिखरी किरणों की जाली,
किन्तु कभी क्या तूने देखा, जगती का सस्मित आनन।
इन्द्रधनुप की छाया में ?[1]

'इन्द्र-धनुप की छाया में' जगती के 'सस्मित आनन' को निरखने का अभिप्राय है कि कवि के जीवन मे आनन्द और उल्लास स्वत उमड़ा पड रहा है। निराश हृदय को इन्द्र-धनुप की छाया मे जगती का प्रसन्न आनन इतना आनन्द कभी प्रदान नही कर सकता था। 'सतरंगिनी' के रचना-काल में बच्चन की मनोदशा आशावादी रहती है तो उनका हृदय 'वर्पा-समीर' से आनन्दित हो उठता है, 'पपीहा' और कोकिल' की मधुर कूक सुनकर हर्प से उछल पड़ता है। कवि का हर्पोन्मत्त हृदय मयूरी के नृत्य के साथ जैसे स्वय नाच उठता हो—

१—'इन्द्रधनुप की छाया मे'—सतरंगिनी (१९४२-४४) प्रथम खण्ड, पृ० ३-४।

मयूरी,
नाच मगन मन नाच !
गगन में सावन घन छाए, न क्यों सुधि साजन की आए,
मयूरी आँगन-आँगन नाच !

× × ×

निछावर इन्द्रधनुष तुझ पर, निछावर प्रकृति पुरुष तुझ पर,
मयूरी, उन्मन-उन्मन नाच ! मयूरी, छूम-छनाछन नाच ![1]

प्रकृति का यह उल्लासमय चित्रण कवि की आशावादी मन स्थिति की सूचना देता है। अपनी पूर्व रचनाओं में बच्चन ने प्रकृति के उज्ज्वल पक्ष पर दृष्टिपात नहीं किया था। आज के युग में राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ कवियों की चेतना को इतना अधिक आविर्भूत किए हुए हैं कि वह अपने गीतों की रचना किसी 'वाद' के समर्थन में प्राय करता है; अत. प्रकृति के साथ जिस तादात्म्य का अनुभव छायावादी कवियों ने किया था वह प्रगतिवादी युग के काव्य में नहीं मिलता। अस्तु।

(ग) जीवन-दर्शन—

प्रगतिवादी युग में कवियों का दृष्टिकोण आशावादी बन जाता है; इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कवियों का जीवन-दर्शन बदल जाता है—जीवन और जगत् की व्याख्या बदल जाती है। छायावादी युग में कवियों का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण कभी नहीं रहा। प्रगतिवादी कवि जीवन और जगत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता है। उसे आध्यात्मिक जीवन में विश्वास नहीं, इसलिए भौतिक जीवन की प्रत्येक समस्या को वह बौद्धिक दृष्टि से देखता है और उसका बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करता है। बौद्धिक दृष्टि से विचार करने पर पीड़ा और वेदना को प्यार करने का कोई अर्थ नहीं और अज्ञात प्रियतम के वियोग में छटपटाना कोरी भावुकता या दीवानापन प्रतीत होगा। प्रगतिवादी युग के जीवन-दर्शन में किसी तत्वदर्शन का समावेश नहीं हुआ। प्रगतिवादी कवि केवल प्रत्यक्ष, स्थूल और भौतिक जगत् एवं जीवन को सत्य मानता है। जीवन और जगत् का निषेध करना प्रगतिवादी दृष्टि में

१—'मयूरी'—सतरंगिनी (१९४२-४४) प्रथम खण्ड, पृ० ५-७।

आत्मघाती मनोवृत्ति है, जो व्यष्टि या समष्टि रूप से हानि पहुँचाने के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती। अस्तु।

हिन्दी काव्य में प्रगतिवादी विचारों का प्रचार होने के पश्चात् जीवन और जगत् का निषेध करनेवाली आध्यात्मिक (रहस्यवादी और दु:खवादी) भावनाओं का लोप होजाता है—कम से कम उनका काव्य-धारा पर कोई महत्वपूर्ण अधिकार नहीं रहता। प्रगतिवादी युग में जिन कवियों ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के आधार पर जीवन और जगत् की व्याख्या की है उन्होंने उनमें से किसी का निषेध नहीं किया। जगत् के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए ठा० गोपालशरण सिंह लिखते हैं—

मैंने पाया यह जग सुन्दर !

शूलों का करके आलिङ्गन
झंझानिल का कर मद गंजन,
खिलकर, हँसकर, झुककर, गिरकर,
मैंने पाया यह जग सुन्दर ![1]

कवि को जीवन तभी सुन्दर प्रतीत हुआ है जब वह न तो शूलों से घबराया है और न झंझावात से कंपित हुआ है। मानव-जीवन की सफलता आपत्तियों का सामने करने में ही है। ठा० गोपालशरण सिंह जीवन के एक-एक क्षण को और पृथ्वी के एक-एक कण को जीवन से परिपूर्ण मानते हैं—

जीवन में जीवन है जीवन,

जीवन का क्षण-क्षण है जीवन,
जगती का कण-कण है जीवन,
आदर्शों का रण है जीवन।[2] (आदि)

गोपालशरण सिंह के गीत में जीवन की पूर्ण स्वीकृति है। प्रगतिवादी युग में कवियों की दृष्टि भौतिक जीवन और जगत् के प्रति पूर्ण आशावादी है। 'जीवन को भूल का इतिहास' मानने वाले कवि बच्चन

१—सुमना (१९४१ ई०) गीत-संख्या, २ पृ० ३।
२—सुमना (१९४१ ई०) गीत-संख्या, ३ पृ० ५।

'सतरगिनी' (१६४२-४४ ई०) मे जीवन की आशावादी व्याख्या करते हैं—

जीवन,
छाया औ' स्वप्न नहीं, भ्रान्ति-भेद-मग्न नहीं,
काल की तरग नहीं, एक मृत्यु व्यग नहीं।
पागल की गल्प नहीं, अर्थरहित जल्प नहीं,
मानव के अन्तर में, जो कुछ उत्तमतर है
उसके अभिव्यजन का, जीवन यह अवसर है,
सुखमय वह केवल जो, इस तप में तत्पर है।[1]

जीवन को हृदय की श्रेष्ठ भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर तथा एक साधना मानना जीवन के प्रति वैज्ञानिक और आशावादी दृष्टि है। जगत् की व्याख्या करता हुआ कवि लिखता है—

जग,
कागद की नाव नहीं, बालक बहलाव नहीं।
नन्दन का कुंज नहीं, सुखमा-सुख पुंज नहीं।
दुनिया यह स्वर्ग बेलि, दुनिया यह स्वर्ग बीज,
अश्रु-स्वेद-लोहू से, जिसको जब सींच-सींच,
मनुज बढ़ा लेता है, अमृत फल देता है।[2]

गीत की प्रत्येक पंक्ति से ज्ञात होता है कि कवि के दृष्टिकोण मे अब आमूल परिवर्तन हो गया है। अब उसका जीवन-दर्शन नियति के आश्रित न रहकर कर्मण्यतावादी बन गया है। उसे विश्वास हो गया है कि जगत् केवल कर्मण्य पुरुष के लिए ही स्वर्ग-भूमि है। जगत् को स्वर्ग बनाने के लिये हमें उसे 'अश्रु-स्वेद-लोहू' से सींचना पड़ेगा। इस आशावाद की पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी विचारधारा सन्निहित है। काल को सम्बोधन करके कवि लिखता है—

कल्प कल्पान्त मदान्ध समान
काल तुम चलते रहे अनजान

१—'जीवन'—सतरंगिनी (१६४२-४४) सतत् खंड, पृ० १७६।
२—'जग'—सतरंगिनी (१६४२-४४) सतत् खंड, पृ० १७८

आगया जो भी तुम्हारे पास
कर दिया तुमने उसे बस नाश।

× × ×

किन्तु अबतो मानवों की आँख
सजग प्रतिपल घड़ी, बाम्र पाख
उल्लिखित प्रतियुग तुम्हारी चाल
उल्लिखित हर एक पल का हाल
अब नहीं तुम प्रलय के जड़ दास
अब तुम्हारा नाम है इतिहास।
नाश के अब हो न गर्त महान,
प्रगतिमय संसार के सोपान
तुम नहीं करते कभी कुछ नष्ट
जन्मती जिससे नहीं नव सृष्टि
सब समय रह वर्तमान समान
विश्व का करते सतत कल्याण।

गीत की प्रथम चार पंक्तियाँ काल-चक्र की विनाशक शक्ति की ओर संकेत करती हैं। एक समय था जब मनुष्य प्रकृति के द्वारा पराजित था। विश्व के महान् परिवर्तन—भूकम्प, हिमपात, आँधी, तूफान आदि—उसे प्रतिपल भयभीत किया करते थे। किन्तु आज मानव उतना विवश नहीं है। उसने भौतिक शक्तियों पर विजय पाकर अपने इतिहास का निर्माण करना स्वयं प्रारम्भ कर दिया है। अत अब समय-चक्र के साथ-साथ मानव-सभ्यता विकास के सोपान पर चढ़ती चली जा रही है। आज का मानव अपना भाग्य-विधाता स्वयं बन गया है। भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करके मानव-सभ्यता को प्रगति की दिशा की ओर मोड़ना मार्क्सवादी आदर्श है। मानव-जीवन का उद्देश्य सभ्यता और संस्कृति के विकास में अपना योग देना है। आज का कवि इसी प्रकार के समष्टिवादी आदर्शों से प्रभावित है। सभ्यता और भौतिक समृद्धि में योग देना वह अपना कर्त्तव्य मानता है। इस भाव की अभिव्यक्ति बच्चन अपने 'कर्त्तव्य' शीर्षक गीत में करते हैं—

१—'काल'—सतरंगिनी (१९४२-४४) सप्तम् खण्ड, पृ० १८०-८१।

जैसी हमने पाई दुनिया
आओ उससे बेहतर छोड़ें
शुचि-सुन्दरतर इसे बनाने
से मुँह अपना कभी न मोड़ें।
क्यों कि नहीं बस इससे नाता
जब तक जीवनकाल हमारा
खेल, कूद, पद, बद इसमें ही
रहने को है लाल हमारा।[1]

मनुष्य अपनी संतति के रूप मे अमर है। व्यक्ति जीता और मरता है; किन्तु समाज अमर है। अत व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य समाज को शुचितर एवं सुन्दरतर बनाना है। वर्तमान युग में आत्म-कल्याण और मोक्ष की कल्पनाएँ मनीषियो को उतना प्रभावित नही कर रही, जितनी समाज को समृद्ध और सम्पन्न बनाने की भावनाएँ। हमारे वर्तमान कवि भी युग-चेतना से किसी भी अर्थ में पिछड़े हुए नहीं हैं। उन्हे भविष्य मे विश्वास है। उनका कवि-कर्म मानव-कल्याण की पूत भावना से अनुप्राणित है। इसी आशा और विश्वास के साथ हम अपनी समीक्षा समाप्त करते हैं।

१—'कर्त्तव्य'—सतरंगिनी (१९४२-४४ ई०) सप्तम खण्ड, पृ० १८२—८४

उपसंहार—

हमने निराशावाद शब्द की व्याख्या अँगरेजी के 'पेस्सिमिज्म' शब्द के आधार पर की। 'पेस्सिमिज्म' शब्द को भली भाँति समझने के लिए, १६ वीं शताब्दी के यूरोप के वातावरण का उल्लेख किया और कुछ प्रमुख निराशावादी विचारकों और कवियों की उन भावनाओं का अनुशीलन किया जिनको अँगरेजी वाङ्मय में 'पेस्सिमिज्म' की संज्ञा दी गई है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निराशावाद के अर्थ-विस्तार में जीवन और जगत् में दु.ख और बुराइयों का प्राधान्य माननेवाले विचार, पराजित मनोवृत्ति, दोष-दर्शन की प्रवृत्ति एवं दु.खात्मक अनुभूतियों को सन्निहित किया जा सकता है।

हमने भारतीय दार्शनिक परम्परा पर भी एक विहङ्गम दृष्टि डाली और ज्ञात किया कि वैदिक विचारधारा आशावादी है। उसमे आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यजना तो हुई है किन्तु जीवन और जगत् का निषेध नहीं किया गया है। तपस्यावादी जैन-दर्शन और दु.खवादी बौद्ध दर्शन मूलत. निराशावादी दर्शन हैं। बुद्ध के दु.खवाद ने अपने परवर्ती दर्शन-शास्त्रों को अत्यधिक प्रभावित किया है। बौद्ध अनित्यतावाद के विरुद्ध लेखनी उठानेवाले आस्तिक षड्दर्शनों ने आत्मा की शाश्वत सत्ता अवश्य सिद्ध की किन्तु भौतिक जीवन को दु.खपूर्ण ही माना।

शांकर वेदान्त ने बौद्ध दर्शन का भारत से मूलोच्छेद तो किया किन्तु शकर का मिथ्यावाद जीवन और जगत् के प्रति स्वयं एक निराशावादी विचार था। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों ने मिथ्यावाद का विरोध किया और जनता को भगवद्-भक्ति का सुगम मार्ग दिखलाया। किन्तु, इसी समय से भारतवर्ष का राजनीतिक अध.पतन प्रारम्भ हुआ अतः भक्ति-मतवाद भी निराशावादी विचारों से अछूते न रह सके। भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों में राष्ट्रीय चेतना का प्राधान्य होने के कारण दोनों युगों के कवि दार्शनिक निराशावाद से उदासीन रहे।

छायावादी युग के काव्य में दार्शनिक निराशावाद की अभिव्यक्ति विशद रूप में हुई है। छायावादी कवियों का जीवन-दर्शन किसी विशेष दार्शनिक परम्परा से सम्बद्ध न होते हुए भी निराशावादी विचारो से आक्रान्त है। कहीं-कही तो वह जीव-दर्शन न रहकर मृत्यु-दर्शन बन गया है।

भारतवर्ष की प्राचीन दार्शनिक परम्पराओं का निराशावाद के प्रसग मे अध्ययन करने के पश्चात् हमने आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा के प्रथमोत्थान—भारतेन्दु-युग—का अनुशीलन किया। हमें ज्ञात हुआ कि भक्तिवादी आत्म-सतोष और रीतिकालीन मनोविलास की ओर से कवि-चेतना को समाज की वस्तुस्थिति की ओर उन्मुख करने-वाला मनोवैज्ञानिक तत्व राष्ट्रीय निराशावाद ही है। १९ वीं शताब्दी की सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण भारतेन्दु-युग के काव्य में निराशावाद के अनेक तत्व—पराजित मनोवृत्ति, दोष-दर्शन की प्रवृत्ति, दु खात्मक अनुभूतियाँ आदि—सन्निहित हैं। भारतेन्दु-युग में, जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया और विदेशी शासन का आतक एव दमन कुछ शिथिल होता गया वैसे-वैसे राजनीतिक क्षोभ भी कुछ हलका पड़ता गया। किन्तु, इसी समय से देश पर आधिभौतिक सकट आने लगे और जो वाणी अब तक विदेशी शासन की अनीतियों और समाज की दुर्बलताओं पर आँसू बहा रही थी वह अब दुर्भिक्ष और महामारियों के सहारक रूप को चित्रित करने लगी।

भारतेन्दु-युग के राष्ट्रीय काव्य में देश के अध पतन पर क्षोभ व्यक्त किया गया है, किन्तु उसके अभ्युत्थान की बलवती आशा प्राय व्यक्त नहीं की गई, इसी भाँति समाज की दुर्बलताओं का बखान है किन्तु समाज में उलट फेर करने का उत्साह अभिव्यक्त नहीं किया गया है। परिस्थितियों का भीषण चित्रण है किन्तु उनके विनाश की न सम्भावना अभिव्यक्त है और न उनको नष्ट कर देने का साहस ही। इन बातो को ध्यान मे रखकर भारतेन्दु-युग को राष्ट्रीय निराशावाद का युग कहा गया है। भारतेन्दु-युग का राष्ट्रीय काव्य निराशावादी भावनाओं की अभिव्यक्ति भले ही करता हो देश की जागर्त्ति में उसका वही मूल्य है जो भारतवर्ष की स्वाधीनता-संग्रा के इतिहास में राष्ट्रीय आन्दोलन और उनकी विफलताओं का।

द्विवेदी-युग की काव्य-धारा का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व हमने भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की भावधारा मे काल-सन्धि खोजने की चेष्टा की किन्तु वह मिल न सकी। वस्तुत. एक ही राष्ट्रीय चेतना देश की सगठित शक्ति का सहारा पाकर अविकल रूप से विकसित होती चली गई है जिसका चरम विकास हम 'प्रियप्रवास' और 'भारत-भारती' मे पाते हैं। जातीयता, समाज-सेवा और देशोद्धार की बलवती प्रेरणाएँ उक्त रचनाओ से मिलती है। द्विवेदी-युग मे राष्ट्रीय निराशावाद का एक प्रकार से अभाव है। समाज के दोष और दुर्बलताओ का चित्रण करनेवाली भावनाएँ बहुत कुछ पूर्व युग का अनुकरणमात्र हैं जिनमें सुधार की कामना से अधिक खण्डन-मण्डन का जोश सन्निहित है। समवेदनात्मक काव्य मे कृषको की दुर्दशा का जितना मर्मस्पर्शी चित्रण द्विवेदी-युग के कवियो ने किया है उतना मर्मस्पर्शी चित्रण कोई अन्य युग नहीं कर सका है।

सन् १९२०-२२ के राष्ट्रीय आन्दोलन की विफलता के साथ द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति भी क्षीण पड गई और हृदय मे 'उच्छ्वास' एव आँखो मे 'आँसू' लिए हुए छायावादी युग का आगमन हुआ। राष्ट्रीय चेतना का स्थान व्यक्तिगत चेतना ने, इति-वृत्तात्मकता का स्थान रसात्मकता ने और आदर्शवादिता का स्थान हार्दिकता ने ले लिया। छायावादी युग ने दो राष्ट्रीय आन्दोलनों की विफलता देखी थी और भारतेन्दु-युग भी एक सशस्त्र क्रान्ति की विफलता देख चुका था इसलिए दोनो युगो के काव्य मे निराशावादी भावनाओ का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। अन्तर केवल इतना है कि भारतेन्दु-युग की चेतना सामाजिक चेतना है जबकि छायावादी युग की चेतना व्यक्तिवादी चेतना है। भारतेन्दु-युग के निराशावाद मे व्यथा और वेदना है किन्तु पलायन की प्रवृत्ति नहीं है। भारतेन्दु-युग का कवि समाज की दुर्दशा पर आँसू बहाता है किन्तु वस्तुस्थिति से आँखे बन्द करके कल्पना के लोक में पलायन नहीं करता और न समाज से उदासीन होकर आत्मकेन्द्रित बनता है। छायावादी कवि परिस्थितियो की विषमताओ के कारण समाज से उदासीन होकर कभी कल्पना-लोक मे विहार करता है, कभी अज्ञात प्रियतम से आँख-मिचौनी खेलता है तो कभी आत्मकेन्द्रित होकर हृदय का रक्त अपने गीतों में उँडेलता है।

[उपसंहार]

हमने रहस्यवाद, प्रकृति-चित्रण, प्रणय-गीत तथा उमर खैयाम के प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त भावनाओं का विवेचन किया और हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन सब में व्यक्तिवादी निराशात्मक अनुभूतियाँ विभिन्न रूपों मे अभिव्यजित हुई हैं। हमने दार्शनिक निराशावाद, व्यक्तिगत निराशावाद और समष्टिगत निराशावाद का स्वतन्त्ररूप से भी अनुशीलन किया और देखा कि दार्शनिक निराशावाद का उद्देश्य जीवन और जगत् का निषेध भर करना था। व्यक्तिगत निराशावाद विषाद और पश्चात्ताप से लेकर मृत्युकामना और मृत्यून्मुखता तक उद्दीप्त हो गया है। समष्टिगत निराशावाद या तो दुखित प्राणियों के लिए 'कलेजे के दो टूँक' करता था या फिर सृष्टि का विनाश चाहता था।

जिन दिनों व्यक्तिगत निराशावाद अपने लिए 'अगर चन्दन की सुखद सेज' (चिता) सजाने जा रहा था उन्ही दिनों समाज की चेतना उसका घोर विरोध करने लगी थी। राजनीतिक परिस्थितियों मे ज्वार आ चुका था और मार्क्सवादी विचारधारा भी युवकों को आकृष्ट करने लगी थी। परिणाम यह हुआ कि कुछ अध्यात्मवादी कवि तो 'सबका क्रन्दन पहचान कर'[1] काव्य-क्षेत्र से मूक विदा ले गए और शेष अपनी व्यक्तिवादी और निराशावादी प्रवृत्तियों को धिक्कारते हुए आशा और कर्मण्यता के गीत गाने लगे। यह सब परिवर्तन बड़ी शीघ्र गति से हुआ। अस्तु।

वर्तमान समय में प्रगतिवादी विचारधारा का काव्य-क्षेत्र में आधिपत्य है और उसमें निराशावाद का एक प्रकार से अभाव है। स्वतन्त्र भारत आज प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहा है। नव-निर्माण एव विकास-योजनाओं की सफलता उज्ज्वल भविष्य की ओर सकेत करने लगी है। हमारा विश्वास है कि इस सर्वतोन्मुख अभ्युदय के युग में निराशावादी भावनाओं को हमारे सामाजिक जीवन मे वैसे भी कोई स्थान नहीं रह गया है।

परिशिष्ट

प्रबन्ध काव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना

आधुनिक युग के प्रमुख प्रबन्ध काव्य—

'प्रियप्रवास' (१६१४ ई०), 'साकेत' (१६३१ ई०), 'कामायनी' (१६३६ ई०) और 'कुरुक्षेत्र' (१६४६ ई०) आधुनिक युग के चार महाकाव्य हैं। 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' द्विवेदी-युग की विचार-धारा को व्यक्त करते हैं, 'कामायनी' छायावादी चेतना को और 'कुरुक्षेत्र' प्रगतिवादी युग के विचारों को। भारतेन्दु-युग आधुनिक काव्य-धारा का शैशव काल होने के कारण कोई प्रबन्ध काव्य प्रस्तुत नहीं कर सका। अत. उक्त महाकाव्यों के अध्ययन से हमें द्विवेदी-युग, छायावादी युग और प्रगतिवादी युगों की भाव-धारा में निहित आशावाद या निराशावाद के तत्वों का अनुमान लग सकता है। उक्त तीनों युगों की स्फुट रचनाओं की समीक्षा करते समय हम इस निर्णय पर पहुँचे थे कि द्विवेदी-युग, जो भारतेन्दु-युग से प्रवहमान राष्ट्रीय चेतना का विकसित रूप है, आशावाद और आदर्शवाद का युग है। छायावादी युग, व्यक्तिगत भावनाओं, दार्शनिक चिन्ता और सूक्ष्म अभिव्यक्तियों का युग है। जीवन की वास्तविकता से सौन्दर्य. कल्पना और अध्यात्म चिन्तन की ओर पलायन इस युग की मुख्य विशेषताएँ हैं। प्रगतिवादी युग कल्पना के मायाजाल से मुक्त होकर पुन: जीवन की वास्तविकताओं का सामना करता है और भौतिक जगत् एवं जीवन के प्रति कर्त्तव्य-वृत्ति को प्रेरित करता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य की चेतना को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने के लिए एवं दृढ़तापूर्वक किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए सिंहावलोकन के रूप में आधुनिक महाकाव्यों के द्वारा अभिव्यक्त युग-चेतना की समीक्षा और कर लेनी चाहिए।

प्रवास' (१९१४ ई०)—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अपने रचयिता अयोध्यासिंह उपाध्याय को 'कवि-सम्राट्' के हासन पर अधिष्ठित करनेवाला 'प्रियप्रवास' आधुनिक युग एवं खड़ीबोली का प्रथम महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' (क) जाति एव देशोद्धार, (ख) लोक-सेवा, (ग) विश्व-कल्याण और (घ) कर्मण्यता और आदर्शवादिता की आशावादी भावनाओं से ओतप्रोत है। इन भावनाओ की अभिव्यक्ति महाकाव्य के नायक कृष्ण, नायिका राधा और कृष्ण-सखा उद्धव के कृत्यो और वचनों के द्वारा की गई है। द्विवेदी-युग वाह्यार्थनिरूपण, स्थूल-भावना और राष्ट्रीय चेतना-प्रधान युग होने के कारण जीवन और जगत् का तत्वान्वेषण नही करता। अकर्मण्यता और निष्क्रिय रुदन के स्थान पर कर्त्तव्य पर प्राण निछावर करना एव एकान्त साधना के स्थान पर समाज-सेवा उसके मूलमत्र हैं। राधा-कृष्ण का चरित्र और उद्धव के द्वारा भेजा गया सन्देश उक्त निष्कर्ष की पुष्टि कर सकेंगे।

(क) जाति एवं देशोद्धार—

१६ वी शती के पूर्वार्द्ध मे राष्ट्रीय चेतना जिस रूप मे जाग्रत हुई थी उसमे जातीयता अथवा हिन्दू-राष्ट्रीयता की भावनाएँ प्रमुख थी। हिन्दू-सस्कृति, हिन्दू-दर्शन, हिन्दी-भापा और हिन्दू-समाज की हित-चिन्ता इस राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के प्रमुख अग थे। द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय काव्य—'भारत-भारती' अथवा 'प्रियप्रवास'—उसी चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि भारतीय राष्ट्रीयता रचनात्मक होने के कारण अन्य राष्ट्रो अथवा जातियो का अहित-चिन्तन नहीं करती। उसे अपनी सभ्यता, सस्कृति एवं समाज से प्रेम है किन्तु अन्य से घृणा नहीं है। विश्व-मैत्री, विश्व-बन्धुत्व आदि भावनाएँ उसकी अन्तिम परिधि हैं। कृष्ण का चरित्र जाति सेवा एव देशोद्धार का ज्वलन्त उदाहरण है। वालक कृष्ण ने कालिन्दी मे कूद कर जो कालिय-मर्दन किया था वह उनका क्रीड़ा-कौतूहल न होकर जाति-सेवा एवं देशोद्धार ही था—

स्व-जाति की देख अतीव दुर्दशा।
विगर्हणा देख मनुष्य-मात्र की।

विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को।
हुए समुत्तेजित वीर केसरी ॥
इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया।
सशकता त्याग अशंक-चित्त से।
अवश्य निर्वासन ही विधेय है।
भुजग का भानु-कुमारिकाक से ॥
अतः करूँगा यह कार्य्य मैं स्वयं।
स्व-हस्त में दुर्लभ प्राण को लिये।
स्व-जाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं।
न भीत हूँगा विकराल-व्याल से ॥[१]

कालियदह की कथा 'श्रीमद्भागवत्'[२] मे वर्णित है और 'सूर-सागर'[3] में भी। किन्तु 'स्वजाति और जन्म-धरा निमित्त' प्राण की बाजी लगा देना द्विवेदी-युग की भावधारा ही है जिसका अस्तित्व संस्कृत अथवा हिन्दी के प्राचीन काव्य में नहीं मिलता। 'प्रियप्रवास' मे जितनी भी कथाओं का वर्णन किया गया है सब प्राचीन हैं किन्तु प्रत्येक घटना को जो एक नवीन रूप दे दिया गया है वह द्विवेदी-युग की सम्पत्ति है।

कालियदह में कूद पड़ने के समान ही दावाग्नि के प्रकोप और कृष्ण के द्वारा उसका पान करने के कथानक का श्रीमद्भागवत् (दशम्-स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अध्याय १७) मे विस्तार से वर्णन किया गया है। सूरदास जैसे भक्त कवियों ने 'दावानल अचयो व्रजराज व्रजजन जरत बचायो'[४] की भावना को भागवत् से ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है जिसे पढ़कर भगवान् कृष्ण की भक्त-वत्सलता पर हृदय गद्गद् हो जाता है। किन्तु 'प्रियप्रवास' के कृष्ण भगवान् कृष्ण न होकर लोक-नायक कृष्ण हैं। उनका प्रत्येक कार्य जाति-सेवा की कामना से उद्भूत होता है। व्रज-वासियों को आग की लपटों में कूद पड़ने के लिए प्रोत्साहित करते हुए कृष्ण उपदेश देते हैं—

१—प्रिय-प्रवास, पृ० १६८—६६।
२—देखिए—श्रीमद्भागवत्, दशम् स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अध्याय १६—१७।
३—सूर-सागर, पृ० २०४—२०५।
४—सूर-सागर, पृ० २०८।

विपत्ति से रक्षण सर्व-भूत का ।
सहाय होना अ-सहाय जीव का ।
उबारना संकट से स्व-जाति का ।
मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है ॥

बढ़ो करो वीर स्व-जाति का भला ।
अपार दोनों विधि लाभ है हमें ।
किया स्व-कर्त्तव्य उबार जो लिया ।
सु-कीर्त्ति पाई यदि भस्म होगए ॥[1]

द्विवेदी-युग का कवि अपनी बात कहने मे स्वत इतना स्पष्ट रहता है कि उसे किसी अन्य स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वजात्युद्धार के लिए प्राणोत्सर्ग करके यश-प्राप्ति अथवा मातृभूमि के उद्धार में सफलता द्विवेदी-युग के कवियों का आशावादी सन्देश है। इस प्रकार की भावनाओं की 'प्रियप्रवास' में प्रचुर अभिव्यक्ति हुई है।

(ख) लोक-सेवा—

देशोद्धार मे जहाँ विपरीत परिस्थितियों का विनाश करने के लिए प्राणों को दाव पर रखना पड़ता है वहाँ लोक-सेवा के निमित्त व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधाओं का परित्याग करना पड़ता है। एक में जहाँ शक्ति, पौरुष और साहस की अपेक्षा है वहाँ दूसरे में सहानुभूति, समवेदना एव निष्काम भाव से प्राणिमात्र के कष्टों का निवारण करने की भावना अपेक्षित है। लोक-सेवा की भावना का प्रतिपादन कृष्ण-चरित्र, उद्धव-सन्देश एव राधिका के चरित्र द्वारा किया गया है।

कृष्ण जहाँ देशोद्धार एव जाति-हित के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने का साहस रखनेवाले हैं वहाँ रोगी, दुखी और आपत्ति मे पड़े हुए प्राणियों की सेवा करनेवाले भी हैं—

ये राज-पुत्र उनमें मद था न तो भी ।
वे दीन के सदन थे अधिकाश जाते ।
बातें-मनोरम सुना दुख जानते थे ।
औ थे विमोचन उसे करते कृपा से ॥

१—प्रियप्रवास, पृ० १८१ ।

रोगी दुखी विपद्-आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज-हस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें ॥[1]

कृष्ण यदि मथुरा से ब्रज को नहीं लौट पाते तो उसका मुख्य कारण लोक-सेवा मे संलग्न रहना ही था—

अच्छे-अच्छे बहु-फलद औ' सर्व-लोकोपकारी।
कार्यों की है अवलि अधुना सामने लोचनों के।
पूरे-पूरे निरत उनमे सर्वदा है बिहारी।
जी से प्यारी ब्रज-अवनि में हैं इसी से न आते ॥[2]

इसी लोक-सेवा का सन्देश ज्ञानी उद्धव गोपिकाओ को सुनाते हैं—

जो बूझेगा न ब्रज कहते लोक-सेवा किसे हैं।
जो जानेगा न वह, भव के श्रेय का मर्म क्या है।
जो सोचेगा न गुरु-गरिमा लोक के प्रेमिकों की।
कर्त्तव्यों में तो कुँवर-वर को बड़ा-क्लेश होगा ॥[3]

और विरह विधुरा राधिका लोक-सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती हैं। तपस्विनी राधिका वियोग-पीड़ा को हृदय के किसी कोने मे वन्दिनी बनाकर अपने जीवन को लोक-सेवा के हित अर्पित कर देती है—

राधा जातीं प्रति-दिवस थीं पास नन्दाङ्गना के।
नाना बातें कथन करके थीं उन्हें बोध देतीं।
जो वे होतीं परम-व्यथिता या विपन्ना।
तो वे आठों पहर उनकी सेवना में बितातीं ॥
वे थीं प्रायः ब्रज-नृपति के पास उत्कण्ठ जातीं।
सेवायें थीं पुलक करतीं क्लान्तियाँ थीं मिटातीं।

× × ×

१—प्रियप्रवास, पृ० २०१।
२—प्रियप्रवास, पृ० २३५।
३—प्रियप्रवास, पृ० २३६।

होती मारे मन यदि कहीं गोप की पंक्ति बैठी।
किम्वा होता विकल उनको गोप कोई दिखाता।
तो कार्य्यों में सविधि उनको यत्नतः वे लगातीं।
औ ये बातें कथन करतीं भूरि गम्भीरता से॥

जी से जो आप सब करते प्यार प्राणेश को हैं।
तो पा भू में पुरुष-तन को, खिन्न हो के न बैठें।
उद्योगी हो परम रुचि से कीजिये कार्य्य ऐसे।
जो प्यारे हैं परम प्रिय के विश्व के प्रेमिकों के॥[1]

लोक-सेवा की आशावादी भावना उस राष्ट्रीय जागर्त्ति का प्रतीक है जिसको देश की मुक्ति-कामना ने भारतेन्दु और द्विवेदी-युगो में जन्म दिया था।

(ग) विश्व-कल्याण—

द्विवेदी-युग अन्त साधना और जीवन से पलायन करके आत्म-कल्याण के लिए एकान्त आराधना का युग नहीं है। कृष्ण योगी हैं क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों और भोगेच्छाओं का दमन करके अपने चित्त को लोक-सेवा और विश्व-कल्याण मे लगा दिया है—

स्वार्थों को औ विपुल-सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आ जाता जगत्-हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी सा दमन करते लोक-सेवा निमित्त।
लिप्साओं से भरित उर की सैकड़ा लालसायें॥[2]

लिप्साओं का दमन मुमुक्षु भी करता है किन्तु केवल आत्म-कल्याण की सकुचित भावना से। अत मुमुक्षु आत्मार्थी है, आत्मत्यागी नहीं कहला सकता। द्विवेदी-युग का आदर्श आत्म-कल्याण न होकर विश्व-कल्याण है—

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत् हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल मे आत्मत्यागी वही है॥[3]

१—प्रियप्रवास, पृ० ३२०–२१।

२—प्रियप्रवास, पृ० २३३।

३—प्रियप्रवास, पृ० २६३।

कृष्ण का राधिका के लिए भेजा गया यह आत्मत्याग का सन्देश द्विवेदी-युग का अपने समाज को युग-सन्देश है। आत्मत्याग की इस भावना से द्विवेदी-युग के आशावाद का अनुमान लग सकता है। जिस समय मानव-चेतना व्यक्तिगत स्वार्थों और दुर्बलताओं का दमन करके और अपनी समस्त शक्ति समेट कर विश्व-कल्याण की कामना करने लगती है उसमें निराशावाद किसी भी रूप में विद्यमान नहीं रह सकता। निराशावाद हतोत्साह और अकर्मण्यता को प्रोत्साहित करता है तो आशावाद उत्साह और कर्मण्यता को। उत्साह और कर्मण्यता की भावनाएँ द्विवेदी-युग का आशावाद है।

कृष्ण की अनन्य उपासिका राधिका की यह भावना कि 'प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें' द्विवेदी-युग के आदर्श को व्यंजित करती है। प्राचीन काल से भारतवर्ष में भक्ति-भावना जिस रूप में प्रवहमान थी उसमें भक्ति का आदर्श भगवान् को प्राप्त करना था। द्विवेदी-युग की चेतना भगवान् को हृदय के कोने में नहीं खोजती। वह विश्व-प्रेम को ईश्वर-भक्ति का सच्चा स्वरूप मानती है। राधिका के हृदय से कृष्ण का प्रेम विश्व के प्रेम में परिणत हो चुका है।[1] 'सारे प्राणी अखिल जग के' उनको कृष्ण की मूर्ति ही प्रतीत होने लगी है। हरिऔध ने प्रिय-प्रवास में नवधा-भक्ति का जो निरूपण किया है वह द्विवेदी-युग के लोक-सेवा और विश्व-कल्याण के आदर्शों की विशद झाँकी कराता है। निरूपण कुछ विस्तृत है किन्तु युग-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति करता है, अतः उसको उद्धृत कर देना अनुचित न होगा। वैष्णव-भक्ति के नौ अङ्ग निम्नाङ्कित हैं—

श्रवण, कीर्तन, वन्दन, दासता।
स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है॥[2]

और राधिका जी इस नवधा-भक्ति की अधोलिखित रीति से क्रमशः व्याख्या करती हैं—

१—'मेरे जी में हृदय-विजयी विश्व का प्रेम जागा।' प्रियप्रवास, पृ० २०६।

२—प्रियप्रवास, पृ० २०८।

जी से सारा कथन सुनना आर्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक-उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में॥

सोये जागें, तम-पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सु-पथ पर औ ज्ञान-उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य-न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्तिनोपाधिवाली॥

विद्वानों के स्व-गुरु-जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु-चरित गुणी सर्व-तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या॥

जो बातें हैं भव-हितकारी सर्व भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन गिरती जातियाँ हैं उठातीं।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भव-सुखदा दासता-संज्ञका है॥

कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हे त्राण देना।
सत्कार्यों का पर-हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण-अभिधा भक्ति है भावुकों में॥

विपद-सिन्धु पड़े नर-वृन्द के।
दुख-निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म-निवेदन-भक्ति है॥

संत्रस्तों को शरण मधुरा-शान्ति संतापितों को।
निर्बोधों को सु-मति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित-जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना-संज्ञका है।

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दूर्वा से द्यु-मणि तक है व्योम में या धरा में।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य-प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य नाम्नी॥

जो प्राणि-पुंज निज कर्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग सा पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोक-पति की पद-सेवनाख्या ॥[1]

राधिका के शब्दों द्वारा की गई नवधा-भक्ति की यह व्याख्या द्विवेदी-युग के आदर्श का सर्वाङ्गपूर्ण चित्र उपस्थित करती है। सर्वभूति हित की कामना, सेवा-भावना आदि के आदर्श द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है जिनमे निराशावाद को कोई स्थान नहीं है।

(घ) कर्मण्यता और आदर्शवादिता—

द्विवेदी-युग कर्मण्यता और आदर्श भावना की अभिव्यक्ति का युग है। व्यक्तिगत दुःख, निराशा, भोग-लिप्सा अथवा भौतिक जगत् और जीवन के प्रति उपेक्षा दृष्टि जैसी निराशावादी भावनाओं को इस युग ने न स्वीकार ही किया है और न व्यक्त ही किया है। देशोद्धार, लोक-सेवा आदि की भावनाओं मे द्विवेदी-युग की कर्मण्यता और आदर्शवादिता की विशद अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु, द्विवेदी-युग का कवि पुलपिट वक्ता भी है। वह उक्त भावनाओं को जब तक एक व्याख्यान के रूप में जनता के समक्ष नहीं रख देता, उसे सतोष नहीं होता। कृष्ण स्वयं ही देशोद्धारक एवं समाजसेवी नहीं, वे अपने साथ सम्पूर्ण समाज को भी कर्मण्य बनाना चाहते हैं। 'प्रियप्रवास' के अनेक स्थलो पर कृष्ण को एक आदर्शवादी नेता के रूप मे चित्रित किया गया है। कृष्ण अपनी ओजपूर्ण वक्तृता के द्वारा सम्पूर्ण व्रज-मण्डल को कर्म-परायण बनाने की चेष्टा करते हैं। इस तथ्य की पुष्टि में 'प्रियप्रवास' मे वर्णित एक घटना का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा।

व्रज पर इन्द्र का प्रकोप हुआ। सम्पूर्ण व्रजभूमि जल-मग्न होने जारही थी। लोग कर्त्तव्य-विमूढ़ थे। अतः व्रजेश सामने आए। जनता को एकत्र किया। गोवर्धन की 'वृहद् कन्दराओं' में शरण लेने का प्रस्ताव पेश किया। 'प्रथम तर्क-वितर्क बड़ा हुआ,' किन्तु अन्त में यही 'अवधारित' हुआ कि 'गिरि बिना अवलम्ब न अन्य है'। प्रस्ताव पास तो होगया किन्तु उसे कार्यान्वित करने में बाधाएँ थीं।

१—प्रियप्रवास, पृ० २०८, २०९ और २१०।

'तमिस्र-प्रगाढ़ता, 'तड़ित-पात', 'प्रभजन-भीमता', 'सलिल-प्लावन' और 'वारि-वर्षण' के सम्मुख 'सब मंत्रणा विफल बन रही थी।' अत कृष्ण को मंच पर आना पड़ा और जनता को समझाना पड़ा—

इस लिए फिर पकज-नेत्र ने।
यह स-ओज कहा जन-वृन्द से।
रह अचेष्टित जीवन-त्याग से।
मरण है अति-चारु सचेष्ट हो॥

विपद-सकुल विश्व-प्रपंच है।
बहु-छिपा भवितव्य रहस्य है।
प्रतिघटी पल है भय प्राण का।
शिथिलता इस हेतु अ-श्रेय है॥

विपद से वर-वीर-समान जो।
समर-अर्थ समुद्यत हो सका।
विजय-भूति उसे सब काल ही।
वरण है करती सु-प्रसन्न हो॥

पर विपत्ति विलोक स-शक हो।
शिथिल जो करता पग-हस्त है।
अवनि में अवमानित शीघ्र हो।
कवल है बनता वह काल का॥

कब कहाँ न हुई प्रतिद्वंदिता।
जब उपस्थित सकट-काल हो।
उचित-यत्न स-धैर्य्य विधेय है।
उस घड़ी सब-मानव-मात्र को॥

सु-फल जो मिलता इस काल है।
समझना न उसे लघु चाहिए।
बहुत है, पड़ सकट-स्रोत में।
सहस में जन जो शत भी बचें॥

इसलिए तज निन्द्य-विमूढ़ता।
उठ पड़ो सब लोग स-यत्न हो।
इस महा-भय-सकुल काल में।
बहु-सहायक जान व्रजेश को॥[1]

१—प्रियप्रवास, पृ० १९२-९३।

व्रजेश का यह ओजस्वी भाषण जनता पर इष्ट प्रभाव डाल सका—

सुन सा-ओज सु-भाषण श्याम का।
बहु-प्रबोधित हो जन-मण्डली।
ग्रह गई पद मन्त्र-प्रयत्न का।
लग गई गिरि ओर प्रयाण में ॥[1]

उक्त घटना के अध्ययन से द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता स्पष्ट हो जाती है। कृष्ण के रूप मे द्विवेदी-युग का कवि अपने पाठकों के सम्मुख काव्य के पुलपिट पर आता है। कर्मण्यता का ओजपूर्ण उपदेश देता है और विश्वास करता है कि उसकी 'जन-मंडली' कर्त्तव्य-भावना के मंत्र को पढ़कर देशोद्धार में प्रयत्नशील हो उठी। सन् १९०० से १९२२ ई० तक के राष्ट्रीय नेताओं द्वारा दिए गए भाषणों और द्विवेदी-युग के काव्य का यदि साथ-साथ अध्ययन किया जाय तो दोनों मे एक ही राष्ट्रीय विचारधारा—देशोद्धार, समाज-सेवा, लोक-कल्याण, कर्त्तव्यपरायणता आदि आशावादी भावनाओं—की प्राय. एक-सी भाषा मे अभिव्यक्ति मिलेगी। अस्तु।

'साकेत' (१९३१ ई०) मैथिलीशरण गुप्त--

'साकेत' का प्रकाशन छायावादी युग मे हुआ था किन्तु उसका श्रीगणेश द्विवेदी-युग मे ही हो चुका था। फलत. जहाँ उसके अधिकांश सर्गों में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की छाप है, उर्मिला की लम्बी विरह-वेदना छायावाद के गीति-काव्य से प्रभावित है। 'साकेत' का भावपक्ष अथवा कलापक्ष द्विवेदी-युग की आत्मा के अधिक समीप है। अत छायावादी युग की निराशावादी प्रवृत्तियों को उसमे कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। द्विवेदी-युग के आशावादी संस्कार और वैष्णव भक्ति-भावना मे आस्था ने मैथिलीशरण गुप्त को निराशावादी नहीं बनने दिया है। कठोर बुद्धिवादी युग मे भी कवि राम को केवल मानव-रूप मे स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। फिर भी 'साकेत' के राम भगवान् राम से अधिक महापुरुष राम है।

'साकेत' का प्रकाशन द्विवेदी-युग की समाप्ति (१९२२ ई०)

१—प्रियप्रवास, पृ० १९४।

के लगभग एक दशक पश्चात् होने के कारण उसमें उपदेशवादिता—देशोद्धार, समाजसेवा आदि—का वह जोश तो नहीं रह गया जो द्विवेदी-युग में लिखित और प्रकाशित रचनाओं में मिलता है फिर भी द्विवेदी-युग के आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण 'साकेत' राष्ट्रीयता का आशावादी सन्देश देता है। राम की निम्नोद्धृत घोषणा उसके आदर्शवाद और आशावाद का सार है—

"निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि-बलिदानी।"

× × ×

"निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सब की सुविधा का भार किन्तु शासन को।
मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं।
हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं,
जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं।
मैं आया, जिसमें बनी रहे मर्यादा,
बच जाय प्रलय से, मिटे न जीवन सादा।
सुख देने आया, दुःख झेलने आया,
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया,
गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया।
मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया,
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया।
मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया,
हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया!
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

अथवा आकर्षण पुण्यभूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।
जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर विना प्रयास तरेंगे।
पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार, पार उतरेंगे॥"[1]

सीता के सम्मुख राम की यह लम्बी उद्देश्यवादिता द्विवेदी-युग की आशावादी विचार-धारा का प्रतीक है। राम और कृष्ण का अवतार लोक-मर्यादा की रक्षा एवं सत्पुरुषों के परित्राण के लिए हुआ था यह भावना परम्परानुगत है किन्तु 'समष्टि के लिए व्यष्टि का वलिदान', 'शासन' और जनता के अधिकार और कर्तव्यों की मीमांसा, 'सुख-शान्ति के हेतु क्रान्ति मचाना', समाज के दुर्बल प्राणियों की रक्षा करना, आत्मत्याग आदि उक्तियाँ द्विवेदी-युग के विचारों को व्यक्त करती हैं। द्विवेदी-युग के राम स्वर्ग की लालसा में पृथ्वी से पलायन करने की वात नहीं सोचते अपितु आत्मत्याग के द्वारा पृथ्वी को ही स्वर्ग वनाना चाहते हैं। वे श्रेष्ठ आचरण के द्वारा मनुष्यत्व को ईश्वरत्व प्राप्त कराना चाहते हैं। ईश्वर की खोज में कर्तव्य-कर्मों के परित्याग का वे उपदेश नहीं देते। राम के भक्त उनके नाम-स्मरण के द्वारा आत्म-कल्याण कर सकते हैं किन्तु यह जीवन का संकुचित आदर्श है। आत्म-कल्याण से विश्व-कल्याण कहीं अधिक श्रेयस्कर है। अत जो मनुष्य राम के श्रेष्ठ आदर्शों का पालन करते हुए उनके मानवीय चरित्र का अनुकरण करेंगे—'गुण-कर्म-स्वभाव धरेंगे'—वे ही अपने साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण कर सकते हैं। द्विवेदी-युग की समष्टिवादी चेतना को राम का एक-एक शब्द व्यक्त करता है। राम के शब्द कवि का समाज के लिए युग-सन्देश है जिसमें निराशा, निष्क्रियता, जीवन और जगत् से पलायन आदि निराशावादी भावनाओं को कोई स्थान नहीं है।

'साकेत' के प्रणयन में कवि ने चिर उपेक्षिता उर्मिला को राम-काव्य में विशेष स्थान दिया है और हतभागिनी कैकेयी के चरित्र

१—साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० १६६–१६७।

को उठाना चाहा है। 'साकेत' की नायिका विरहदग्धा उर्मिला है। राम-लक्ष्मण और सीता के चरित्र का विकास बहुत कुछ साकेत के बाहर होता है। इन दो पात्रों के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने ने कवि को देश-भक्ति और राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने का विशेष अवसर नहीं दिया। फिर, 'प्रियप्रवास' की रचना में हरिऔध ने राधा और कृष्ण के चरित्रों को नवीन रूप देने में जितनी मौलिकता से काम लिया है गुप्तजी ने राम-लक्ष्मण आदि के चरित्र-चित्रण में उतनी मौलिकता नहीं अपनायी। कृष्ण और राधिका जहाँ अपने ईश्वरत्व का पूर्णांत परित्याग करके आधुनिक आदर्श पुरुष और स्त्री बन गए हैं मैथिलीशरण गुप्त के राम मानव होते हुए भी ईश्वर हैं। यह कवि की आस्था का विषय है। राम को केवल मानव रूप में स्वीकार करने में वह असमर्थ है।

राष्ट्रीय सग्राम के लिए आत्म-बलिदान जैसी द्विवेदी-युग की उग्र भावनाओं की झलक 'साकेत' के द्वादश सर्ग में मिलती है। द्वादश सर्ग कवि की मौलिक उद्भावना है। सजीवनी की खोज मे आकाश-मार्ग से जाते हुए हनूमान के द्वारा साकेत को राम-रावण युद्ध का समाचार ज्ञात हुआ। साकेत ने लका-विजय की तैयारी करदी। लका-विजय की प्रस्तावना में कवि को राष्ट्रीय सग्राम के लिए देश-प्रेमियों को उत्साहित करने का अवसर मिल गया है। भरत, शत्रुघ्न, उर्मिला, कैकेयी, साकेत के स्त्री और पुरुष सभी लका पर टूट पड़ने को उत्साहित हैं। लका पर आक्रमण की इस योजना में राष्ट्रीय सग्राम की भावना ध्वनित है। सग्राम का नेतृत्व भरत और शत्रुघ्न करते हैं। उर्मिला स्त्री-समाज के प्रतिनिधि के रूप मे नेतृत्व करना चाहती है और साकेत की जनता साधारण जन-समाज के रूप मे आगे आती है। वह अपने नेताओं के आवाहन पर प्राणोत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। रावण और उसकी लका अत्याचारी साम्राज्यवाद का प्रतीक बन जाती है और देवी सीता स्वाधीनता एव भारत की लक्ष्मी का। द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक पात्र की वक्तृताएँ लम्बी हैं जिनका थोड़ा-थोड़ा अश उद्धृत कर देने से राष्ट्रीय सग्राम का उत्साह, देश-प्रेम, आत्म-बलिदान आदि भावनाओं का आभास मिल सकेगा।

साकेत की व्यवस्था का भार वहन करनेवाले भरत की

अधोलिखित वक्तृता एक राष्ट्र-नायक का क्षोभ और रणोत्साह ध्वनित करती है—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके—
अपने मिथ्या भारत नाम को नाम न धरके !
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा,
उठो, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा।
सजे अभी साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका ![1]

'भारत-लक्ष्मी' का प्रयोग सीताजी के लिए किया गया है किन्तु उसका व्यंग्यार्थ भारत की लक्ष्मी—धन-सम्पत्ति—भी है। भारत-लक्ष्मी का व्यंग्यार्थ स्वीकार कर लेने पर 'सिन्धुपार' से इंगलैण्ड और 'किसी रावण की लंका' से शोषक साम्राज्यवाद का भाव स्वतः ध्वनित हो उठता है। इस प्रकार से भरत-वाक्य एक राष्ट्रीय सेनानी के शब्द बन जाते हैं जो मानो स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए देश के सपूतों का आवाहन कर रहा हो। शत्रुघ्न की यह उक्तियाँ भी राष्ट्रीय क्षोभ को व्यक्त करती हैं—

भरत खण्ड का द्वार विश्व के लिए खुला है,
भुक्ति-मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है।
पर जो इस पर अनाचार करने आवेंगे,
नरकों में भी ठौर न पाकर पछतावेंगे ॥[2]

भारतीय संस्कृति की उदारता और महत्ता व्यक्त करने के साथ-साथ देश पर अत्याचार करनेवाले के विनाश करने का उत्साह शत्रुघ्न के शब्दों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है। रणोत्साह जागरित करने के लिए शत्रुघ्न विजय का विश्वास दिलाने के साथ-साथ रण में जूझ कर अमरकीर्त्ति पाने की अभिलाषा और कर्त्तव्य-भावना को भी उद्दीप्त करते जाते हैं—

१—साकेत, पृ० २६७।
२—साकेत, पृ० ३१०।

देश-प्रेम, राष्ट्र-मर्यादा की रक्षा आदि राष्ट्रीय भावनाओं की व्यंजना स्पष्ट है।

राष्ट्रीय नेता अपनी उत्साहवर्धक वक्तृताओं का जनता के हृदय पर क्या प्रभाव चाहते थे इसकी झलक साकेतवासियों के इस रणोत्साह से मिल सकती है—

"पुरुष-वेष में साथ चलूँगी मै भी प्यारे,
राम जानकी संग गये, हम क्यों हों न्यारे ?"
पुत्रों को नत देख धात्रियाँ बोली धीरा—
"जाओ बेटा,—'राम-काज, क्षण-भंग शरीरा'।"
पति से कहने लगीं पत्नियाँ—"जाओ स्वामी,
बन तुम्हारा वत्स, तुम्हारा ही अनुगामी।
जाओ, अपने राम-राज्य की आन बढ़ाओ,
वीर-वंश की बान, देश का मान बढ़ाओ।"
"अम्ब तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा,
प्रिये तुम्हारा पति न मृत्यु से कहीं डरेगा।"[1]

साकेत की जनता का आदर्श राष्ट्रीय संग्राम में व्यस्त भारतीय जनता का आदर्श है। कवि भरत, शत्रुघ्न, उर्मिला और साकेतवासियों की उत्साहवर्धक उक्तियों के द्वारा जनता को राष्ट्रीय संग्राम के लिए प्रोत्साहित करता हुआ प्रतीत होता है।

'साकेत' का प्रकाशन सन् १९३१ में हुआ था। अत साकेत का यह अन्तिम सर्ग सन् १९२९ का लिखा हुआ होना चाहिए। पुस्तक के 'निवेदन' में गुप्त जी ने स्वयं स्वीकार किया है—"यों तो 'साकेत' दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था; परन्तु नवम् सर्ग (उर्मिला की विरह-वेदना) में तब भी कुछ शेष रह गया था।" 'साकेत' के द्वादश सर्ग का अध्ययन यदि सन् १९२९ की राजनीतिक घटनाओं के साथ किया जाय तो इस क्षोभ और उत्साह में तत्कालीन राजनीतिक क्षोभ और उत्साह की प्रखर व्यंजना मिलेगी। सन् १९२९-३० में देश के नवयुवक कांग्रेस की नीति और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी कूटनीति से अत्यन्त क्षुब्ध थे। सन १९२९-३० के आर्थिक संकट और भुखमरी ने

१—साकेत, पृ० ३०६।

राजनीतिक रोष मे घृताहुति का कार्य किया था। अहिंसा और आन्दोलन के स्थान पर बम और पिस्तौल का प्रयोग बढ़ गया था। नवयुवकों की गुप्त सस्थाएँ बनने लगी थी। रेलों को रोककर सरकारी खजाना लूटना, विधान-सभाओ में बम-फेंकना जैसे आतकपूर्ण कार्य इन सस्थाओ की गुप्त योजनाएँ थी। 'मेरठ-षडयत्र' और 'लाहौर-षडयत्र' इसी समय की राजनीतिक घटनाएँ हैं। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त इसी समय के शहीद हैं।[1] अत युवक शत्रुघ्न की भावनाएँ देश के उन नौजवानों की भावनाओं को ध्वनित करती हुई प्रतीत होती हैं जो रोष और क्षोभ से प्रज्ज्वलित होकर देश की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति देने को प्रस्तुत थे। इस समय का राजनीतिक वातावरण इतना क्षुब्ध था—भगतसिंह आदि नौजवानो की शूली ने जनता के हृदय को रोष और घृणा से इतना अधिक भर दिया था—कि मैथिलीशरण जैसा राष्ट्रीय कवि 'साकेत' की रचना करते समय उस रोष और अत्याचारी शासन के प्रति घृणा को व्यक्त किये बिना नही रह सकता था। बहुत सम्भव है 'साकेत' की रचना प्रारम्भ करते समय गुप्त जी के ध्यान मे यह 'सैनिक-सज्जा' न रही हो और तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही उन्होंने उसकी उद्भावना की हो। इतनी मौलिक उद्भावना इस प्रबन्ध मे उन्होंने अन्यत्र नहीं की।

द्विवेदी जी की शिष्यता में लेखनी ग्रहण करनेवाले मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की रचना में द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय चेतना की सफल अभिव्यक्ति की है। राम-काव्य आदिकाल से समाज को उसकी मर्यादा, मानव-जीवन का आदर्श, कर्त्तव्य-पालन और अन्याय एव अत्याचार के विरुद्ध सघर्ष करने का आशावादी सन्देश देता आया है। गुप्तजी का 'साकेत' भी इन्हीं भावनाओं से अनुप्राणित है। छायावादी युग की निष्क्रियता, अकर्मण्यता, वैयक्तिकता, जीवन से पलायन करके अन्त:साधना में निमग्न रहना आदि निराशावादी भावनाओं को उसमें कोई स्थान नहीं मिल सका है। उर्मिला के विरह-वर्णन मे वेदना, प्रणय-ज्वाला, उन्माद, प्रलाप आदि छायावादी युग के गीति-काव्य की भावनाओ को व्यक्त अवश्य किया गया है किन्तु विरह-वेदना

१—राजनीतिक वातावरण के लिए देखिए—'ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया', पृ० ४२२।

उर्मिला जैसी अवला के ही अनुरूप है। युवक कवियो के 'जीवन के भार' का रूप वह नहीं ग्रहण कर सकी। अत नवम् सर्ग के विरह-गीतो मे हम निराशा और वेदना आदि निराशावादी अनुभूतियों को नहीं खोज सकते। विरह-विदग्धा उर्मिला के सम्मुख जव राष्ट्र की मान-मर्यादा की रक्षा का प्रश्न उपस्थित होता है तो वह निष्क्रिय रुदन और प्रलाप को छोड़कर रणक्षेत्र मे कूदने के लिए सवसे पहले प्रस्तुत हो जाती है; सैनिक के रूप मे न सही परिचारिका के रूप मे ही सही।[1] अस्तु।

'साकेत' युग को राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, कर्मण्यता, आत्मत्याग आदि आशावादी भावनाओ का संदेश देनेवाला महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' के समान यह प्रवन्ध काव्य भी द्विवेदी-युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

'कामायनी' (१९३६ ई०)—जयशंकर 'प्रसाद'

कामायनी की भाव-धारा की ओर चौथे अध्याय मे सकेत किया जा चुका है।[2] छायावादी युग व्यक्तिवाद और अन्त साधना का युग है। इस युग का काव्य वाह्यार्थनिरूपक न होकर अन्तः अनुभूतिप्रधान है। स्थूल जगत् और जीवन का चित्रण छायावादी काव्य का प्राय विपय नहीं वन सका। 'कामायनी' छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है और इस महाकाव्य मे युग की प्रवृत्तियो की सवल अभिव्यक्ति हुई है। प्रसादजी ने प्राचीन साहित्य—वेद, उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि—से सामग्री वटोर कर 'कामायनी' के कथानक की रचना की है किन्तु युग की प्रवृत्ति के अनुसार उसमें स्थूल घटना-चक्र का चित्रण अत्यन्त गौण है और चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, ईर्ष्या, निर्वेद आनन्द आदि मनोभूतियो की अभिव्यजना

१—"वीरो, पर, यह योग भला क्यों खोऊँगी मै,
अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मै।
पानी दूँगी तुम्हे, न पल भर सोऊँगी मै,
गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।"

साकेत, पृ० २६५।

२—देखिए—पृ० १७३-७६।

को प्रमुख स्थान मिला है। कही-कही तो मनोभावो के चित्रण में कवि इतना उलझ गया है कि कथासूत्र अत्यन्त झीना और घटना-प्रवाह शिथिल पड गया है।

द्विवेदी-युग की उद्बुद्ध राष्ट्रीय चेतना ने राम और कृष्ण के चरित्रों एव आदर्शों के द्वारा समाज को कर्मण्यता, सघर्ष और देश-सेवा का सन्देश दिया था, जिसका अध्ययन हम 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' में कर चुके है। छायावाद की पराजित चेतना आत्म-केन्द्रित होकर रहस्यात्मक लोकों का सृजन करती है और पृथ्वी की वास्तविकता एव जीवन-सघर्ष से पलायन करके अध्यात्म लोक मे पीड़ा का उपचार अथवा आनन्द खोजती है। 'कामायनी' इसी प्रवृत्ति की विशद अभिव्यक्ति करती है। 'कामायनी' के नायक मनु अपने अहकार, निर्बन्ध विलास और अधिकार भावना से प्रेरित होकर जीवन-सघर्ष मे बार-बार असफल एवं पराजित होते हैं और अपने जीवन की वास्तविकताओ का उपचार रहस्य-लोक मे पाते हैं। उनका रहस्य-लोक अपनी व्यक्तिगत साधना में चाहे जितना आनन्दवादी हो जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने में असमर्थ है, अत हम उसे आशावादी नही कह सकते। कामायनी की इस निराशावादी प्रवृत्ति की ओर सकेत किया जा चुका है[1] अत यहाँ विस्तृत समीक्षा की आवश्यकता नही। कवि के निराशावादी दृष्टिकोण को कुछ अधिक स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा।

मनु का प्रथम साक्षात्कार हमें देव-सस्कृति के विध्वस के पश्चात् होता है। अपने जातीय विध्वस पर पश्चात्ताप करते हुए मनु सास्कृतिक विनाश के कारणों मे देवों के स्वच्छन्द विलास को प्रमुख स्थान देते हैं—

"विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये;
आह! जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल में गल, गये।"

कहावत है—दूध का जला छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है। विलास-वासना का भीषण परिणाम प्रत्यक्ष देख लेने के पश्चात् मनु से आशा

१—देखिए—पृ० १७६-७८।

की जा सकती थी कि वे उस भूल को न दुहराएँगे, एवं शक्ति-संचय करके जीवन का पुनर्निर्माण करेंगे। किन्तु कथानक के अन्त तक मनु हृदय की दुर्बलताओं—विलास और अहंकार—को प्राय नहीं जीत पाते और भौतिक जीवन से सद्म के लिए पलायन कर जाते हैं। श्रद्धा और इड़ा—हृदय-पक्ष एवं विवेक-शक्ति—के समन्वय से जीवन का नवनिर्माण सम्भव था किन्तु आत्मकेन्द्रित एवं अन्त साधना-प्रधान छायावादी युग ने कवि को इस ओर सोचने का अवकाश ही नहीं दिया। मनु न तो सात्विक प्रवृत्ति एवं विवेक बुद्धि में सामञ्जस्य स्थापित कर सके और न इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान शक्तियों के समन्वय से नवीन मानवता का निर्माण ही कर सके। मनु और श्रद्धा के दर्शनों को आयी हुई सारस्वत प्रदेश की प्रजा 'अखण्ड आनन्द' का तो साक्षात्कार कर सकी किन्तु सामूहिक जीवन के लिए कोई आशावादी विचार लेकर न लौट सकी।[1]

श्रद्धा और मनु का प्रथम परिचय 'कामायनी' की एक महत्वपूर्ण घटना है। मनु और श्रद्धा के वार्तालाप के द्वारा कवि ने जीवन और जगत् के प्रति दो दृष्टियों को उपस्थित किया है। मनु की दृष्टि निराशावादी है और श्रद्धा की आशावादी। मनु के मस्तिष्क में प्रलय का ध्वस घूम रहा है और श्रद्धा के हृदय मे भविष्य के सुन्दर सपने। मनु की चेतना भूत का स्मरण करके भविष्य के प्रति उदासीन बन चुकी है, श्रद्धा भूत की उपेक्षा करके भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहती है। मनु के हृदय मे असफलता और विध्वंसजन्य वैराग्य-भावना जीवन के उज्ज्वल पक्ष से निराश हो चुकी है और श्रद्धा, कर्म और शक्ति-संचय के द्वारा जीवन के नवनिर्माण के आदर्श को माननेवाली है। अत श्रद्धा, सेवा और आत्म-समर्पण के द्वारा मनु के हृदय में जीवन का नवोन्मेष भरती हुई प्रतीत होती है और हम आशा करने लगते हैं कि मनु श्रद्धा जैसी सहचरी पाकर जीवन का कोई नवीन आदर्श अवश्य उपस्थित करेंगे। मनु और श्रद्धा के वार्तालाप का कुछ अंश उपस्थित कर देने से इस आशा और निराशा के संघर्ष को समझा जा सकेगा। रूप और यौवन के भार से दबी हुई युवती श्रद्धा का प्रथम साक्षात्कार पाकर जैसे मनु की वेदना

१—कामायनी, पृ० १६।

२—देखिए—कामायनी, आनन्द खण्ड पृ० २६५–३०८।

ौर निराशा उवल पड़ी हो । मनु अपने हृदय की उद्भ्रान्ति अपरिचिता श्रद्धा के सम्मुख इन शब्दों में उपस्थित करते हैं—

कहा मनु ने, "नभ धरिणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय ;
एक उल्का सा जलता भ्रान्त,
शून्य में फिरता हूँ असहाय ।

× × ×

पहेली सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बनकर अनजान ।

× × ×

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रान्त ?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा राज ।"[1]

श्रद्धा मनु की मानसिक स्थिति समझ जाती है । मनु के हृदय को सहलाती हुई वह आशावाद का संदेश देती है—

तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग !

हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वञ्चित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश !

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,

---

[1] ...मायनी पृ० ५६–५७ ।

काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान ।

× × ×

दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात ;
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात ।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल ;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल ।'[1]

श्रद्धा के अनुकथन का एक-एक शब्द आशावाद से अनुप्राणित है। विषम परिस्थितियाँ और असफलताएँ मनुष्य के हृदय को कुछ क्षण के लिए ग्लानि और निर्वेद से पराभूत कर सकती हैं, जीवन के आनन्दमय स्रोतों को सदा के लिए अवरुद्ध नहीं कर सकती। 'जीवन की लालसा' जीवन-पर्यन्त बनी रहती है। पराजित मनोवृत्ति त्याग और विराग के मनोरम दृश्य हताश चेतना के सम्मुख भले ही उपस्थित कर सके, जीवन को उत्कर्षपूर्ण नहीं बना सकती। 'दुःख की रजनी' दीर्घ चाहे जितनी हो अनन्त नहीं हुआ करती और एक क्षण निराशा के घोर अन्धकार को चीर कर आशा, उल्लास और उत्साह की किरण जीवन के नव प्रभात को समुपस्थित कर देती है। जीवन 'ईश्वर का मंगलमय वरदान' है। केवल हताश मनोवृत्ति ही उसे 'अभिशाप' और 'जगत की ज्वालाओं का मूल' समझ सकती है। इस प्रकार की उक्तियों के द्वारा कवि जीवन का आशावादी दृष्टिकोण समाज के सम्मुख उपस्थित करता है जो सांस्कृतिक ह्रास और राष्ट्रीय पराधीनता के युग में बहुत महत्व रखता है।

श्रद्धा जहाँ दुखद वर्तमान के बीच में सुखद भविष्य की कल्पना करती है वहाँ मनु की पराजित मनोवृत्ति अतीत की ओर ही पलायन करती है। प्रकृति की दुर्जेय शक्तियों के सम्मुख मनुष्य का जीवन कितना

१—कामायनी, पृ० ६०-६१ ।

विवश और निरुपाय है कि मनुष्य का सम्पूर्ण दर्शन, संस्कृति एवं प्रयत्न प्रकृति की एक क्रूर दृष्टि में भस्मसात हो जाते हैं। श्रद्धा के सम्पूर्ण दर्शन को स्वीकार करते हुए भी मनु जीवन की विवशता की उपेक्षा नही कर सकते—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं सन्देह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।[1]

किन्तु श्रद्धा जीवन की वह आशावादी प्रेरणा है जो मनु की पराजित मनोवृत्ति से किसी भी रूप में समझौता नही कर सकती। वह वैराग्य और अनैश्वर्य की भावनाओ को जीवन का सत्य न मानकर 'दीन अवसाद' मानती है। जीवन 'आशा, आकांक्षा और आह्लाद' से परिपूर्ण है जिसका हम परिस्थितियो की विषमताओं के कारण विस्मरण भले ही कर दे, जीवन की गति को उलटा प्रवाहित नही कर सकते।[2] प्रकृति के नियमो में पुरातनता के प्रति अनुराग कहीं नही मिलता। पल-पल परिवर्तनशील प्रकृति 'पुरातनता' का भार एक क्षण के लिए भी वहन नही कर सकती। अत जगत् और जीवन की परिवर्तनशीलता का अनुभव करके मनुष्य को हताश कभी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक परिवर्तन अपने मे नवीनता का रहस्य छिपाए रहता है।[3]

श्रद्धा मनु की उदासीनता के मूल मे उनका एकाकी और निरवलम्ब जीवन पाती है अत नारीसुलभ हृदय की समस्त सद्वृत्तियों—दया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास—के साथ

१—कामायनी, पृ० ६२।

२—"तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।"
कामायनी, पृ० ६३।

३—"प्रकृति के यौवन का शृङ्गार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द किए है परिवर्तन में टेक।"
कामायनी, पृ० ६३।

आत्म-समर्पण कर देती है। आत्म-समर्पण करने के साथ-साथ वह मनु को प्रेरित करती है—

बनो संस्कृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।[१]

श्रद्धा के आत्म-समर्पण और उसकी इस आशावादी प्रेरणा से हमें आशा होने लगती है कि 'कामायनी' के नायक मनु अवश्य ही एक नवीन संस्कृति को जन्म देंगे। किन्तु प्रबन्धकार प्रसाद मनु को शैव आनन्द-लोक तक पहुँचाने के अतिरिक्त समाज के सम्मुख जीवन का कोई अन्य आदर्श उपस्थित नहीं कर पाते।

श्रद्धा का सन्देश केवल वैयक्तिक समृद्धि को ही लक्ष्य नहीं करता सामूहिक जीवन—मानवता—के लिए भी उसका उतना ही महत्व है। श्रद्धा प्रकृति पर मनुष्य की विजय देखना चाहती है। मनुष्य का प्रकृति के उपकरणों पर अधिकार चाहती है—यह अधिकार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक ही हो सकता है। 'शक्तिशाली होकर विजयी बनना' उसकी दृष्टि में 'विधाता का मंगलमय वरदान है' जो विधाता ने कदाचित् मनुष्य को ही प्रदान किया है। श्रद्धा की दृष्टि में 'जीवन आकर्षण का केन्द्र' है। जीवन का आकर्षण ही मनुष्य को भौतिक समृद्धि के लिए प्रेरित करता है।[२] देव-संस्कृति के विध्वंस के मूल में उसकी एकान्त विलास-वासना सन्निहित थी जिसने उसे सामूहिक जीवन की समृद्धि से वंचित किया था। अतः मानव-संस्कृति को उसके विनाश की भस्म पर नवीन संस्कृति को जन्म देना है। सामूहिक जीवन की चेतना मानवीय समृद्धि का मूल है। कर्म के द्वारा मानव एक नवीन

१—कामायनी, पृ० ६५।

२—"और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो विजयी बनो' विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी सकल समृद्धि।"
कामायनी, पृ० ६५–६६।

संस्कृति को जन्म देगा जो 'विश्व के हृदय-पटल पर चिरकाल तक दिव्य अक्षरों में अंकित रहेगी।'[१]

श्रद्धा भौतिक बाधाओं को विजित करने के लिए मनु को उत्साहित करती हुई उनके सम्मुख जीवन की आशावादी कामना प्रकट करती है—

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण ;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द ,
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें-उतरायें ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार ,
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ा मय सञ्चार।

शक्ति के विद्युत कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय ,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।[२]

१—"देव असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज ;
पड़ा है बन मानव-सम्पत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज।
चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य ,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।"
कामायनी, पृ० ६६।

२—कामायनी, पृ० ६६–६७।

श्रद्धा द्वारा प्रतिपादित शक्ति की इस उपासना में मानव-संस्कृति की कल्याण-कामना छिपी हुई है। मनुष्य परिस्थितियों की विषमता के कारण पृथ्वी से पलायन करके सामूहिक समृद्धि में योग कभी नहीं दे सकता। उसे विषमताओं का सामना करना ही पड़ेगा—प्रकृति की दुर्जेय शक्तियों को कुचल कर अपने वश में करना पड़ेगा। प्रकृति के प्रकोपों को सहन करके उसे सामूहिक उन्नति करनी पड़ेगी। यह सब तभी सम्भव है जब वह अदम्य उत्साह से आगे बढ़े। समाज की बिखरी हुई शक्ति को एकत्र करके भौतिक समृद्धि में संलग्न हो जाय। श्रद्धा के शब्दों में कवि ने समाज के सम्मुख सामूहिक जीवन का यही आशावादी लक्ष्य उपस्थित किया है। मनु की मनःस्थिति की तुलना तत्कालीन सामाजिक चेतना से की जा सकती है। सांस्कृतिक अधःपतन, पराधीनता और आर्थिक शोषण के द्वारा उत्पीड़ित तत्कालीन भारतीय समाज निराशावादी विचारों के वशीभूत हो रहा था। जीवन विवश एवं निरुपाय है, संसार मिथ्या और दुःखपूर्ण है आदि निराशावादी भावनाओं की छायावादी काव्य में प्रचुरता से अभिव्यक्ति हो रही थी जिसका अध्ययन हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं। प्रसाद ने श्रद्धा के शब्दों में, अनैश्वर्य, रुदन, प्रलाप, निष्क्रियता, अकर्मण्यता, जीवन से पलायन आदि निराशावादी मनोवृत्तियों के विरुद्ध समाज को कर्मण्यता और शक्ति-संचय का आशावादी संदेश दिया है। मानव-जीवन अभिशाप नहीं अपितु 'विधाता की कल्याणी सृष्टि है', समाज की बिखरी हुई शक्ति के संचय और समन्वय के द्वारा 'मानवता विजयिनी' होगी आदि भावनाएँ कवि के आशावादी दृष्टिकोण को उपस्थित करती हैं।

कवि ने श्रद्धा के द्वारा अभिव्यक्त इन आशावादी विचारों का यदि अपने महाकाव्य में निर्वाह किया होता तो 'कामायनी' अपने युग का अद्वितीय आशावादी महाकाव्य सिद्ध होता। किन्तु, कथानक में सहसा परिवर्तन हो जाता है। आगामी सर्गों में श्रद्धा की सम्पूर्ण वाक्‌पटुता, आशावादी प्रेरणा और भावोन्मेष मनु के हृदय में केवल काम-वासना ही उत्पन्न कर पाता है। मनु की आत्म-ग्लानि और निर्वेद श्रद्धा के साहचर्य से समाप्त हो जाता है किन्तु इन निराशावादी भावनाओं का स्थान निष्क्रिय काम-वासना ले लेती है। श्रद्धा भी

जीवन के श्रेय पक्ष का परित्याग करके सामान्य रमणी का रूप धारण कर लेती है। प्रकृति की जो शक्ति मनु में अतृप्ति और काम-वासना के रूप में व्यक्त होती है वही श्रद्धा के व्यक्तित्व में लज्जा का रूप धारण कर लेती है। हमें आश्चर्य होने लगता है कि अपने प्रथम परिचय के समय श्रद्धा ने 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' का जो आदर्श मनु के सम्मुख उपस्थित किया था वह अचानक दोनों की दृष्टियों से सर्वथा लुप्त क्यों हो जाता है। मनु आसुरी प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर पशु-यज्ञ और सोमपान में दिन व्यतीत करने लगते हैं और श्रद्धा मातृत्व-भाव में लीन होकर भविष्य के सुनहले सपने सँजोने लगती है। मनु अपनी उपेक्षा को न सह सकने के कारण घर से निकल पड़ते हैं। जीवन का रहस्य और उसका लक्ष्य उनके लिए एक पहेली बन जाता है।

एक दिन भूलते-भटकते मनु का साक्षात्कार सारस्वत प्रदेश की रानी इडा से होता है। मनु इड़ा की सहायता से समाज की व्यवस्था करते हैं और प्रकृति पर विजय पाने के अनेक साधनों की शिक्षा देकर उसके समाज की व्यवस्था करते हैं। हम आशा कर सकते हैं कि मानव-समाज की सर्वप्रथम व्यवस्था करनेवाला महापुरुष अवश्य ही त्यागी और सयमी होगा। अपने चरित्र के द्वारा वह समाज के सम्मुख सामूहिक जीवन के उच्च आदर्शों—सहयोग, सहानुभूति, आत्म-त्याग आदि—को उपस्थित करेगा। किन्तु वैसा हो नहीं पाता। समाज का नियता स्वय नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करना चाहता। वह निर्बाध अधिकार चाहता है और उस अधिकार-क्षेत्र में स्वय इडा को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मिलित करना चाहता है। प्रजा दैवी-प्रकोप से त्रस्त होकर अपने प्रजापति के द्वार पर शरण खोजने को आती है और प्रजापति एक अबला को अपनी भुजाओं में बाँधकर अपने जीवन को सफल करने की धुन में सलग्न रहते हैं।[1]

प्रजापति के द्वार पर त्राण की आशा से आयी हुई जनता को अपनी रानी के अपमान के विरुद्ध आवाज उठाने के उपलक्ष में अग्नि-शरों का लक्ष्य बनना पड़ता है।

१—देखिए, कामायनी, सघर्ष-सर्ग पृ० २०५–२०६।

मनु ने श्रद्धा का परित्याग करके जिस समय वन का पथ ग्रहण किया था, गर्भिणी श्रद्धा ने दीन अनुनय की थी "रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही!" किन्तु विषयोन्मत्त मनु ने उसकी कातर पुकार पर कोई ध्यान नहीं दिया था। प्रजा के रक्त के प्यासे प्रजापति मनु को इड़ा भी करुण शब्दों से निष्फल समझाती है—

"क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले,
जीने दे सब को फिर तू भी सुख से जी ले।"

रक्तोन्मद मनु का न हाथ अब भी रुकता था,
प्रजा पक्ष का भी न किन्तु साहस झुकता था।

वहीं धर्षिता खड़ी इड़ा सारस्वत रानी,
वे प्रतिशोध अधीर रक्त बहता बन पानी।[1]

मानव-संस्कृति के आदि पुरुष और मानव-समाज के आदि व्यवस्थापक मनु का यह कलुषित चरित्र जीवन के समस्त आदर्शों से हीन है। मनु के इस अध:पतन पर हमारा शिर लज्जा से झुक जाता है। जीवन-संघर्ष में पराजित मनु के पास श्रद्धा पुन: स्वयं जाती है और कठोर धरती का परित्याग कराके उनको किसी आनन्दलोक तक पहुँचा देती है; पुन: कर्म-क्षेत्र की ओर उन्मुख नहीं कर पाती। 'कामायनी' का नायक 'मानवता की विजय' का आदर्श भूलकर व्यक्तिगत आनन्द-भावना में निमग्न हो जाता है। शैव सामरस्यवाद की कुछ व्याख्या करने के पश्चात् कवि 'कामायनी' के कथानक की समाप्ति कर देता है। अस्तु।

भौतिक जीवन से पलायन, अकर्मण्यता और वैयक्तिक चेतना वे प्रवृत्तियाँ हैं जो 'कामायनी' को छायावादी युग की विचार-धारा से अधिक ऊँचा नहीं उठने देतीं।

१—कामायनी, पृ० २०६।

'कुरुक्षेत्र' (१९४६ ई०)—रामधारीसिंह 'दिनकर'

'कुरुक्षेत्र' प्रगतिवादी विचार-धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य है। साहित्य के विभिन्न अंगों पर आज प्रगतिवादी विचारों का आधिपत्य है। वर्गहीन समाज की स्थापना और उस स्थापना के लिए वर्ग-चेतना जागरित करना प्रगतिवादी साहित्यकार का उद्देश्य रहता है। प्रगतिवाद मार्क्स के भौतिक दर्शन को स्वीकार करता है। कर्मण्यता, आशावाद और मनुष्यमात्र में समता उसके आदर्श के विभिन्न तत्व हैं। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से इन्ही आदर्शों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। 'कुरुक्षेत्र' का कथानक घटना-प्रधान न होकर विचारप्रधान है। 'कुरुक्षेत्र' का प्रणयन गत महासमर की समाप्ति के पश्चात् हुआ है। गत विश्व-युद्ध की विकरालता ने विश्व के मनीषियों को युद्ध की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने को विवश कर दिया था इसलिए कवि ने प्रस्तुत प्रबन्ध मे युद्ध की भी विस्तृत समीक्षा की है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य जिन घातक अस्त्रों का आविष्कार कर चुका है और करता जा रहा है उनसे मनुष्य का अस्तित्व तक संकट में पड़ गया है। मनुष्य घातक अस्त्रों की प्रतिद्वन्द्वता में तो पड़ा हुआ है किन्तु किसी ऐसी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही है जिसमे युद्ध की आवश्यकता ही न रहे। प्रगतिवादी होने के नाते कवि साम्यवाद की स्थापना को ही युद्ध का अन्त कर सकने का एकमात्र उपाय मानता है।

कवि ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कुरुक्षेत्र का कथानक चुना है। 'कुरुक्षेत्र' का कथानक महाभारत की समाप्ति के पश्चात् उस युद्ध की युधिष्ठिर के ऊपर हुई प्रतिक्रिया का कथानक है। कुरुक्षेत्र का युद्ध विश्व का भीषणतम युद्ध था। विश्व-युद्ध की भीषणता को व्यक्त करने के लिए किसी भी कवि को कुरुक्षेत्र से अच्छा प्रसंग नहीं मिल सकता था। इसी प्रकार भयानक नर-संहार की मानव-हृदय पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने के लिए अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर से अधिक उपयुक्त पात्र खोजना कठिन था और शर-शैया पर विश्राम करनेवाले मृत्युञ्जय भीष्म से अधिक कर्मठ पात्र कवि को अपने विचारों की अभिव्यंजना के लिए कदाचित् ही मिलता। दूसरे शब्दों मे, कुरुक्षेत्र के युद्धोत्तर काल के वातावरण को कवि ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बड़े कौशल से चुना है और जहाँ-कहीं उसका

काम कुरुक्षेत्र के कथानक से नहीं चल पाया वहाँ स्वयं पाठकों के सम्मुख आ गया है। छठवाँ सर्ग इसी प्रकार का सर्ग है।

आधुनिक काव्य के द्विवेदी-युग की भाँति प्रगतिवादी युग का कवि कलात्मक चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए लेखनी नहीं उठाता। अपनी विचारधारा से समाज को प्रभावित करना उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। इसलिए प्रगतिवादी कवि अपने विचारों की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति करता है कि उसको समझने के लिए किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव 'कुरुक्षेत्र' के विचारों का केवल विश्लेपण करके उपस्थित कर देना पर्याप्त होगा। कवि के विचारों को उसी के शब्दों में पढ़ना ही उसको समझने के लिए अधिक उपयुक्त होगा। 'कुरुक्षेत्र' की विचारधारा को (क) युद्ध-मीमांसा, (ख) वर्तमान सामाजिक स्थिति और (ग) जीवन-दर्शन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है।

विचारों की पृष्ठभूमि—

कथानक का प्रारम्भ महाभारत की समाप्ति के पश्चात् रण-भूमि कुरुक्षेत्र पर होता है। महाभारत समाप्त हो चुका। पाण्डव विजयी हुए और कौरव पराजित। विजित कौरव-पक्ष में 'एक वृद्धा, एक अन्धे के सिवा' और कोई शेष नहीं रह गया। विजेता पाण्डव-पक्ष में भी पाँचों पाण्डव और द्रौपदी ही जय का हर्ष मनाने के लिए बच रहे हैं। धर्मराज युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र की 'रक्त भीगी मेदिनी' का अवलोकन करके अत्यन्त दुखी हैं। उनका हृदय भीषण नर-संहार देखकर और अनाथों की चीत्कार सुन कर आत्मग्लानि, विषाद और पश्चात्ताप के भार से दबा-सा जा रहा है अत वे पितामह भीष्म के समीप जाने का निश्चय करते हैं।[1]

१—वज्र-सा कुछ टूट कर स्मृति से गिरा,
दब गये कौन्तेय दुर्वह भार से,
× × ×
भर गया ऐसा हृदय दुख-दर्द से
फेन या बुदबुद नहीं उसमें उठा,
खींचकर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे,
'पार्थ, मैं जाता पितामह पास हूँ॥'
कुरुक्षेत्र, पृ० ७।

भीष्म पितामह शर शैया पर विश्राम कर रहे हैं। मृत्यु एक ओर हाथ बाँधे खड़ी है क्योंकि पितामह ने उसे आज्ञा दी है कि 'अभी जाने का योग नही है इसे जानकर कहाँ पास रुकी रहो ।' युधिष्ठिर भीष्म पितामह का चरण-स्पर्श करके आँसुओ में फूट पड़ते हैं और अपनी मन स्थिति एव कुरुक्षेत्र के युद्धोत्तर दृश्य को पितामह के सम्मुख विलखते हुए उपस्थित करते हैं। युधिष्ठिर भीषण नर-सहार का करुण चित्रण करने के पश्चात् अपनी पराजित मनोवृत्ति को व्यक्त करते हैं—

"करूँ आत्मघात तो कलक और घोर होगा,
नगर को छोड़ अतएव, वन जाऊँगा ,
पशु-खग भी न देख पायें जहाँ, छिप किसी
कन्दरा में बैठ, अश्रु खुल के बहाऊँगा ;
जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूँगा, दुःख ,कुछ तो भुलाऊँगा ;
व्यग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा ।"[1]

'कुरुक्षेत्र' की विचारधारा की इतनी-सी ही भूमिका है। कथानक का प्रसार और अवसान युधिष्ठिर और भीष्म के कथोपकथन में ही होता है। इस भूमिका से कवि को तीन लाभ हुए। कुरुक्षेत्र के युद्ध की भीषणता के माध्यम से वह आधुनिक युद्धों की भीषणता को पाठको के सम्मुख उपस्थित कर सका। महाभारत के कारणों की मीमासा के द्वारा आधुनिक युद्धो के कारणो की मीमांसा कर सका और युधिष्ठिर की निराशावादी मनोवृत्ति को निराशावादी भावनाओं का आधार वनाकर भीष्म के शब्दों मे अपने विचार और आदर्शों को उपस्थित कर सका। विज्ञान की वर्तमान प्रगति और समाज की वर्तमान वस्तुस्थिति को वह भीष्म या युधिष्ठिर के शव्दो मे व्यक्त कर दिया है। नहीं कर सकता था। इन्हे उसने अपने शव्दो मे व्यक्त होने पर भी 'कुरुक्षेत्र' के वर्तमान स्थिति की अभिव्यक्ति प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होती वातावरण से इतना मेल खाती है कि वह प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होती और न काव्य की रसानुभूति मे ही किसी प्रकार की वाधा उपस्थित करती है।

(क) युद्ध-मीमांसा--

'कुरुक्षेत्र' की युद्ध-मीमांसा बौद्धिक मीमांसा है। कवि (i) युद्ध के मूल कारणों की खोज करता है, (ii) युद्ध की नैतिक समीक्षा करता है और (iii) युद्ध की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। युद्ध-मीमांसा की विस्तृत समीक्षा करने मे प्रवन्ध-विस्तार का भय है अतः कवि के केवल मौलिक विचारो को उपस्थित कर देना पर्याप्त होगा।

(1) युद्ध के मूल कारण—

युद्ध के मूल कारणों मे कवि धन-लिप्सा, ईर्ष्या-द्वेष और प्रतिशोध की भावनाओं को प्रमुख मानता है और ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारो का मूल व्यक्तिगत भोगवाद अथवा आर्थिक शोषण मे पाता है। उसकी दृष्टि से व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ही मानव मानव मे इर्ष्या, विद्वेष, प्रतिशोध आदि दुर्प्रवृत्तियों को जागरित करती है और एक के पश्चात् दूसरे युद्ध को जन्म देती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के स्वत्व का अपहरण कर अपनी भोग-लिप्सा को शान्त करता है तो दूसरा अपने स्वत्व की रक्षा अथवा अपहृत स्वत्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। अत भोगलिप्सा अथवा स्वार्थ-भावना ही युद्धों का मूल कारण है।

युधिष्ठिर की निर्मल आत्मा अब इस सत्य को स्वीकार कर चुकी है कि महाभारत का मूल कारण धन-लिप्सा ही थी—

"धन ही परिणाम है युद्ध का अन्तिम,
तात, इसे यदि जानता मै,
वनवास में जो अपने में छिपी
इस वासना को पहचानता मैं,
द्रुपदा की तो बात क्या ? कृष्ण का भी
उपदेश नहीं कुछ मानता मै,
फिर से कहता हू पितामह, तो
यह युद्ध कभी नहीं ठानता मैं।"

"पर, हाय, थी मोहमयी रजनी वह,
आज का दिव्य प्रभात न था;

भ्रम की थी कुहा तम-तोम-भरी,
तब ज्ञान खिला अवदात न था ;
धन-लोभ उभारता था मुझको,
वह केवल क्रोध का घात न था ;
सबसे था प्रचण्ड जो सत्य पितामह,
हाय, वही मुझे ज्ञात न था।"[1]

युद्ध के कारणों के मूल में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धन-लिप्सा (आर्थिक शोषण) ही छिपी हुई है। कवि इसी 'सबसे प्रचण्ड सत्य' को युधिष्ठिर के शब्दों में पाठकों के सम्मुख उद्घाटित करना चाहता है। पितामह भीष्म के शब्दों में वह इस सत्य को सार्वभौम रूप दे देता है। युद्ध के कारणों का तत्वान्वेषण करते हुए भीष्म वैयक्तिक भोगवाद को मानव-समाज की ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष आदि का मूल बतलाते हैं—

"इस वैयक्तिक भोगवाद से
फूटी विष की धारा,
तड़प रहा जिसमें पड़कर
मानव-समाज यह सारा।"[2]

सभ्य-समाज युद्ध की चाहे जितनी निन्दा करे किन्तु जब तक भिन्न-भिन्न स्वार्थों का संघर्ष समाज में विद्यमान है युद्धों का निराकरण नहीं किया जा सकता। धर्मराज को समझाते हुए भीष्म कहते हैं—

"युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।"[3]

युद्ध का जो नियम व्यक्ति पर लागू होता है वही वर्ग पर भी और वही राष्ट्र अथवा देश पर। कवि ने 'युद्ध का उन्माद संक्रमशील' माना है जो 'राजनीतिक उलझनों के व्याज से' अथवा 'देश-प्रेम का अवलम्ब लेकर' मानव-समूहों को युद्ध के लिए विवश कर देता है। अवलम्ब कुछ भी हो, व्याज कोई भी खोज लिया जाए किन्तु समस्त

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ८१।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० १०४।
३—कुरुक्षेत्र, पृ० १७।

संघर्षों के 'मूल में वही हलाहल भरा रहता है जो घृणा और स्वार्थमय विद्वेष से' उत्पन्न होता है।[1]

(ii) युद्ध की नैतिक समीक्षा—

युद्ध की नैतिक समीक्षा में तीन प्रश्नों का समाधान खोजा गया है—(१) क्या युद्ध करना पाप है ? (२) क्या क्षमा, दया, अहिंसा आदि नैतिक साधनों के द्वारा शत्रु पर विजय पाना सम्भव है ? और (३) युद्ध का उत्तरदायित्व किस के ऊपर है ? इन तीनों प्रश्नों के उत्तर कवि ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से दिए हैं। प्रगतिवादी दर्शन अपने अधिकारों की प्राप्ति एवं अन्यायों का प्रतिशोध लेना पाप नहीं अपितु कर्त्तव्य मानता है। दया, क्षमा, उदारता आदि के द्वारा अत्याचारी अथवा अन्यायी को कभी विजित नहीं किया जा सकता। युद्ध का उत्तरदायित्व उस पर है जो शोषण और अनीति का जाल बिछाता है न कि उसपर जो उस जाल को विच्छिन्न करने के लिए शस्त्र उठाता है। भीष्म के शब्दों में कवि ने इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति की है।

(१) क्या युद्ध करना पाप है ?—

कोई भी कर्म अपने आप में पाप या पुण्य नहीं है और न पाप-पुण्य में कोई सीमा-रेखा ही खींची जा सकती है। अतः युद्ध करना भी स्वतः न पाप कहला सकता है और न पुण्य। पाप और पुण्य का विवेचन केवल उद्देश्य की दृष्टि से ही किया जा सकता है। युद्ध, यदि दूसरों का शोषण और स्वत्व-अपहरण के लिए किया जाता है, अधर्म कहला सकता है किन्तु युद्ध यदि अपनी स्वत्व-प्राप्ति अथवा अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए किया जाता है पाप कभी नहीं कहला सकता—

"है मृषा तेरे हृदय की जल्पना,
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है;
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो।
× × ×
"जानता हूँ किन्तु, जीने के लिए
चाहिए अंगार-जैसी वीरता,

१—देखिए, कुरुक्षेत्र पृ० १४।

पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।"[1]

अन्याय, अपहरण और शोषण के विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करना पाप नहीं है अपितु प्रगतिवादी कवि की दृष्टि से प्रतिशोध की भावना से हीन होना अथवा अन्याय के प्रतिकार की क्षमता न रखना पाप है—

"प्रतिशोध से है होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है,
छोड़ प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वह्नि ताप है;
चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भाँति, तीर—
जिसके निषङ्ग में, करों में दृढ़ चाप है;
जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु,
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।"[2]

वर्ग-संघर्ष का हिमायती प्रगतिवादी कवि प्रतिशोध और घृणा की भावनाओं को कभी निन्द्य नहीं ठहरा सकता। समाज की प्रत्येक कुत्सा का उत्तरदायित्व शोषक वर्ग पर डालने के पश्चात् वह सर्वहारा-वर्ग को पूँजीपति-वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने को उकसाता है। भीष्म के द्वारा की गई इस युद्ध-मीमांसा में वर्ग-संघर्ष की भावना अनेक स्थलों पर व्यक्त की गई है।

(२) क्या नैतिक बल से अन्यायी पर विजय पाना सम्भव है ?

प्रगतिवादी विचारधारा नैतिक मूल्यों को स्वीकार करती हुई भी अहिंसा, क्षमा आदि के नैतिक साधनों के द्वारा हृदय-परिवर्तन अथवा अन्यायी के सुधार में विश्वास नहीं करती। 'विनाशाय दुष्कृताम्' शस्त्र ग्रहण करना ही पड़ता है। दिनकर ने इस प्रसंग में गांधी के अहिंसावाद पर खुलकर प्रहार किया है। अहिंसात्मक नीति को अव्यावहारिक एवं कायरता की नीति घोषित किया है। गांधी के रामराज्य और मार्क्स के साम्यवाद के आदर्शों में उतना अन्तर

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १६–१७।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० ३१।

नहीं जितना दोनों के साधनों में है। गांधी का अटूट विश्वास अहिंसा, निष्क्रिय प्रतिशोध आदि आध्यात्मिक साधनों में था और मार्क्स 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की नीति का समर्थक था। प्रगतिवादी कवि का मार्क्स की नीति का समर्थक होना स्वाभाविक है।

युद्ध में भाग लेने को अथवा अन्याय का प्रतिकार करने को मनुष्य का धर्म मानने के पश्चात् कवि दूसरी समस्या पर विचार करता है। वह है युद्ध के रूप के विषय में। महाराज युधिष्ठिर ने पितामह के सम्मुख पश्चात्ताप करते हुए अहिंसात्मक रीति से दुर्योधन के हृदय-परिवर्तन की बात कही थी—

"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।"[1]

किन्तु भीष्म युद्ध के इस अहिंसात्मक रूप को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। वे व्यक्तिगत जीवन में तो नैतिक मूल्यों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं लेकिन जहाँ समूह का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ तप और त्याग के आदर्शों का विस्मरण करना ही पड़ता है—

"व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय, भी त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।"[2]

सामाजिक जीवन जबतक ईर्ष्या, द्वेष, शोषण और संघर्ष से परिपूर्ण है तबतक तप-त्याग के आदर्श अव्यावहारिक हैं। तप और त्याग या तो समाज से निरपेक्ष किसी संन्यासी के आदर्श सम्भव हो सकते हैं या फिर उस कायर की पाखण्डमय नीति का अवलम्ब हो सकते हैं जो पौरुषहीन है और जो गौरवपूर्ण मरण से ग्लानिमय जीवन को श्रेष्ठतर समझता है—

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ६।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० २८।

"त्याग, तप, भिक्षा ? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर,
त्याग, तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं ;
याकि उसकी नीति, जिसके हाथ में शायक नहीं ;
या मृषा पाषण्ड यह उस कापुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं।"[1]

अहिंसात्मक नीति को शक्तिहीन एवं पौरुषहीन व्यक्तियों की नीति घोषित करने के पश्चात् कवि अपने सिद्धान्त का भीष्म के ओजपूर्ण शब्दों में प्रतिपादन करता है—

"स्वत्व माँगने से न मिलें, संघात पाप हो जायें,
बोलो धर्मराज, शोषित वे जियें या कि मिट जायें,
न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिलें तो लड़के,
तेजस्वी छीनते समर को जीत, या कि खुद मरके।
किसने कहा, पाप है समुचित, स्वत्व-प्राप्ति-हित लड़ना ?
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना-मरना ?
हिंसा का आघात तपस्या ने कब कहाँ सहा है ?
देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।"[2]

कवि अपने विचारों की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्पष्ट है। उसके विचार से शोषण का अन्त केवल शस्त्रों के द्वारा डटकर युद्ध करने से ही हो सकता है। प्रगतिवादी कवि अहिंसात्मक नीति को अव्यावहारिक एवं कायरों की नीति मानता है। अपहृत अधिकारों को युद्ध के द्वारा ही छीना जा सकता है, उनकी प्राप्ति भिक्षा-नीति के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है। गांधीवादी नीति से कवि किसी भी शर्त पर समझौता करने को प्रस्तुत नहीं है।

गांधी-युग के पूर्व अहिंसात्मक नीति का भारतीय सामाजिक जीवन में अस्तित्व नहीं था। गांधी जी के राजनीति में अवतीर्ण होने के पूर्व आधुनिक हिन्दी-काव्य में अहिंसावाद का अस्तित्व नहीं मिलता। सन् १६१४ में लिखे गए 'प्रियप्रवास' का कवि

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १६।

२—कुरुक्षेत्र, पृ० २६–२७।

भी 'कुरुक्षेत्र' के कवि के समान अत्याचारी को दण्ड देना कर्तव्य समझता है—

"अवश्य हिंसा अति निन्द्य कर्म है।
तथापि कर्त्तव्य प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से।
वसुन्धरा में पनपे न पातकी॥

समाज-उत्पीड़क धर्म्म-विप्लवी।
स्वजाति का शत्रु दुरन्त-पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुंज का।
न है क्षमा-योग्य वरच वध्य है॥"[1]

प्रगतिवादी युग और द्विवेदी-युग के आदर्शों में पर्याप्त समानता है। अन्तर केवल इतना है कि द्विवेदी-युग का मनुष्य-द्रोही कोई भी मनुष्य हो सकता है जबकि प्रगतिवादी युग का समाज-उत्पीड़क केवल शोषक वर्ग का ही कोई सदस्य होगा।

(३) युद्ध का उत्तरदायित्व किस पर है ?—

प्रगतिवादी विचारधारा को समझ लेने के पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर अनायास दिया जा सकता है। प्रगतिवादी कवि युद्ध का मूल कारण पूँजीपति-वर्ग की धन-लिप्सा को मानता है अतः युद्ध का उत्तरदायित्व स्वाभाविक रूप से सत्ताधारी पूँजीपति-वर्ग पर ही पड़ेगा। कवि की दृष्टि से पूँजीपति-वर्ग साधारण जन-समाज का न केवल आर्थिक शोषण करता है अपितु अपने अहंकार के वशीभूत होकर उसका अपमान भी करता है। इस अहंकार, अन्याय, अत्याचार एवं शोषण को सहते-सहते यदि साधारण जन-समाज (सर्वहारा-वर्ग) का हृदय घृणा और प्रतिशोध की भावनाओं से भर जाता है और वह अपने हितों की रक्षा के लिए शस्त्र उठा लेता है तो उस भीषण नरसंहार का उत्तरदायित्व साधारण जनता पर कभी नहीं डाला जा सकता। कवि पहले उस वातावरण को उपस्थित करता है जो जन-समाज को युद्ध के लिए विवश करता है और फिर अपने निर्णय को प्रश्न के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देता है। प्रसंग कुछ लम्बा अवश्य

१—प्रियप्रवास, पृ० २२०–२२१।

है किन्तु प्रगतिवादी साहित्यकार की वर्ग-घृणा को भली भाँति व्यक्त करता है अत उसका पर्याप्त अश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

"जहाँ पालते हों अनीति-पद्धति को सत्ताधारी ;
जहाँ सूत्रधर हों समाज के अन्यायी, अविचारी ;
नीतियुक्त प्रस्ताव सन्धि के जहाँ न आदर पायें ;
जहाँ सत्य कहनेवालों के शीश उतारे जायें ;
जहाँ खड्ग-बल एकमात्र आधार बने शासन का ;
दबे क्रोध से भभक रहा हो हृदय जहाँ जन-जन का ,
सहते-सहते अनय जहाँ मर रहा मनुज का मन हो ;
समझ कापुरुष अपने को धिक्कार रहा जन-जन हो ;
अहकार के साथ घृणा का जहाँ द्वन्द्व हो जारी ;
ऊपर शान्ति तलातल मे हो छिटक रही चिनगारी ;
आगामी विस्फोट काल के मुख पर दमक रहा हो ;
इगित में अङ्गार, विवश भावों के चमक रहा हो ;
पढकर भी सकेत सजग हों किन्तु, न सत्ताधारी ;
दुर्मति और अनल में दें आहुतियाँ बारी-बारी ,
कभी नये शोषण से, कभी उपेक्षा, कभी दमन से ;
अपमानों से कभी, कभी शरवेधक व्यग्य-वचन से ,
दबे हुए आवेग वहाँ यदि उबल किसी दिन फूटें ;
सयम छोड़, काल बन मानव अन्यायी पर टूटें ;
कहो, कौन दोषी होगा उस दारुण जगद्दहन का ?
अहकार या घृणा ? कौन दोषी होगा उस रण का ?'

भीष्म के शब्दों में कवि ने सत्ताधारी-वर्ग और उसके अहंकार को रूप मे चित्रित किया है उसके आधार पर यही उत्तर दिया जा है कि युद्ध का उत्तरदायित्व शोषक के 'अहकार' पर ही होगा की 'घृणा' पर नहीं हो सकता। कवि अपनी इस बात की पा निर्विरोध स्वीकृति चाहता है अत भीष्म के शब्दों में इसी अनेक बार अनेक प्रकार से पूछता है। जैसे—

"युद्ध को बुलाता है अनीति-ध्वजधारी या कि
— जो अनीति-भाल पै दे पाँव चलता ?

वह जो दबा है शोषणों के भीम शैल से या
वह जो खड़ा है मग्न हँसता-मचलता ?
वह जो बना के शान्ति-व्यूह, सुख लूटता या
वह जो अशान्त हो क्षुधानल से जलता ?
कौन है बुलाता युद्ध ? जाल जो बनाता ?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता ?"[1]

अथवा

"पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?"[2]

प्रगतिवादी कवि वर्ग-घृणा, वर्ग-प्रतिशोध और वर्ग-संघर्ष की तीव्र अभिव्यक्ति करता है अतएव अपने घृणा-प्रचार और प्रतिशोध की भावनाओं को उद्दीप्त करने के निन्द्य समझे जानेवाले कार्य को उचित ठहराने के लिए घृणा और प्रतिशोध की भावनाओं को पहले उचित ठहराना चाहता है। कदाचित् इसी उद्देश्य से कवि ने इस भाव की इतनी विशद अभिव्यंजना की है।

(iii) युद्ध की समस्या का समाधान—

युद्ध निस्संदेह निन्दनीय है। नर-संहार पाप है। किन्तु युद्ध को केवल निन्द्य या पाप कह देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। समाज में चिरस्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए समाज की उस व्यवस्था का और मनुष्य की उस प्रवृत्ति का उन्मूलन करना पड़ेगा जो मनुष्य को युद्ध के लिए विवश करती है। प्रगतिवादी कवि युद्ध की समस्या का समाधान साम्यवादी व्यवस्था में खोजता है। वह जन-समाज को अपने अधिकार और स्वत्व के प्रति सजग बनाकर एवं उसको संगठित और शक्ति-सम्पन्न बनाकर शोषक-वर्ग की धन-लिप्सा की पूर्ति के अवसर को समाप्त कर देना चाहता है। रामधारीसिंह ने 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म पितामह के द्वारा यही समाधान प्रस्तुत किया है।

समाज ने शान्ति की स्थापना को सामाजिक जीवन का लक्ष्य

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ३२।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० ३७।

मानकर कवि शान्ति के दो रूप प्रस्तुत करता है। (१) कृत्रिम शांति और (२) वास्तविक शांति। प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में पूँजीवादी व्यवस्था में सत्ताधारी वर्ग के द्वारा अनीति, अत्याचार और शक्ति के द्वारा सामान्य जन-समाज के ऊपर थोपी गई शान्ति खोखली शान्ति है, साम्यवादी व्यवस्था के द्वारा स्थापित शान्ति ही वास्तविक शान्ति होगी जिसका आधार मानव का मानव में विश्वास, स्नेह और सहानुभूति होगी। शान्ति के दोनों रूपों का दिग्दर्शन कवि के शब्दों में करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

(१) कृत्रिम शान्ति—

"समर निन्द्य है धर्मराज पर, कहो शान्ति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर भी बनी हुई सरला है?
सुख-समृद्धि का विपुल कोष संचित कर कल, बल, छल से,
किसी क्षुधित का ग्रास छीन, धन लूट किसी निर्बल से।
सब समेट, प्रहरी बिठला कर कहती 'कुछ मत बोलो,
शान्ति-सुधा बह रही, न इसमें गरल क्रान्ति का घोलो।
हिलो-डुलो मत, हृदय-रक्त अपना मुझको पीने दो,
अचल रहे साम्राज्य शान्ति का, जियो और जीने दो।'
सच है, सत्ता सिमट-सिमट जिनके हाथों में आई,
शान्तिभक्त वे साधु पुरुष क्यों चाहें कभी लड़ाई।
× × ×
"कृत्रिम शान्ति सशंक आप अपने से ही डरती है,
खड्ग छोड़ विश्वास किसी का कभी नहीं करती है।
और जिन्हें इस शान्ति-व्यवस्था में सुख भोग सुलभ है,
उनके लिए शान्ति ही जीवन-सार, सिद्धि दुर्लभ है।
पर, जिनकी अस्थियाँ चबाकर, शोणित पीकर तन का,
जीती है यह शान्ति, दाह समझो कुछ उनके मन का।"[1]

कवि अपने विचारों की अभिव्यक्ति में पूर्ण स्पष्ट है। वह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के द्वारा स्थापित शान्ति को कृत्रिम शान्ति घोषित करता है। शान्ति के नारों को पूँजीपतियों की छद्मपूर्ण नीति मानता है। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न करके जनता को समाज की व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना को उभाड़ता है।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० २१–२२ और २६।

(२) वास्तविक शान्ति—

"शान्ति नहीं तबतक जबतक सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।
ऐसी शान्ति राज्य करती है तन पर नहीं, हृदय पर,
नर के ऊँचे विश्वासों पर, श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर।
न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है, जब तक न्याय न आता,
जैसा भी हो, महल शान्ति का सुदृढ नहीं रह पाता।

× × ×

"शान्ति नाम उस रुचिर सरणि का, जिसे प्रेम पहचाने,
खड्ग-भीत तन ही न, मनुज का मन भी जिसको माने।

× × ×

"जब होती अवतीर्ण शान्ति यह, भय न शेष रह जाता,
शंका-तिमिर-ग्रस्त फिर कोई नहीं देश रह जाता।
शान्ति! सुशीतल शान्ति! कहाँ वह समता देनेवाली?
देखो आज विषमता की ही वह करती रखवाली।"[1]

स्थायी और वास्तविक शान्ति की स्थापना केवल साम्यवादी समाज-व्यवस्था में ही सम्भव है। साम्यवादी समाज की स्थापना ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का एकमात्र हल है। वास्तविक शान्ति का आधार सामाजिक न्याय, समता, विश्वास और प्रेम है। किन्तु आज के पूँजीवादी समाज में शान्ति का वास्तविक स्वरूप दुर्लभ है। आज जिसे शान्ति समझा जा रहा है, वह 'विषमता की रखवाली करनेवाली शान्ति है' जिसके विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए कवि घृणा और प्रतिशोध की भावनाओं को उद्दीप्त करता है। युद्ध का अन्त और शान्ति की स्थापना करने के लिए कवि के पास सीधा-सा हल है—

"रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो;

१—कुरुक्षेत्र, पृ० २५, ३५ और ३६।

"वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।"[1]

अजा के छागलों' को—शोषण की चक्की में पिसनेवाले सर्वहारा वर्ग को—'वृक और व्याघ्र'—क्रूर सत्ताधारी पूँजीपति वर्ग—के अत्याचारों से मुक्त करने के लिए 'व्याघ्र'—क्रूर और शक्ति सम्पन्न—बनाना होगा। अनेक वृक्षों के जीवन-रस का शोषण करनेवाले 'भीमकाय वृक्ष की डालियों को'—अनेक मनुष्यों की जीवन-सुविधाओं का अपहरण करनेवाले पूँजीपति की सुख-सुविधाओं को—'काटना पड़ेगा'—सीमित करना पड़ेगा। तभी युद्धों का अन्त हो सकेगा अन्यथा युद्ध अनिवार्य है। अस्तु।

'कुरुक्षेत्र' की युद्ध-मीमांसा प्रगतिवादी युद्ध-मीमांसा है जिसमें परिस्थिति की विषमता पर निष्क्रिय रुदन नहीं किया गया अपितु उसका बौद्धिक विवेचन कर के एक समाधान प्रस्तुत किया गया है अतएव निराशावाद को इस युद्ध-मीमांसा में कोई स्थान नहीं है। प्रगतिवादी अथवा मार्क्सवादी विचार-धारा का अध्ययन करने के पश्चात् यदि 'कुरुक्षेत्र' की युद्ध-मीमांसा का अनुशीलन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि युद्ध की समस्या पर व्यक्त किए गए विचारों मे कोई भी विचार कवि की अपनी सूझ नहीं है। उसने साम्प्रदायिक विचारों को ओजपूर्ण शैली के माध्यम से व्यक्त किया है और अपने प्रयत्न में सफल भी हुआ है किन्तु वह एक राजनीतिक मतवाद के दायरे से प्राय बाहर नहीं निकल पाया है। वस्तुत साम्प्रदायिकता ने कवि-स्वातन्त्र्य को बहुत-कुछ सीमित कर दिया है।

(ख) वर्तमान सामाजिक स्थिति—

वर्तमान समाज की पूँजीवादी व्यवस्था पर कवि ने भीष्म पितामह के शब्दों में डटकर प्रहार किया है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक समृद्धि का चित्र वह कुरुक्षेत्र के कथानक के माध्यम से अंकित नहीं कर सकता था, अत. प्रबन्ध काव्य के छठवें सर्ग में आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति और उस उन्नति के परिणाम स्वरूप आधुनिक समाज के अध पतन को व्यक्त करने के लिए उसे स्वयं आगे आना पड़ा है। वर्तमान सामाजिक स्थिति का चित्रण करने में उसने यह उपस्थित किया है कि मनुष्य ने आज जितनी भौतिक उन्नति की है उतनी नैतिक उन्नति नहीं की। इस भूलोक का निवासी मनुष्य बिना साम्यवादी व्यवस्था को अपनाए जीवन के वास्तविक लक्ष्य और श्रेय तक नहीं पहुँच सकता; वह न तो सांस्कृतिक उन्नति कर सकता है और न सुख और शान्ति का ही अनुभव कर सकता है।

(i) समाज की वर्तमान भौतिक उन्नति—

पूर्वयुग-सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुका है दूर द्वापर से बहुत संसार;
यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण, समर्थ;
खुल गए हैं गूढ़ संसृति के अमित गुरु अर्थ।
चीरता तम को, सँभाले बुद्धि की पतवार,
आगया है ज्योति की नवभूमि में संसार।

आज की दुनिया विचित्र, नवीन;
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन।
हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत्, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप।
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित्, गिरि, सिन्धु, एक समान।

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्व करते हैं मनुज के कार्य;
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश,
और करता शब्दगुण अम्बर वहन सन्देश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश![1]

मनुष्य की इस भौतिक उन्नति से उसकी सात्विक-प्रवृत्तियों का सामजस्य नही हो सका है। मनुष्य अभी मानव मानव के व्यवधान को दूर नहीं कर पाया है। इस भौतिक उन्नति के द्वारा वह किस दिशा को जा रहा है, उसका 'क्या लक्ष्य और क्या उद्देश्य' है; यह उसको स्वयं ज्ञात नही है। अत उसकी भौतिक समृद्धि उसी के हाथों से उसका संहार कर रही है।

(11) समाज का वर्तमान नैतिक स्तर—

मनुष्य आज द्वापर को कोसो दूर छोड़ आया है। भौतिक साधनों से वह आज जितना सम्पन्न है उतना सम्पन्न वह पूर्व युगों में कभी नही था। किन्तु, उसका नैतिक स्तर आज उतना ही गिरा हुआ है जितना पूर्व युगों में गिरा हुआ था—

अपहरण, शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुकार भरता नाग।[2]

इस नैतिक अध पतन का मूल कारण यह है कि मनुष्य की बुद्धि जितनी विकसित हो चुकी है, हृदय का उतना परिष्कार नहीं हो पाया—

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ८८–८९।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० ८७–८८।

किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश ;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।[1]

सात्विक वृत्तियों के अभाव के कारण आज का सभ्य मनुष्य 'अपना आप ही आहार' बन रहा है। वह 'वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच'[2] बना हुआ है। उसकी बुद्धि 'दानवी और स्थूल की जिज्ञासु है।'[3] भौतिक समृद्धि और नैतिक स्तर में सामंजस्य न हो सकने के कारण 'विज्ञान के फूल' उसके हाथ से 'वज्र होकर छूट' रहे हैं।

(iii) वर्तमान समस्याओं का साम्यवादी समाधान—

प्रगतिवादी कवि किसी समस्या पर विचार करके उसको उलझी हुई कभी नहीं छोड़ता। वर्तमान समाज की भौतिक उन्नति और नैतिक अध पतन को चित्रित करने के पश्चात् वह अपना समाधान प्रस्तुत करता है। प्रगतिवादी कवि का समाधान साम्यवादी विचार-पद्धति के बाहर कभी नहीं जा सकता। साम्यवादी समाधान को कवि के शब्दों में पढ़ना ही अधिक रोचक होगा—

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास—
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।

युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जब कि होगी सत्य ही वसुधा सुधा से युक्त।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ८८।
२—देखिए—कुरुक्षेत्र, पृ० ९१।
३—देखिए—कुरुक्षेत्र, पृ० ९२।

श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?[1]

प्रगतिवादी कवि के पास समस्त रोगों की एक रामबाण औषधि है, और वह है 'समता विधायक ज्ञान' या साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना। साम्यवादी समाज-व्यवस्था के पश्चात् मनुष्य के समस्त दुख, दैन्य, अभाव और अशान्ति दूर हो जायगी। इस व्यवस्था के द्वारा यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जायगी फिर मनुष्य को स्वर्ग-कामना या मोक्ष-प्राप्ति की न इच्छा रहेगी और न आवश्यकता। अस्तु। कुछ भी हो, प्रगतिवादी कवि के पास कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त हैं, समाज की कुत्सा का एक उपचार है अतएव उसे परिस्थितियों की विवशता के कारण कल्पना और स्वप्नों के इन्द्रजाल में नहीं भटकना पड़ता और न समाज की कुत्सा से दुखित एव निराश होकर आत्मकेन्द्रित ही बनना पड़ता है। प्रगतिवादी कवि अपने सुनिश्चित दर्शन के कारण निराशावाद से कोसों दूर रहता है।

प्रगतिवाद और छायावादी चेतना की तुलनात्मक समीक्षा—

'कुरुक्षेत्र' के कलाकार रामधारीसिंह 'दिनकर' ने समाज की वर्तमान स्थिति को जिस रूप में देखा है 'ज्योत्स्ना' (१९३४ ई०) के प्रणेता सुमित्रानन्दन पत ने भी उसका (सामाजिक-स्थिति का) लगभग उसी रूप मे अवलोकन किया था। रोग के लक्षण प्रत्यक्ष एव स्थूल होने के कारण दोनों की दृष्टि में एक से हैं, किन्तु रोग के कारणों का परीक्षण दोनों का भिन्न है अतएव उपचार सर्वथा भिन्न है। दिनकर वर्तमान कुत्सा और सघर्ष का कारण पूँजीवाद में

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ९५-९६।

खोजते हैं अत जनता की संगठित शक्ति के द्वारा उसका अन्त करके साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना को समाज के रोग का उपचार मानते हैं किन्तु अध्यात्मवाद मे विश्वास करनेवाले कवि पन्त रोग का कारण जड़वाद को मानते हैं। स्वप्न, कल्पना, अन्त साधना आदि की भूल-भुलैयो मे भटकनेवाला छायावादी कवि जड़वाद का उन्मूलन करने के लिए किसी सक्रिय उपाय को नहीं सोच पाता। उसकी फूल से भी सुकुमार चेतना 'स्वप्न' और 'कल्पना' के द्वारा रोग के उपचार की कल्पना करके शांत हो जाती है। 'इन्दु' और 'ज्योत्स्ना' के कथोपकथन के द्वारा पतजी अपने विचारो को व्यक्त करते हैं जिसका कुछ अंश उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा।

"ज्योत्स्ना—""मै देख रही हूँ, नाथ ! मर्त्य-लोक से मानवी भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन है, एकदम दुर्लभ हो गए हैं। पशु-बल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाए हैं। ·· विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादो की व्योम-चुम्बी भित्तियो से अनेक संकीर्ण काराओ मे विभक्त होगया है, जिनके शिखर पर, दिनरात, विनाश के बादल धुआंधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ मे पड़कर, ससार की सभ्यता ने, मनुष्य-जाति के उन्मूलन के लिए, सहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी !""[1]

"इन्दु—संसार की समस्या का तुमने जो निदर्शन किया, वह सत्य है, रानी ! ·· मनुष्य-जाति के भाग्य का रथ-चक्र, इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितो के बीच बढ़ते हुए भेद-भावो की दुरंत खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के लिए मुँह बाए हुए है। मनुष्य के आत्मज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु मे लुप्त हो गया है। और, सभ्य जातियाँ इन्द्रिय-परायणता की मृग-तृष्णा मे भटककर सन्देहवादिनी हो गई हैं।"[2]

कवि ने समाज को जिस रूप में देखा है उसमें और दिनकर के

१—ज्योत्स्ना, पृ० २८-२९।

२—ज्योत्स्ना, पृ० २९-३०।

वर्तमान अवस्था के चित्रण में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। भविष्य द्रष्टा कवि पंत ने सन् १९३३-३४ में 'विनाश के बादलों' को 'विश्व के विशाल आँगन' में मँडराता हुआ देखा था और एक-दो वर्ष पश्चात् ही गत विश्वयुद्ध के रूप में वे पृथ्वी पर टूट पड़े। उसका अनुमान सत्य निकला। आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के विषय मे भी कवि की बात उतनी ही सत्य प्रमाणित हो रही है। सन्देह और अविश्वास के कारण आज भी भीषणतर विश्वयुद्ध का सकट प्रत्येक क्षण हमारे सम्मुख उपस्थित है। किन्तु प्रगतिवादी कवि उस संकट का अनुभव करके स्वप्नलोक में पलायन नही करता अपितु विश्वास के साथ युद्ध करने का सकल्प करता है।

पत जी की 'सम्राज्ञी ज्योत्स्ना' समाज की कुत्सा का अत करने के लिए 'स्वप्न' और 'कल्पना' का आवाहन करती है। 'मनुष्य का हृदय अधिक उज्ज्वल बनाने' के लिए वह 'उसे जडता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसित'[1] करने के लिए प्रेरित करना चाहती है। स्वप्न और कल्पना किस प्रकार इस उद्देश्य की पूर्ति करेंगे, यह भी 'स्वप्न' के शब्दो में ही सुनिए—

"स्वप्न—मनुष्य-जाति को सदैव से सौन्दर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसद रहा है। · मनुष्य सत्य की ओर आँख उठाने मे डरता ही नहीं, एकदम नग्न-सत्य को देख सकने में असमर्थ भी है। सम्राज्ञी का मनोरथ सहज ही मे सिद्ध हो जाय, यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक, सूक्ष्म और मार्जित छलना की सृष्टि कर दी जाय ·।"[2]

पतजी ने 'स्वप्न' के शब्दो मे मानव मनोविज्ञान का जो दिग्दर्शन किया है वह मानवमात्र के लिए भले ही सत्य न हो छायावादी कवियों की मानसिक अवस्था के विषय मे तो अक्षरश सत्य है। नग्न वास्तविकता का सामना करने मे असमर्थ छायावादी कवि अपने अहं की तुष्टि के लिए एक-से-एक अधिक मादक, मोहक, सूक्ष्म और

मार्जित कल्पना-जगत् का सृजन करता है किन्तु जीवन की वास्तविकताओं को आँख खोल कर नहीं देख पाता। प्रगतिवादी कवि जीवन की वास्तविकताओं को नग्न रूप में देखता है, उनका समाधान खोजता है और विषमताओं का विनाश करने का साहस एवं उत्साह प्रकट करता है। दोनों युगों की चेतना में यही अन्तर है।

(ग) जीवन-दर्शन—

प्रगतिवादी कवि का जीवन-दर्शन आशावादी जीवन-दर्शन है। कवि को (i) मनुष्यता में विश्वास है, (ii) जीवन और जगत् को वह स्वीकार करता है, अतएव (iii) कर्मण्यता का आदर करता है। समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान प्रगतिवादी कवि का चरम जीवन-आदर्श है।

(i) मनुष्यता में विश्वास—

प्रगतिवादी कवि मनुष्यता और उसकी प्रगति में अटूट विश्वासी है। वह मानव-समाज की प्रगति सतयुग से कलियुग की ओर नहीं मानता। उसका विश्वास है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ मनुष्य अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता हुआ चला जा रहा है—

उठता-गिरता शिखर-गर्त दोनों से पूरित पथ पर,
कभी विरथ चलता मिट्टी पर, कभी पुण्य के पथ पर,
करता हुआ विकट रण तम से पापी-पश्चात्तापी,
किरण-देश की ओर चला जा रहा मनुष्य प्रतापी।[1]

× × ×

"रण में प्रवृत्त रागप्रेरित मनुष्य होता,
रहती विरक्त किन्तु, मानव की मति है;
मन से कराहता मनुष्य, पर, ध्वंस-बीच,
तन से नियुक्त उसे करती नियति है;

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ६८।

"प्रतिशोध से हो हत वासना हँसाती उसे,
मन को कुरेदती मनुष्यता की क्षति है ;
वासना-विराग, दो कगारों में पछाड़ खाती,
जा रही मनुष्यता बनाती हुई गति है।"[1]

कवि निराशावादी बनकर मानव-स्वभाव के केवल दोष-दर्शन ही नहीं करता है अपितु उसकी दुर्बलता और सबलता दोनो का विवेचन करके मनुष्य की सद्वृत्तियों का प्रोत्साहित करना चाहता है। मनुष्य की सद्वृत्तियों में उसे विश्वास है—

"सच है, मनुज बड़ा पापी है, नर का वध करता है,
पर, भूलो मत मानव के हित मानव ही मरता है।

× × ×

"मत सोचो दिन-रात, पाप में मनुज निरत होता है,
हाय पाप के बाद वही तो पछताता, रोता है।[2]

× × ×

"लोभ, द्रोह, प्रतिशोध, वैर, नरता के विघ्न अमित हैं,
तप, बलिदान, त्याग के सबल भी न किन्तु, परिमित हैं।
प्रेरित करो इधर प्राणी को निज चरित्र के बल से,
भरो पुण्य की किरण प्रजा में अपने तप निर्मल से।"[3]

भीष्म द्वारा धर्मराज को दिया गया उक्त उपदेश कवि का पाठकों को आशावादी उपदेश है। कवि निराशावादी की भाँति मानव की दुर्प्रवृत्तियों का अतिरंजित चित्र उपस्थित करके मानव-चरित्र के प्रति निराशा उत्पन्न नहीं करना चाहता और न मनुष्य की कुत्सा को व्यक्त करके अपने पाठकों को आत्मकेन्द्रित बनाना चाहता है। समाज के मनस्वियों से वह आशा करता है कि वे अपने चरित्र के बल से समाज को 'लोभ, द्रोह, प्रतिशोध' आदि से संयम और आत्मत्याग की ओर उन्मुख करेंगे। कवि सामाजिक जीवन से पलायन करने की बात तो एक क्षण के लिए भी नहीं सोचता।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १०० ।

(ii) जीवन और जगत् की स्वीकृति—

प्रगतिवादी कवि का जीवन-दर्शन भौतिकवादी अथवा जड़वादी दर्शन अवश्य है किन्तु उसे भोगवादी कभी नहीं कहा जा सकता। जीवन और जगत् की वास्तविकता मे विश्वास करने पर भी वह निष्क्रिय भोगो को जीवन के लक्ष्य के रूप मे कभी स्वीकार नहीं करता। उसकी चेतना समाजवादी चेतना है अत वह जीवन और जगत् के विषय में ऐसी किसी वात से समझौता करने के लिए प्रस्तुत नहीं है जो सामाजिक जीवन का परित्याग, निष्क्रियता, अकर्मण्यता, उदासीनता आदि समाज-विरोधी भावनाओ को प्रोत्साहित कर सके। समाज की भलाई के लिए किया गया तप, त्याग, आत्मवलिदान उसे सब स्वीकार हैं किन्तु सामाजिक जीवन से पलायन करके निर्भ्रान्त एकान्त का सेवन उसकी दृष्टि मे एक निन्द्य कर्म है।

कुरुक्षेत्र का दारुण दृश्य देखकर महाराज युधिष्ठिर ने पितामह भीष्म के सम्मुख निर्जन वन मे पलायन करने की इच्छा प्रकट की थी। भीष्म पितामह उसी इच्छा का परित्याग कराने के हेतु युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं—

"धर्मराज, सन्यास खोजना कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियॉ सुलझाना जीवन की।
दुर्लभ नहीं मनुज के हित, निज वैयक्तिक सुख पाना,
किन्तु कठिन है कोटि-कोटि मनुजों को सुखी बनाना।
एक पन्थ है, छोड़ जगत् को अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ।
अपर पन्थ है, औरों को भी निज विवेक-बल देकर,
पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से साथ बहुत को लेकर।

× × ×

"निज को ही देखो न युधिष्ठिर ! देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में निरत, व्यग्र जन-जन को।"[1]

समष्टि-कल्याणहित व्यक्तिगत स्वार्थों के परित्याग का आदर्श द्विवेदी-युग और प्रगतिवादी युग मे एक-सा व्यक्त हुआ है क्योंकि दोनो युगों

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ११६-१२०।

की चेतना समष्टिवादी चेतना है। दोनों युगों के कलाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज को कुछ सन्देश देना चाहते हैं। 'प्रियप्रवास' के रचयिता हरिऔध की अधोलिखित पंक्तियों की तुलना दिनकर की उपर्युक्त भावनाओं से सुगमतापूर्वक की जा सकती है। कृष्ण राधिका को सन्देश भेजते हैं—

"जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है॥

× × ×

"है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स-रुचि जिसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म-उत्सर्ग-द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसी का॥"[1]

दोनों युगों की चेतना में मौलिक अन्तर केवल इतना है कि द्विवेदी-युग की चेतना राष्ट्रीय चेतना थी जबकि प्रगतिवादी युग की चेतना वर्ग चेतना है।

दिनकर ने भीष्म पितामह के शब्दों में उन सभी विचारों का खण्डन किया है जो प्रगति-विरोधी हैं अथवा जो जगत् और जीवन से विरक्ति उत्पन्न करते हैं। कवि का प्रहार (अ) भाग्यवाद और (आ) मोक्षवादी विचारों पर विशेष रूप से हुआ है।

(अ) भाग्यवाद पर प्रहार—

कवि भाग्यवाद का केवल अकर्मण्य बनानेवाला विचार ही नहीं मानता, उसकी पृष्ठभूमि में शोषण का समर्थन भी पाता है। अतः भाग्यवाद का बड़े विस्तार के साथ खण्डन करता है जिसका एक अंश उपस्थित कर देना पर्याप्त होगा—

"ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने अपने भुजबल से ही पाया है।

१—'प्रियप्रवास' पृ० २६३—२६४।

"ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा करते निरुद्यमी प्राणी,
धोते वीर कु-अंक भाल का वहा भ्रुवों से पानी।
भाग्यवाद आवरण पाप का और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दवा एक जन भाग दूसरे जन का।"[1]

भाग्यवाद का खण्डन करके कवि साम्यवाद को उपस्थित करता है—

"नर-समाज का भाग्य एक है, वह श्रम, वह भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई पृथिवी, विनीत नभ-तल है;
जिसने श्रम-जल दिया उसे पीछे मत रह जाने दो,
विजित प्रकृति से सबसे पहले उसको सुख पाने दो।
जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है, वह मनुज मात्र का धन है,
धर्मराज, उसके कण-कण का अधिकारी जन-जन है।"[2]

(आ) मोक्षवादी विचारों पर प्रहार—

मोक्षवादी विचार जगत् की अनित्यता, जीवन की नश्वरता आदि ऐसी भावनाओं पर आश्रित हैं जो मनुष्य को सामाजिक कर्तव्यों से उदासीन बना देती हैं। संसार को मिथ्या समझनेवाला व्यक्ति कर्मक्षेत्र से निराश होकर आत्मा में आनन्द खोजने लगता है। बौद्ध जैसा निराशावादी दर्शन मनुष्य के अस्तित्व को दीपक के प्रकाश की भाँति शून्य में विलीन कर देने का उपदेश देता है। प्रगतिवादी कवि इन वैराग्य अथवा सन्यासवादी विचारों को प्रगतिविरोधी, अकर्मण्य और निकृष्ट मानता है। उसके विचार से समष्टि-कल्याण के लिए जीवन-पर्यन्त अनासक्त भाव से कर्म करना जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। कवि ने मोक्षवादी विचारों का तीव्र और विशद खण्डन किया है। उसकी विचारधारा भौतिक जगत् और जीवन पर केन्द्रित है। नामरूपात्मक जगत् और जीवन से परे किसी अचिन्त्य, अननुभूत और अगोचर जगत् में उसका विश्वास नहीं है। कवि की विचारधारा का अवलोकन कवि के शब्दों में ही करिए—

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १०६–१०७।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० १०८–१०६।

(१) विरक्तिवादी ज्ञानियो का जगत् कल्पना का जगत् है, मनुष्य का कर्म लोक नहीं है—

"कर्म-लोक से दूर पलायन-कुञ्ज बसा कर अपना,
निरी कल्पना में देखा करता अलभ्य का सपना।
वह सपनों का देश, कुसुम ही कुसुम जहाँ खिलते हैं,
उड़ती कहीं न धूल, न पथ में कण्टक ही मिलते हैं।

× × ×

"उस विरक्त से पूछो, मन से वह जो देख रहा है,
उस कल्पना-जनित जग का भू पर अस्तित्व कहाँ है ?
कहाँ वीथि है वह, सेवित है जो केवल फूलों से ?
कहाँ पन्थ वह, जिसपर छिलते चरण नहीं शूलों से ?
कहाँ वाटिका वह, रहती जो सतत प्रफुल्ल, हरी है ?
व्योम-खण्ड वह कहाँ, कर्म-रज जिसमें नहीं भरी है ?"[1]

(२) विरक्तिवादियो का ज्ञानोपदेश मिथ्या और पाखण्ड है—

"कर्मनिष्ठ नर की भिक्षा पर सदा पालते तन को,
अपने को निर्लिप्त, अधम बतलाते निखिल भुवन को।
कहता फिरता सदा, जहाँ तक दृश्य वहाँ तक छल है,
जो अदृश्य, जो अलभ, अगोचर, सत्य वही केवल है।
मानों, सचमुच ही मिथ्या हो कर्मक्षेत्र यह काया,
मानों पुण्य-प्रताप मनुज के सचमुच ही हो माया,
मानों, कर्म छोड़ सचमुच ही मनुज सुधर सकता हो,
मानों, वह अम्बर पर, तजकर भूमि, ठहर सकता हो।

× × ×

"गंध, रूप, रस, शब्द, स्पर्श मानों, सचमुच पातक हों,
रसना, त्वचा, घ्राण, दृग, श्रुति ज्यों मित्र नहीं, घातक हों।
मुक्ति-पथ खुलता हो मानों, सचमुच आत्म-हनन से,
मानों, सचमुच ही जीवन हो सुलभ नहीं जीवन से।

× × ×

"निहित न होता भाग्य मनुज का यदि मिट्टी नश्वर में,
चित्र-योनि वर मनुज जनमता स्यात्, कहीं अम्बर में—

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १२५–१२६।

"किरणरूप, निष्काम, रहित हो क्षुधा-तृषा के दल से,
कर्म बन्ध से मुक्त, हीन दृग, श्रवण, नयन, पद भुज से।[१]"

(३) विरक्ति मनुष्य की अकर्मण्यता है—

"भ्रमा रही तुमको विरक्ति जो, वह अस्वस्थ, अबल है,
अकर्मण्यता की छाया है, वह निरे ज्ञान का छल है।
बचो युधिष्ठिर, कहीं डुबो दे तुम्हें न यह चिन्तन में,
निष्क्रियता का धूम भयानक भर न जाय जीवन में।
यह विरक्ति निष्कर्म बुद्धि की ऐसी क्षिप्र लहर है,
एक बार जो उड़ा, लौट सकता न पुनः वह घर है।"[२]

(४) विरक्ति जीवन से कुत्सित पलायन है—

"जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो निकल भागना वन में,
धर्मराज, है घोर पराजय नर की जीवन-रण में।
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है,
निःश्रेयस् यह श्रमित, पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है।

× × ×

"धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का पथ सन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।
ग्रहण कर रहे जिसे आज तुम निर्वेदाकुल मन से,
कर्म-न्यास वह तुम्हें दूर ले जायेगा जीवन से।"[३]

(५) विरक्ति जीवन को नीरस और निकम्मा बना देनेवाली बीमारी है—

"यह अनित्य कह-कह, कर देती स्वादहीन जीवन को,
निद्रा को जागर्ति बताती, जीवन अचल मरण को।
सत्ता कहती अनस्तित्व को और लाभ खोने को,
श्रेष्ठ कर्म कहती निष्क्रियता में विलीन होने को।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १३४, १३५, १३६।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० १२८।
३—कुरुक्षेत्र, पृ० १२४ और १२७।

कहती सत्य उसे केवल जो कुछ गोतीत, अलभ है,
मिथ्या कहती उस गोचर को जिसमें कर्म सुलभ है।

× × ×

"हर लेती आनन्द-हास कुसुमों का यह चुम्बन से,
और प्रगतिमय कम्पन जीवित,चपल तुहिन के कण से।
सुविकच,स्वस्थ,सुरम्य सुमन को मरण-भीति दिखला कर,
करती है रस-भंग, काल का भोजन उसे बता कर।
श्री, सौन्दर्य, तेज, सुख सबसे दीन बना देती है,
यह विरक्ति मानव को दुर्बल दीन बना देती है।"[1]

विरक्ति, वैराग्य, सन्यास आदि भौतिक जीवन का निषेध करनेवाली प्रवृत्तियो का खण्डन करने से भारतीय दर्शन के निराशावादी विचारो का स्वत खण्डन हो जाता है। कवि मिथ्यावाद, जीवन की अनित्यता आदि उन सभी विचारो को निष्क्रिय, सारहीन, पलायनवादी और निकृष्ट सिद्ध करता है जो जीवन से विरक्ति उत्पन्न करके मनुष्य को सामाजिक जीवन का परित्याग करने को प्रोत्साहित करती हैं। मोक्षवादी विचारो के खण्डन के साथ-साथ छायावादी युग की उन सभी निराशावादी प्रवृत्तियों का खण्डन हो जाता है जिनकी अभिव्यक्ति छायावादी कवियों ने आत्मकेन्द्रित अवस्था में की थी। हमारे सामाजिक जीवन का ह्रास और सांस्कृतिक अध पतन का एक कारण दार्शनिक निराशावाद भी रहा है। भारतीय सामाजिक जीवन में मिथ्यावाद, दु खवाद आदि निराशावादी विचारो का प्राबल्य हमारे सांस्कृतिक अध पतन और राजनीतिक पराधीनता के युग में ही विशेषरूप से हुआ है। आज जब भारतवर्ष अपनी राजनीतिक पराधीनता की शृङ्खला को विच्छिन्न करके भौतिक समृद्धि और सामाजिक जीवन के नवनिर्माण मे व्यस्त है तब मोक्षवादी विचार कुछ मुमुक्षुओ को आकर्षित भले ही कर सकें सामाजिक जीवन मे उनका कोई स्थान नहीं रह गया है। अत उन पर कठोरतम प्रहार करना ही सामाजिक उत्थान के लिए श्रेयस्कर होगा। अतएव 'कुरुक्षेत्र' को हम मार्क्सवादी विचारो का समर्थक और प्रचारक होने के नाते ही संकुचित अर्थ मे प्रगतिवादी काव्य नहीं कह सकते, सामाजिक जीवन

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १२८, १२९ और १३०।

को प्रगत्युन्मुख करने की दृष्टि से भी 'कुरुक्षेत्र' प्रगतिशील महाकाव्य है। 'कुरुक्षेत्र' का कवि किसी ऐसे विचार से किसी भी रूप मे समझौता करने को प्रस्तुत नहीं है जो जीवन और जगत् को अस्वीकार करके कर्मवृत्ति को कुण्ठित करनेवाला है। जीवन का निषेध करनेवाले विचारो के खण्डन मे जीवन और जगत् की स्वीकृति अपने आप हो जाती है। जो प्रत्यक्ष सत्य है उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(iii) कर्मण्यता का आदर—

कुरुक्षेत्र का गायक कर्मण्यता का गायक है। युद्ध-क्षेत्र मे वह पाँव रोप कर लड़ने का आदर करता है और जीवन-क्षेत्र मे परिस्थितियो से संघर्ष करने का। उपनिषद् के ऋषियो की भाँति जीवन-पर्यन्त 'कर्म करते हुए जीना'[1] ही उसका जीवनादर्श है। यदि वह भाग्यवाद या मोक्षवाद का खण्डन करता है तो केवल इसीलिए कि भाग्य मे विश्वास और संसार से विरक्ति मनुष्य को कर्मण्य नहीं बना रहने देती। जीवन से ग्लानि एव उदासीनता को वह पराजित मनोवृत्ति मानता है जो त्याग और निर्वेद के व्याज से मनुष्य को जीवन से पलायन करने के लिए प्रोत्साहित करती है। अत. 'कुरुक्षेत्र' के कवि के लिए संसार का परित्याग वीरता, आत्म-विजय, पुरुषार्थ अथवा दिव्यज्ञान नहीं है अपितु कायरता, आत्म-पराजय, निकम्मापन एवं आत्म-वंचना है। जीवन की प्राप्ति जीवन का परित्याग करने मे नहीं होती। जीवन की सफलता मिट्टी का परित्याग. (जगत् का निषेध) करके आकाश मे (शून्य मे) उड़ने से नहीं मिलती है। जीवन का श्रेय, सफलता और सार्थकता न मोक्षवादी विचारो को स्वीकार करने मे है और न निष्क्रिय भोग-भावना मे लिप्त होने मे। जीवन की सार्थकता केवल निष्काम भाव से समष्टि-कल्याण के लिए आजीवन कर्म करते रहने में ही है। इस प्रकार के अनेक तर्कों के द्वारा कवि निराशावादी विचारो पर निर्मम प्रहार करके अपने पाठको के सम्मुख आशावादी जीवन-दर्शन प्रस्तुत करता है। सन्यासी और कर्मयोगी के तुलनात्मक चरित्र-चित्रण के द्वारा कवि कर्मण्यता की सबल अभिव्यंजना करता है। कतिपय उद्धरणों के द्वारा उसकी विचारधारा स्पष्ट हो सकेगी।

१—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। ईशावास्योपनिषद्, २।

(१) जीवन और जगत् कर्मयोगी के लिए सार्थक हैं, सन्यासी के लिए नहीं हैं—

"मही नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से,
जीवित है वह उसे फूँक सोना करने वालों से।
ज्वलित देख पचाग्नि, जगत् से निकल भागता योगी,
धुनी बनाकर उसे तापता अनासक्त रस-भोगी।"[1]

× × ×

"जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो उससे डरते हैं।
वह उनका, जो चरण रोप, निर्भय होकर लड़ते हैं।"[2]

(२) कर्मयोगी का ही जीवन सफल है, सन्यासी का निष्फल है—

"अकर्मण्य पण्डित हो जाता अमर नहीं रोने से,
आयु न होती क्षीण किसी की कर्म-भार ढोने से।
इतना भेद युधिष्ठिर! दोनों में अवश्य होता है,
हँसता एक मृत्ति पर, नभ में एक खड़ा रोता है।"[3]

(३) सन्यासी की आत्मविजय कर्मयोगी को सुलभ है किन्तु कर्मयोगी का आत्मतोष सन्यासी के लिए दुर्लभ है—

"बाहर नहीं शत्रु, छिप जाये जिसे छोड़ कर वन में,
जाओ जहाँ, वहीं पाओगे इसे उपस्थित मन में।
पर, जिस अरि को यती जीतता जग से बाहर जाकर,
धर्मराज, तुम उसे जीत सकते जग को अपनाकर।

× × ×

"और जिसे पा कभी न सकता सन्यासी, वैरागी,
जग में रहकर हो सकते तुम उस सुख के भी भागी।
वह सुख, जो मिलता असख्य मनुजों को अपना हो कर,
हँसकर उनके साथ हर्ष में और दुःख में रो कर।
वह, जो मिलता भुजा पगु की ओर बढ़ा देने से,
कन्धों पर दुर्बल दरिद्र का भार उठा लेने से।"[4]

१—कुरुक्षेत्र, पृ० ६७।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० १२३।
३—कुरुक्षेत्र, पृ० १२२-२३।
४—कुरुक्षेत्र, पृ० १३७-३८।

(४) कर्मयोगी विश्व को भव्यतर बनाकर जाता है. संन्यासी आजीवन भटकता रहता है—

"होता विदा जगत से, जग को कुछ रमणीय बनाकर,
साथ हुआ था जहाँ, वहाँ से कुछ आगे पहुँचाकर ।
और दूसरा कर्महीन चिन्तन का लिए सहारा,
अम्बुधि में निर्वान खोजता फिरता विफल किनारा ।"[1]

संन्यासी और कर्मयोगी की तुलना के द्वारा कवि कर्मवाद की प्रतिष्ठा करता है और विरक्तिवादी विचारो का खण्डन करता है। कर्मवाद की इतनी सबल अभिव्यक्ति हिन्दी-काव्य मे अन्यत्र पाना दुर्लभ है। अत आनन्द कौशल्यायन की यह उक्ति कि 'कुरुक्षेत्र नये युग की नई गीता है।'[2] बहुत कुछ सार्थक है। कर्म का सर्वथा परित्याग मनुष्य-जीवन मे कभी सम्भव नहीं, इस सत्य का समर्थन 'गीता' और 'कुरुक्षेत्र' दोनो एक ही स्वर से करते हैं—

"कर्मभूमि है निखिल महीतल, जब तक नर की काया,
जब तक है जीवन के अणु-अणु में कर्त्तव्य समाया ।
क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज कैसे निज सुख पायेगा ?
कर्म रहेगा साथ, भाग वह जहाँ कहीं जायेगा ।"[3]

—कुरुक्षेत्र

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥[4]

—गीता

(iv) समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान जीवन का चरम लक्ष्य है—
कवि का जीवन-दर्शन भौतिकवादी दर्शन है। वह अनित्य जीवन

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १२३ ।
२—देखिए—कुरुक्षेत्र का कवर 'हिन्दी जगत में कुरुक्षेत्र का सम्मान ।'
३—कुरुक्षेत्र, पृ० १२७ ।
४—श्रीमद्भगवद्गीता ३।५ और ३।८ ।

और भौतिक जगत् के परे किसी नित्य जीवन और आध्यात्मिक जगत् की कल्पना में नही भटकता। किन्तु, आजकल भौतिकवादी दर्शन की जो व्याख्या की जाती है उसका अभिप्राय जीवन के सुखों के उपभोग से रहता है। 'जब तक जिओ सुख से जीओ, ऋण लेकर घृत पियो' अथवा 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ क्योंकि कल हमको मरना है' जैसी निकृष्ट भोगवादी उक्तियाँ भौतिकवादी अथवा जड़वादी दर्शन का मूलमन्त्र मानी जाती हैं। इसमें सन्देह नही कि भौतिकवादी होने के नाते कवि लौकिक सुखो को दु ख, पाप, मिथ्या और त्याज्य कभी नही मानता। अपनी भुजाओं के द्वारा अर्जित भोगो के उपभोग को वह सार्थक एव श्रेयस्कर मानता है किन्तु निकृष्ट भोगलिप्सा का आरोप उसके जीवन-दर्शन पर करना अन्याय होगा। त्याग और संयम के मूल्य कवि को मान्य हैं। उसने आत्म-सयम को उतना ही श्रेष्ठ माना है जितना कर्म के द्वारा भोगो की प्राप्ति को। युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म सयम और त्याग का महत्वाङ्कन करते हैं—

"भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को दाग न लगने पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाये।
और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।
मन का होगा आधिपत्य जिस दिन मनुष्य के तन पर,
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन भोगलिप्त जीवन पर।

× × ×

"उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शख ध्वनित मानव की महाविजय का।"[1]

त्याग और सयम का महत्व अध्यात्मवादी और प्रगतिवादी दोनो स्वीकार करते हैं किन्तु दोनो की त्याग-भावना के कारण पृथक्-पृथक् हैं। अध्यात्मवादी भोगो को क्षणिक, मिथ्या एव जीवन-मरण के चक्र का वन्धन मानकर उनके परित्याग का उपदेश देता है। प्रगतिवादी समष्टि-कल्याण की दृष्टि से व्यक्तिगत भोग-लिप्सा को सीमित रखना चाहता है। भोग-लिप्सा के शमन को ही वह जीवन का लक्ष्य नहीं वनाना चाहता।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १४२, १४३ और १४४।

परोपकार, लोक-कल्याण आदि की भावनाएँ भारतीय जीवन-दर्शन के लिए नवीन विचार नहीं हैं। स्वयं भगवान् का अवतार लोक-कल्याण—'भंजन भुमि भारा'—के लिए हुआ करता है। यह हमारा परम्परागत विश्वास है। तुलसी जब 'परहित सरिस धरम नहिं भाई' का उपदेश देते हैं तब उनके धर्म की व्याख्या मे समष्टि-कल्याण की ही भावना निहित रहती है। किन्तु, इस परोपकार की भावना की पृष्ठभूमि मे आत्म-कल्याण की भावना छिपी रहती है। त्याग, तप, अहिंसा, सेवा आदि भावनाएँ स्वयं अपने में पूर्ण न होकर आत्म-कल्याण का साधन समझी जाती हैं। अतः लोक-सेवा या समष्टि-कल्याण अपने में साध्य न रहकर आत्म-कल्याण का साधन बन जाता है। प्रगतिवादी जीवन-दर्शन मे समष्टि-कल्याण ही जीवन का चरम लक्ष्य है—साध्य है, साधन नहीं है। अध्यात्मवाद में आस्था न रखने के कारण प्रगतिवादी कवि आत्म-कल्याण की बात तो सोचता ही नहीं। भौतिकवादी होने के कारण वह भौतिक जगत् और जीवन के परे किसी समस्या के विषय मे न सोचता है और न विश्वास करता है। आधुनिक काव्य मे द्विवेदी-युग के अतिरिक्त समष्टि-कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति इतनी विशदता से अन्यत्र नहीं हुई।

समष्टि-कल्याण के लिए जीवन-अर्पण करने की भावना 'कुरुक्षेत्र' के जीवन-दर्शन की केन्द्रीय भावना है जिसकी अभिव्यक्ति कवि ने प्रत्येक प्रसंग मे की है। आत्म-ग्लानि और निर्वेद के भार से दबे हुए युधिष्ठिर को भीष्म पितामह का निम्नोद्धृत अन्तिम उपदेश बड़े ही मार्मिक शब्दो मे समष्टि-कल्याण की प्रेरणा देता है—

"जाओ, शमित करो निज तप से नर के रागानल को,
बरसाओ पीयूष, करो अभिषिक्त दग्ध अम्बर को।

× × ×

"पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ, वन में नहीं भुवन में,
होओ खड़े असख्य नरों की आशा बन जीवन में।
बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हे आर्त हो मही समर-सभीता।
इस विविक्त, आहत वसुधा को अमृत पिलाना होगा,
अमित लता-गुल्मों में फिर से सुमन खिलाना होगा।

हरना होगा अश्रु-ताप हत-बन्धु अनेक नरों का,
लौटाना होगा सुहास अगणित विषण्ण अधरों का।"[1]

समष्टि-कल्याण की इन्हीं भावनाओं के साथ 'कुरुक्षेत्र' के कथानक की समाप्ति होती है। निष्काम भाव से लोक-कल्याण अथवा मानव-सेवा को ही कवि ने जीवन का श्रेष्ठ आदर्श माना है। कवि की दृष्टि में 'मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु'[2] ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। अस्तु।

'कुरुक्षेत्र' की प्रत्येक पंक्ति निराशावाद का तीव्र विरोध करके आशावाद की अभिव्यक्ति करती है। चाहे युद्ध की समस्या पर विचार किया जा रहा हो, वर्तमान सामाजिक स्थिति की समीक्षा की जा रही हो अथवा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा हो कवि अकर्मण्यता, कर्मक्षेत्र से पलायन अथवा पराजित भावनाओं को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करता। वह मनुष्य और उसकी सद्वृत्तियों के प्रति आशावान है और मानव-जीवन के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आस्थावान है। अपने महाकाव्य का अवसान वह अधोलिखित आशावादी पंक्तियों के साथ करता है—

"आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से ;
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से ;
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से ;
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"

आज के सन्देह, अनिश्चय, अस्थिरता और विश्व-युद्ध की सम्भावना के तिमिराच्छादित वातावरण में कवि का यह 'आशा का प्रदीप' एक महान आशावादी मनीषी की आशा का दीपक है जिससे अधिक प्रकाशवान दीपक की कदाचित् हम कल्पना नहीं कर सकते।

१—कुरुक्षेत्र, पृ० १४०।
२—कुरुक्षेत्र, पृ० ६४।

आधुनिक हिन्दी-काव्य मे 'कुरुक्षेत्र' से अधिक आशावादी महाकाव्य नहीं लिखा गया इस बात को निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। किन्तु, 'कुरुक्षेत्र' उस प्रगतिवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति करनेवाला महाकाव्य है जिसका आज साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रभावपूर्ण अधिकार है। अत हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आज काव्य में जो नवीनतम विचारधाराएँ प्रवाहित होरही हैं वे निराशावादी विचारों, भावनाओ और मनोवृत्तियों से सर्वथा रहित हैं।

युग की परिस्थितियो और वातावरण का कितना अधिक प्रभाव कवि-चेतना पर पड़ता है इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि छायावादी युग के कवि प्रसाद के हाथ में पड़कर मानव-समाज और मानव-धर्म की व्यवस्था करनेवाले हमारे आदि पुरुष वैवस्वत मनु को जीवन से पलायन करके शैव सामरस्य लोक मे आनन्द का साक्षात्कार करना पड़ा है और महाभारत के पश्चात् आत्म-ग्लानि के भार से दबकर हिमालय पर्वत के हिम-खण्डों मे अपने पाँचो भाई एवं पत्नी के साथ शरीर को गलाकर प्राण त्यागने वाले युधिष्ठिर को प्रगतिवादी कवि दिनकर के हाथ मे पड़कर 'कर्मभूमि के निकट प्रत्यागत होना पड़ा है।'[1] दोनों कथानकों के नायकों के इस रूप-विपर्यय को युग-प्रभाव न कहा जाय तो क्या समझा जाय? अस्तु। आधुनिक प्रबन्ध काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना अपने युग के आशावाद और निराशावाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति करती है। निराशावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति प्राय स्फुट कविताओ और गीतों के माध्यम से हुई है। एक 'कामायनी' के अतिरिक्त, जिसका अवसान भी दार्शनिक आशावाद में ही होता है, शेष महाकाव्य आशावादी भावो की ही अभिव्यक्ति करते हैं।

१—मिली युधिष्ठिर को यह आशा आखिर रोते-रोते,
आँसू के जल में अघोर अन्तर को धोते-धोते।
कर्मभूमि के निकट विरागी को प्रत्यागत पाकर,
बोले भीष्म युधिष्ठिर का ही मनोभाव दुहराकर।

कुरुक्षेत्र, पृ० ९८।

आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र' जैसे महाकाव्यों के अतिरिक्त कवियों ने छोटी-छोटी प्रबन्धात्मक रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। कुछ रचनाएँ निराशात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हैं अत प्रबन्ध काव्यों का अनुशीलन समाप्त करने के पूर्व उनका उल्लेख कर देना भी वांछित है। इन रचनाओ के निराशावाद की विशेषता यह है कि इनमें व्यक्त की गई दु खात्मक भावनाओं का सम्बन्ध कवि-चेतना अथवा युग-परिस्थितियों से स्थापित नही किया जा सकता। इनमें अभिव्यक्त आशा-निराशा का सम्बन्ध प्रबन्ध के पात्रो अथवा नायक-नायिकाओं के जीवन के घटना-चक्र है। ऐसे प्रबन्धों में जयशंकर 'प्रसाद' द्वारा रचित 'अशोक की चिन्ता' और 'प्रलय की छाया' जैसे ऐतिहासिक वृत्तान्तो को परिगणित किया जा सकता है। दोनो रचनाएँ 'लहर' (१६३५ ई०) मे सकलित हैं।

'अशोक की चिन्ता' कलिंग-युद्ध में किए गए भीषण नर-सहार की अशोक के हृदय पर निराशात्मक प्रतिक्रिया का चित्रण करती है। युद्ध-भूमि से आती हुई 'क्रन्दन-ध्वनि' सुनकर महाराज अशोक का हृदय क्षोभ और आत्म-ग्लानि से छटपटाने लगा। मृत्यु के ताण्डव नृत्य का साक्षात्कार करके वह जीवन की क्षणिकता और निस्सारता का अनुभव करने लगे। कलिंग-युद्ध की भीषणता उनको जीवन और जगत् से विरक्त बनाकर उनका (जीवन और जगत् का) निषेध करने को विवश करने लगी। एक निराशावादी की भाँति अशोक सोचने लगे—

जलता है यह जीवन-पतग
जीवन कितना ? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुज से कण-कण,
तृष्णा वह अनल शिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमग ?

× × ×

इस नील विशाल गगन में—
सुख चपला-सा दुख-घन में,

चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में—
उलझा है चचल मन-कुरग ।[1]

अशोक के हृदय की यह विरक्ति बौद्ध करुणा की भावना में परिणत हो जाती है—

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कटक मिलते है प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुण की तरग,
जलता है यह जीवन पतग ।[2]

अशोक की यह विरक्ति और बौद्ध धर्म की स्वीकृति इतिहास विश्रुत है। हम उसे कवि-कल्पना की उपज नहीं मान सकते। आधुनिक युग की परिस्थितियो से यदि इस प्रकार के निराशात्मक उद्गारो का सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य हो तो हम अधिक-से-अधिक यह यह सकते हैं कि छायावादी कवियो की निराशावादी मन.स्थिति ने उनको पश्चात्ताप, ग्लानि, क्षोभ आदि दु खात्मक अनुभूतियो की व्यजना करनेवाले ऐतिहासिक कथानकों पर लेखनी चलाने को प्रेरित किया है।

'अशोक की चिन्ता' की भॉति 'प्रलय की छाया' का कथानक भी ऐतिहासिक है। प्रबन्ध की नायिका कमला के निष्फल रूपभिमान और ग्लानिमय जीवन के विषाद का चित्रण मार्मिक शब्दो में किया गया है। किन्तु, कमला आधुनिक भारतीय नारी या उसके किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती और न हम यही कह सकते हैं कि कमला के शब्दो में व्यक्त की गई अनुभूतियाँ कवि की निराशावादी मनोवृत्ति की उपज हैं। रानी कमला के रूप के गर्व ने ही गुर्जर का विनाश करवाया, उसे वन्दिनी बनवाया और क्षत्राणी के भव्य आदर्श से च्युत करवाकर सुलतान अलाउद्दीन की अर्द्धाङ्गिनी बनने को विवश किया। और उसी

१—लहर—पृ० ४६ और ४८।
२—लहर—पृ० ५०।

रूप की जब उसके 'आजीवन दास' मटरू ने स्वयं सुलतान बनने के पश्चात् घोर भर्त्स्ना की तो कमला के हृदय में ग्लानि और पश्चात्ताप की संश्लिष्ट अनुभूति सौ-सौ विच्छुओं के डंक के समान मर्मान्तक पीड़ा उत्पन्न करने लगी। 'थके हुए दिन के निराश भरे जीवन की सध्या' अब कमला के नेत्रो के समक्ष 'प्रलय की छाया' का दृश्य समुपस्थित करने लगी। अस्तु। कमला के हृदय की निराशा उसके जीवन की परिस्थितियों की निराशा है जिसमे आधुनिक युग की परिस्थितियो का अथवा कवि-चेतना का कोई हाथ नहीं है। आधुनिक युग मे इस प्रकार के लघु प्रबन्ध अधिक नही लिखे गए। राष्ट्रीय भावनाओं और जातीय गौरव को उद्दीप्त करने के लिए आधुनिक कवियों ने राणा प्रताप, शिवाजी आदि ऐतिहासिक वीरो के उज्ज्वल जीवन-वृत्तान्तो और जौहर जैसे वीरतापूर्ण कृत्यों को ही प्राय अपने लघु प्रबन्धों का विषय बनाया है और उनके द्वारा वीरता, साहस, मान-मर्याद की रक्षा के लिये आत्म-त्याग, राष्ट्रीयता, देश-प्रेम आदि भावनाओं की विशद अभिव्यक्ति की है। कतिपय अपवादो को छोड़कर आधुनिक प्रबन्धात्मक काव्यो (Narratives) की परम्परा समाज को आशावादी भावनाओं का सन्देश देती रही है अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध उसकी समीक्षा को अपने विषय-क्षेत्र मे सन्निहित नहीं कर सका।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पेस्सिमिज्य	पेस्सिमिज्म	१	३
ऑप्टिमिज्य	ऑप्टिमिज्म	१	३
फिट्जेरेल्ड	फिट्जजेरल्ड	३	४
यूयासिया	यूयानासिया	४	२३
इम्मेमोरिम	इन मेमोरियम	८	३
प्रामाण्य	प्रमाण	१६	२२
नेर	नरे	२१	७
शाश्वत्	शाश्वत	२१	१६
स्कन्द	स्कन्ध	२७	२
परिवर्ती	परवर्ती	२९	१८
षड्शास्त्र	षट्शास्त्र	३३	१५
दुःखदाई	दुःखदायी	६८	८
गौवध	गोवध	७७	१२
विभुक्षित	बुभुक्षित	८१	२२
क्षत्री	क्षत्रिय	१२६	२१
असफलाजन्य	असफलताजन्य	२२४	८
अनित्य	नित्य	२७२	२
श्यामनरायण	श्यामनारायण	३४१	२०
जाग्रत	जागृत	३५८	१६
श्रीमद्भागवत्	श्रीमद्भागवत	३५९	१२
दशम्	दशम	३५९	२०
निगतिदा	निगदिता	३६३	२७
नवम्	नवम	३७३	२३
मनोभूतियों	मनोनुभूतियों	३७५	२४
निर्माण	निर्मोक	३८०	२८
वैयक्तित	वैयक्तिक	३८१	११
प्रतिद्वन्द्वता	प्रतिद्वन्द्विता	३८६	१७
दुर्मंवृत्तियों	दुष्प्रवृत्तियों	३८९	१२
दृष्टा	द्रष्टा	४०६	२
भुमि	भूमि	४१६	३
दृव्य	द्रव्य	क	५

रूप की जब उसके 'आजीवन दास' मटरू ने स्वयं सुलतान बनने के पश्चात् घोर भर्त्स्ना की तो कमला के हृदय मे ग्लानि और पश्चात्ताप की संश्लिष्ट अनुभूति सौ-सौ विच्छुओ के डक के समान मर्मान्तक पीड़ा उत्पन्न करने लगी। 'थके हुए दिन के निराश भरे जीवन की सध्या' अब कमला के नेत्रो के समक्ष 'प्रलय की छाया' का दृश्य समुपस्थित करने लगी। अस्तु। कमला के हृदय की निराशा उसके जीवन की परिस्थितियों की निराशा है जिसमे आधुनिक युग की परिस्थितियो का अथवा कवि-चेतना का कोई हाथ नही है। आधुनिक युग में इस प्रकार के लघु प्रवन्ध अधिक नही लिखे गए। राष्ट्रीय भावनाओं और जातीय गौरव को उद्दीप्त करने के लिए आधुनिक कवियो ने राणा प्रताप, शिवाजी आदि ऐतिहासिक वीरों के उज्ज्वल जीवन-वृत्तान्तो और जौहर जैसे वीरतापूर्ण कृत्यो को ही प्राय अपने लघु प्रवन्धों का विपय बनाया है और उनके द्वारा वीरता, साहस, मान-मर्याद की रक्षा के लिये आत्म-त्याग, राष्ट्रीयता, देश-प्रेम आदि भावनाओं की विशद अभिव्यक्ति की है। कतिपय अपवादो को छोड़कर आधुनिक प्रवन्धात्मक काव्यों (Narratives) की परम्परा समाज को आशावादी भावनाओ का सन्देश देती रही है अतएव प्रस्तुत प्रवन्ध उसकी समीक्षा को अपने विषय-क्षेत्र में सन्निहित नहीं कर सका।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पेस्सिमिज्य	पेस्सिमिज़्म	१	३
ऑप्टिमिज्य	ऑप्टिमिज़्म	१	३
फिट्ज़ेरेल्ड	फिट्ज़जेरल्ड	३	४
यूयासिया	यूथानासिया	४	२३
इन्मेमोरिम	इन मेमोरियम	८	३
प्रामाण्य	प्रमाण	१६	२२
नेर	नरे	२१	७
शाश्वत्	शाश्वत	२१	१६
स्कन्द	स्कन्ध	२७	२
परिवर्ती	परवर्ती	२९	१८
षड्शास्त्र	षट्शास्त्र	३३	१५
दुःखदाई	दुःखदायी	६८	८
गौवध	गोवध	७७	१२
विभुक्षित	बुभुक्षित	८१	२२
क्षत्री	क्षत्रिय	१२६	२१
असफलाजन्य	असफलताजन्य	२२४	८
अनित्य	नित्य	२७२	२
श्यामनरायण	श्यामनारायण	३४१	२०
जाग्रत	जागृत	३५८	१६
श्रीमद्भागवत्	श्रीमद्भागवत	३५९	१२
दशम्	दशम	३५९	२०
निगतिदा	निगदिता	३६३	२७
नवम्	नवम	३७३	२३
मनोभूतियों	मनोनुभूतियों	३७५	२५
निर्माण	निर्मोक	३८०	२८
वैवक्तित	वैयक्तिक	३८१	११
प्रतिद्वन्द्वता	प्रतिद्वन्द्विता	३८६	१०
दुर्प्रवृत्तियों	दुष्प्रवृत्तियों	३८९	१२
दृष्टा	द्रष्टा	४०६	२
भुमि	भूमि	४१९	३
दृष्टव्य	द्रष्टव्य	क	५